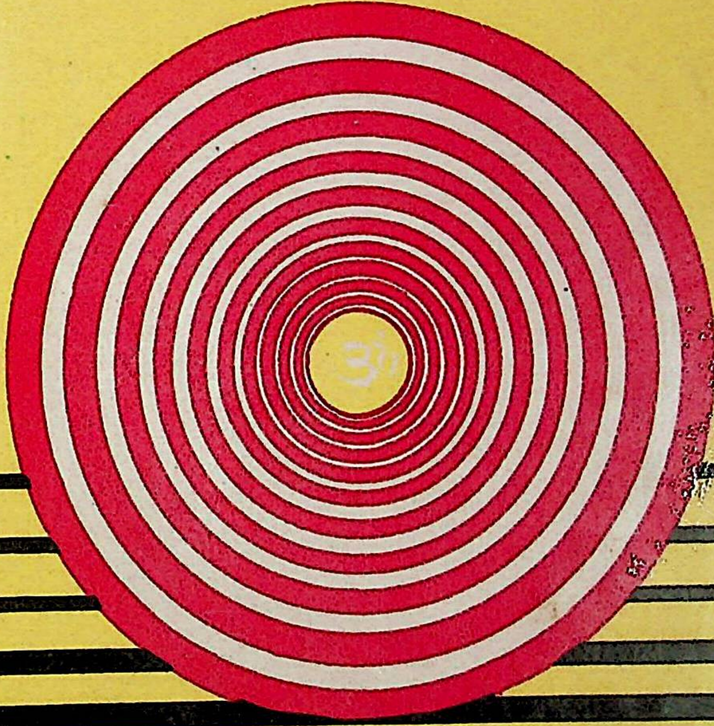
शब्दार्थमीमांसा

प्रणेता

डा॰ गौरीनाथ शास्त्री

अनुवादक

श्री मिथिलेश चतुर्वेदी



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

3.3



UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 14]

ŚABDĀRTHAMĪMĀṀSĀ

[The Philosophy of Word and Meaning]

By

DR. GAURINATHA SASTRI

Ex. Vice-chancellor

Sampurnanand Sanskrit University

Varanasi

HINDI TRANSLATOR

SRI MITHILESH CHATURVEDI

Reader, Sivaji College

Delhi University



VARANASI

1992

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.



Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



Available at—
Sales Department
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



First Edition, 1000 Copies
Price Rs. 100.00



Printed by—
Ratna Printing Works
B 21/42 A, Kamachha
Varanasi-221 010.

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[१४]

शब्दार्थमीमांसा

[भर्तृहरिदर्शन के विशिष्ट सन्दर्भ में कतिपय भारतीय मान्यताओं का विश्लेषण]

लेखक

डॉ० गौरीनाथ शास्त्री

भू० पू० कुलपति

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

मूल अंग्रेजी से अनूदित

अनुवादक

श्रीमिथिलेश चतुर्वेदी

रीडर, शिवाजी कालेज

दिल्ली विश्वविद्यालय



वाराणसी

२०४९ वैक्रमाब्द | १९१४ शकाब्द | १९९२ खैस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक—
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

□

प्रकाशक—
डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्राप्तिस्थान—
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्रथम संस्करण, १००० प्रतियाँ
मूल्य—१००-०० रूपये

□

मुद्रक—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी २१/४२ ए, कमच्छा
वाराणसी–२२१ ०१०.

प्ररोचना

अत्यन्त दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि "शब्दार्थमीमांसा" नामक ग्रन्थ आचार्य श्रीगौरीनाथ शास्त्री जी के निधन के अनन्तर प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इसके समस्त प्रूफ़ उन्होंने देख लिये थे। यह ग्रन्थ उनके शोधप्रबन्ध "दि फिलासफ़ी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग" का हिन्दी अनुवाद है। हिन्दी अनुवाद दिल्ली विश्वविद्यालय के रीडर डॉ० मिथिलेश चतुर्वेदी ने किया है। अनुवाद प्रसन्न और परिमार्जित भाषा में किया गया है। इसलिए यह भाषा विषय के अवगाहन में सहायक सिद्ध होती है, न कि बाधक। अनुवादक ने अपने वक्तव्य में कुछ महत्त्वपूर्ण अतिरिक्त सूचनाएँ दी हैं। स्व० शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ में जो स्थापनाएँ की हैं, वे आज भी ताजी एवं प्रासङ्गिक हैं। इन्हीं शब्दों के साथ मैं स्व० शास्त्री जी को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

हिन्दी-अनुवादक डॉ० मिथिलेश चतुर्वेदी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि उन्होंने अत्यन्त गहन एवं दुरूह अंग्रेजी भाषा के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को इस कृति में रूपान्तरित किया है। अतः मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्व० शास्त्री जी की यह कृति हिन्दी-भाषा के माध्यम से अपने सौरभ को बिखेरेगी।

वाराणसी
ऋषि-पंचमी
वि० सं० २०४९

विद्यानिवास मिश्र
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

समर्पण

मेरे पूज्य गुरु जी

महामहोपाध्याय हाराणचन्द्र शास्त्री

की

पावन स्मृति के प्रति

मूल ग्रन्थ का प्राक्कथन

प्रस्तुत कृति **द फिलॉसफी आफ वर्ड एंड मीनिंग** अध्ययनमाला का दूसरा प्रकाशन है।

लेखक इस अवसर पर अपने दो सुप्रतिष्ठित शिक्षकों का नाम-स्मरण अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता है, जिनके चरणों में उसे प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित कुछ आधारभूत ग्रन्थों के अध्ययन का दुर्लभ सौभाग्य मिला : स्व० **महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश** और स्व० **महामहोपाध्याय हाराणचन्द्र शास्त्री**। विशेष रूप से **म० म० हाराणचन्द्र शास्त्री** ने उसे नागेशभट्ट से लेकर अद्यतन प्राप्त पाणिनीय दर्शन से सम्बन्धित संस्कृत शास्त्र-परम्परा में दीक्षित किया। इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा **म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज**, एम. ए., डी. लिट्. से प्राप्त हुई। उनके स्नेहिल प्रोत्साहन और ग्रन्थ की प्रगति में उनकी सतत अभिरुचि ने लेखक को कृतज्ञतावश उनका ऋणी बना दिया है। लेखक **प्रोफेसर सातकड़ि मुकर्जी**, एम. ए., पी-एच. डी., निदेशक, नव नालन्दा महाविद्यालय के प्रति गहरी कृतज्ञता ज्ञापित करता है, जिनके सुयोग्य एवं प्रेरणाप्रद निर्देशन में यह कार्य सम्पन्न हुआ है।

लेखक इस अवसर पर अपने सम्मान्य सहयोगी **प्रोफेसर तारकनाथ सेन**, एम ए., प्रेसिडेंसी कालेज, कलकत्ता के प्रति निर्व्याज कृतज्ञता प्रकट करता है, जिन्होंने इस ग्रन्थ को आद्योपान्त देखा है। प्रोफेसर सेन के सहयोग और प्रोत्साहन के बल पर ही लेखक पुस्तक को इसके वर्तमान रूप में प्रस्तुत कर सका है। प्रूफ-संशोधन के लिए एवं प्रकाशन में गहरी रुचि लेने के लिए वह **प्रो० गोविन्दगोपाल मुकर्जी**, एम.ए., डी. फिल., सांख्यतीर्थ, **शिशिरकुमार मित्र**, एम. ए., एल. एल. बी., डी. फिल. एवं **गोपिकामोहन भट्टाचार्य**, एम. ए., न्यायतीर्थ का भी आभारी है।

इस पुस्तक के मुद्रण में रुचि लेने के लिए लेखक **श्री सरस्वती प्रेस** के **श्री जीवप्रिय गुहा** का भी धन्यवाद करता है।

संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता }
मई, १९५९ }

गौरीनाथ शास्त्री

अनुवादक का वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक प्रोफेसर गोरीनाथ शास्त्री की मूल अंग्रेजी पुस्तक **द फिलॉसफी ऑफ वर्ड एंड मीनिंग** का अनुवाद है। श्रद्धेय श्री शास्त्री की यह पुस्तक ३१ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी जिससे भर्तृहरिदर्शन के अध्येताओं का मार्ग प्रशस्त हुआ। लगभग बीस वर्ष पूर्व एम० ए० में वाक्यपदीय पढ़ते समय मुझे इस पुस्तक को पढ़ने का अवसर मिला जिससे मुझे न केवल **वाक्यपदीय** के मर्म को समझने में सहायता मिली अपितु उसके आगे अध्ययन में भी रुचि जाग्रत हुई। इसी के फलस्वरूप मैंने पी-एच.डी. के लिए अपना शोधप्रबन्ध **वाक्यपदीय** के **वृत्तिसमुद्देश** पर प्रस्तुत किया। इस प्रकार मैं कह सकता हूँ कि इस पुस्तक ने मुझे **वाक्यपदीय** के अध्ययन में दीक्षित किया। तभी से मेरी यह इच्छा थी कि यह पुस्तक हिन्दी में भी सामने आए।

आधुनिक दर्शन में शब्दार्थ की मीमांसा के प्रति बढ़ती जिज्ञासा के कारण भर्तृहरि के अध्ययन के प्रति भी विद्वानों की रुचि बढ़ी है और हाल में इस क्षेत्र में अनेक पुस्तकें व शोधप्रबन्ध सामने आए हैं। वाक्यपदीय और उसकी टीकाओं के आलोचनात्मक संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रोफेसर गोरीनाथ शास्त्री की पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व भी प्राचीन भाषा-दर्शन के विषय में शोध-निबन्ध सामने आते रहे किन्तु भर्तृहरि के दार्शनिक चिन्तन को एक समग्र एवं व्यवस्थित परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का यह प्रथम महनीय प्रयास था। दार्शनिक भाषा में भर्तृहरि के दर्शन के गम्भीर एवं प्रामाणिक विवेचन की दृष्टि से आज भी यह पुस्तक बेजोड़ है और **वाक्यपदीय** के प्रायः सभी गम्भीर अध्येताओं ने किसी न किसी प्रसंग में इसका उल्लेख अवश्य किया है।

मूल अंग्रेजी ग्रन्थ के आरम्भिक अध्यायों में प्रायः ही **वाक्यपदीय** के टीकाकार के रूप में पुण्यराज का उल्लेख हुआ है। आज प्रायः विद्वानों का यह मत है कि बनारस संस्करण में मुद्रित प्रथम काण्ड की टीका वास्तव में पुण्यराज की न होकर भर्तृहरि की स्वरचित वृत्ति का ही संक्षिप्त रूप है। अशोक अकलूजकर ने तो यह भी प्रतिपादित किया है कि द्वितीय काण्ड अर्थात् वाक्यकाण्ड की टीका भी, जिसे प्रायः पुण्यराज द्वारा रचित माना जाता है, वस्तुतः हेलाराज की है (चारुदेव शास्त्री फैलिसिटेशन वॉल्यूम, अंग्रेजी खण्ड, दिल्ली १९७४; पृ० १६५-१८८)। अकलूजकर के मत में पुण्यराज का योगदान वाक्यकाण्ड के अन्त में प्राप्त 'समुच्चय-कारिकाओं' तक ही सीमित था। बहरहाल, वस्तुस्थिति जो भी हो, चूंकि यहाँ मेरा प्रथम मन्तव्य पुस्तक का अनुवाद है, अतः मैं इस समय इस उलझे किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अपनी राय व्यक्त नहीं करना चाहता और मैंने इस विषय में मूल का ही अनुसरण किया है।

अपनी गम्भीर दार्शनिक भाषा और दुरूह विषय-वस्तु के कारण इस ग्रन्थ का अनुवाद सरल न था। इसलिए इस कार्य को पूरा करने में मुझे बहुत समय लग गया। इस सम्बन्ध में अपने अग्रज सहयोगियों प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, डॉ० रमेश कुमार शर्मा और श्री विनोद खुराना के बहुमूल्य सुझावों के लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इसे प्रकाशनार्थ स्वीकार किया, इसके लिए मैं आभारी हूँ। श्रद्धेय शास्त्री जी ने स्वयम् इस अनुवाद को देखा है। मैं उनके सतत आशीर्वाद की कामना करता हूँ।

—मिथिलेश चतुर्वेदी

विषय-प्रवेश

भारतीय वैयाकरणों ने न केवल निरुक्ति और अर्थविज्ञान का सर्वाधिक वैज्ञानिक शास्त्र प्रस्तुत किया, अपितु शब्दार्थ का भी असाधारण दर्शन प्रतिपादित किया। पतञ्जलि के **महाभाष्य** (दूसरी शती ई० पू० का मध्य भाग) में ऐसे अनेक अंश मिलते हैं, जिनमें विवेकशील व्यक्ति दार्शनिक चिन्तन के बीज देख सकता है और जो बखूबी एक व्यवस्थित दर्शन की आधारभूमि बन सकते हैं; किन्तु पतञ्जलि इस प्रकार के विषय को एक व्याकरण ग्रन्थ में समाविष्ट करनेवाले पहले व्यक्ति नहीं हैं। वस्तुतः उन्हीं के प्रामाण्य से हमें यह ज्ञात होता है कि **संग्रह** नामक एक प्राचीन ग्रन्थ में शब्द के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन हुआ था : कि शब्द नित्य है या अनित्य[1]। **महाभाष्य** पर अपनी टीका **प्रदीप** में कैयट **संग्रह** को एक विशिष्ट ग्रन्थ कहते हैं[2] और प्रदीप पर अपनी टीका **उद्द्योत** में नागेश इसे एक लाख श्लोकों में व्याडि द्वारा रचित ग्रन्थ बतलाते हैं[3]। पुण्यराज, जिनका समय अभी तक निश्चित नहीं हुआ है, भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** पर अपनी टीका में न केवल लक्षश्लोकात्मक ग्रन्थ के रूप में **संग्रह** का उल्लेख करते हैं[4]; अपितु इस अनुपलब्ध कृति से तीन कारिकाएँ भी उद्धृत करते हैं[5]। भर्तृहरि **वाक्यपदीय** में हमें बताते हैं कि किस प्रकार

---

१. (क) संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितं नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति।

—म० भा० १, पृ० ५४.

(ख) संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति।

—वही, पृ० १६.

(ग) शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः। शोभना खलु दाक्षायणेन संग्रहस्य कृतिः। —म० भा० २, पृ० ५२८.

(घ) किरतिं चर्करीतान्तं पचतीत्यत्र यो नयेत्।
प्राप्तिज्ञं तमहं मन्ये प्रारब्धस्तेन संग्रहः॥

—म० भा०, पा० ७.४.९२ पर.

२. ग्रन्थविशेषे। —म० भा० प्र० १, पृ० ५५.

३. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः।

—म० भा० प्र० उ० १, पृ० ५५.

४. इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं ग्रन्थलक्षपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धनमासीत्।—पु० रा०, पृ० २८३.

५. (क) तदुक्तं संग्रहे :
न हि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानामर्थरूपं च वाक्यार्थादेव जायते॥

—वही, पृ० १४.

यह ग्रन्थ उपेक्षित हो गया और व्याकरणिक अध्ययन का स्रोत सूख गया[1]।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि शब्दाद्वैत अथवा शब्दब्रह्मवाद के नाम से ज्ञात दर्शन को विकसित करनेवाले प्रथम वैयाकरण थे। भारतीय चिन्तन में अद्वैत की अभिव्यक्ति तीन रूपों में बताई जाती है—वेदान्ती का ब्रह्माद्वैत या भावाद्वैत, बौद्धों का विज्ञानाद्वैत और वैयाकरण का शब्दाद्वैत। 'शब्दब्रह्म' भर्तृहरि द्वारा गढ़ा गया कोई नया शब्द नहीं है, उपनिषदों में ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ 'पर' और 'अपर' दो प्रकार के ब्रह्म की चर्चा है। परब्रह्म से तात्पर्य उच्चतर ब्रह्म अर्थात् 'विश्वातीत परम' से है, जबकि अपरब्रह्म से तात्पर्य शब्दब्रह्म से है, जिसका साक्षात्कार परब्रह्म की ओर ले जाता है[2]। किन्तु हमें इस विषय में सचेत रहना होगा कि हम वैयाकरण के शब्दब्रह्म को उपनिषद् का शब्दब्रह्म न मान बैठें; क्योंकि भर्तृहरि के अनुसार शब्दब्रह्म ही विश्वातीत सत्ता है।

प्रस्तुत कृति के आरम्भ में वैयाकरण द्वारा अवधारित विश्वातीत सत्ता का विवरण देने का प्रयास किया गया है। यह सत्ता सारतः एकात्मक तत्त्व होते हुए भी अपने में निविष्ट शक्तियों के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है और इनमें कालशक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सृष्टि से पूर्व के क्षण में ये शक्तियाँ मानों शब्दब्रह्म से पृथक् हो जाती हैं और सृष्टिप्रक्रिया शब्द और अर्थ की दो दिशाओं में चल पड़ती है। प्रथम चार उन्मेषों में मैंने शब्दब्रह्म के, तथा कालशक्ति व अन्य शक्तियों के, स्वरूप का विवेचन किया है और वैयाकरण-दार्शनिक द्वारा प्रस्तुत सृष्टि-प्रक्रिया का न केवल परीक्षण किया है अपितु अन्य दर्शनों में उपलब्ध समान्तर रूपरेखाओं के साथ उसकी तुलना भी की है। इसके बाद मैंने शब्द से सम्बद्ध व्यावहारिक सत्ताओं, वर्ण, पद और वाक्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है और बतलाया है कि वैयाकरण स्फोट अर्थात् अखण्ड शब्द को वाचक शब्द के रूप में समझता है। पुस्तक के इस भाग में मैंने मण्डन मिश्र की **स्फोटसिद्धि** का पूरा उपयोग किया है और दिखलाया है कि वैयाकरण की अखण्ड शब्द की धारणा किसी मताग्रही व्यक्ति की सूझ नहीं अपितु सहज बोध के निर्णय का यथार्थ प्रतिपादन है। इस प्रसंग में मैंने प्रतिपक्षी दार्शनिक सम्प्रदायों, विशेषकर कुमारिल और नैयायिक, के मतों की विस्तृत परीक्षा की है।

(ख) संग्रहेऽप्युक्तम् :

शब्दार्थयोरसंभेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम्॥
सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात्कृतः कथम्॥—पु० रा०, पृ० १४.

१. वा० प०२.४८४-९०.

२. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

—मैत्रायणी उपनिषद्, ६-२२.

इसके बाद मैंने ब्रह्माण्डीय विकास के अर्थ-पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पुस्तक के इस भाग में मैंने पहले शब्दार्थ का अध्ययन किया है और इस प्रसंग में व्याडि और वाजप्यायन के मतों का सम्पूर्ण विवेचन किया है, जो क्रमशः जाति और व्यक्ति को पद का अर्थ मानते हैं। अन्तिम उन्मेष पाँच भागों में विभाजित है जिसमें मैंने वाक्यार्थ की समस्या का विस्तार से विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में न केवल वैयाकरण के प्रतिभा-सिद्धान्त (अर्थात् यह कि वाक्यार्थ विशुद्ध रूप से अन्तःप्रज्ञा है) का प्रस्तुतीकरण, अपितु प्रभाकर, कुमारिल, नैयायिक (नव्य एवं प्राचीन) तथा अद्वैत वेदान्ती के प्रतिपक्षी सिद्धान्तों का आलोचनात्मक प्रस्तुतीकरण एवं मूल्यांकन मुझे उपयोगी प्रतीत हुआ है। पुस्तक के इस भाग में मैंने अपने विवेचन को यथा-सम्भव व्यवस्थित एवं व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है और मेरा विश्वास है कि यह अपने किस्म का पहला प्रयास है।

मैंने लगभग चौथाई शती तक इस पुस्तक की विषयवस्तु पर अध्ययन-मनन किया है। अपने अध्ययन के बाद मैं इस विषय में पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ कि वैयाकरण-दार्शनिक भर्तृहरि भारतीय चिन्तन के इतिहास में एक असाधारण व्यक्तित्व हैं। वे आश्चर्यजनक रूप से मौलिक एक ऐसी चिन्तन-पद्धति के प्रवर्तक हैं, जिसकी मेरी जानकारी में कोई तुलना नहीं हो सकती। उनका दर्शन अद्भुत रूप से विलक्षण है; व्यवहारतः वे अपने आप में एक दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके तीन टीकाकार हैं—पुण्यराज, हेलाराज एवं फुल्लराज—जिनकी टीकाएँ उनके ग्रन्थ के अलग-अलग भागों पर हैं किन्तु ये टीकाएँ भर्तृहरि के दर्शन के उचित मूल्याङ्कन में बहुत सहायक नहीं हैं। मण्डन मिश्र, जो अद्वैत वेदान्त के महान् आचार्य शंकराचार्य के समकालीन के रूप में प्रसिद्ध हैं, और वाचस्पति मिश्र को छोड़कर भर्तृहरि के दर्शन का कोई समर्थक या समर्थ व्याख्याता दिखलाई नहीं देता। किन्तु भर्तृहरि तो स्वयं समर्थ हैं। उनकी दलीलों की अद्भुत तार्किकता और उपलब्ध सामग्री के उनके अद्भुत प्रस्तुतीकरण ने उनके लिए स्वीकृति और, साथ ही, आलोचना अर्जित की। वे ऐसे दार्शनिक हैं, जिनकी शायद सबसे अधिक आलोचना हुई है। हमारी जानकारी में सम्भवतः कुमारिल और धर्मकीर्ति उनके दर्शन के सबसे पुराने आलोचक हैं। दर्शन का कोई भी लेखक, भले ही वह किसी भी सम्प्रदाय का हो, भर्तृहरि की उपेक्षा नहीं कर सका। मीमांसक, नैयायिक, बौद्ध, जैन, वेदान्ती और **व्यासभाष्य** के नाम से प्रसिद्ध **योगभाष्य** के रचयिता—इन सभी ने भर्तृहरि के मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है। परिणामस्वरूप भर्तृहरि का **वाक्यपदीय** भारतीय चिन्तन के सबसे उर्वर युग, अर्थात् मध्यकाल में, सबसे व्यापक रूप में पठित ग्रन्थ रहा है। अगर इसे लोकप्रियता का मापदण्ड माना जाए तो भर्तृहरि की कृति विलक्षण रूप से सौभाग्यशाली है और इस अर्थ में इसकी तुलना धर्मकीर्ति के **प्रमाणवार्तिक** और कुमारिल के **श्लोकवार्तिक** से की जा सकती है।

ग्रन्थ की प्रसिद्धि इसमें प्रतिपादित प्रस्थापन की मौलिकता के कारण भी रही है और इसकी दुर्बोधता के कारण भी। यह खेद का विषय है कि अपनी प्रसिद्धि

के बावजूद भर्तृहरि की कृति किसी सम्प्रदाय का आधारग्रन्थ नहीं बन सकी। व्यवहार में वे अकेले अपने सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं। धर्मकीर्ति, कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के संस्थापक हुए। मेधावी कृतिकारों की एक सतत परम्परा ने मूल प्रवर्तकों की केन्द्रभूत प्रस्थापना को विकसित किया जिसके फलस्वरूप हमारे सम्मुख सुव्यवस्थित व सम्पूर्ण सम्प्रदाय हैं जिनके पीछे शताब्दियों का विकास-क्रम है किन्तु अपनी मौलिकता और प्रबल तार्किकता के बावजूद भर्तृहरि के पीछे व्याख्याताओं की कोई अविच्छिन्न परम्परा नहीं हुई। इसलिए उनके दर्शन में ऐसी बाधाएँ और उलझनें हैं, जिन्हें दूर करने के लिए उत्कृष्ट टीकाकारों की श्रेणी उपलब्ध नहीं है। भर्तृहरि और उनके टीकाकारों पुण्यराज, हेलाराज और फुल्लराज के बीच सुदीर्घ अन्तराल है। **स्फोटसिद्धि** में भर्तृहरि का समर्थन करने वाले मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र, जिनका **तत्त्वबिन्दु** भर्तृहरि के दर्शन का उत्कृष्ट बचाव है, हमारे ग्रन्थकार से क्रमशः लगभग दो और तीन शताब्दी दूर हैं। अतः ग्यारहवीं शताब्दी और उसके उपरान्त भर्तृहरि का ग्रन्थ लगभग अप्रचलित हो गया। इस प्रकार भर्तृहरि के दर्शन की परम्परा ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से सर्वथा लुप्त हो गई। नव्य-न्याय के ग्रन्थकारों ने उन्हें लगभग अनदेखा ही किया है यद्यपि शुद्ध व्याकरणिक महत्त्व के उद्धरण भूले-भटके उनकी रचनाओं में बिखरे दिखलाई देते हैं। यह मानने के प्रबल कारण मौजूद हैं कि ये उद्धरण अप्रत्यक्ष स्रोतों से प्राप्त हुए हैं। भट्टोजिदीक्षित और उनके परवर्ती रचनाकारों ने भर्तृहरि के ग्रन्थ से काफी कुछ लिया है, लेकिन इस बात का कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि उन्होंने व्यवस्थित रूप से भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** को उसकी समग्रता में आगे बढ़ाया हो।

इस सर्वथा विस्मृत परम्परा के सन्दर्भ में यह अवश्य ही धृष्टता प्रतीत होगी कि कोई आधुनिक अध्येता एक अकेली कृति, **वाक्यपदीय**, के माध्यम से भर्तृहरि के दर्शन को समझने और उसकी व्याख्या करने का प्रयास करे। यह कार्य अति दुष्कर है। भारतीय दर्शन के कुछ सुप्रसिद्ध आचार्यों के निर्देशन में वर्षों तक मूल ग्रन्थ तथा इस दर्शन की आलोचना करने वाले विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के श्रेष्ठतम ग्रन्थों के मेरे निष्ठापूर्वक अध्ययन ने ही मुझे इस कठिन कार्य को हाथ में लेने की सामर्थ्य और उत्साह दिया है।

भर्तृहरि के दर्शन का निरालापन इस तथ्य में निहित है कि इसे परम्परागत प्रत्ययवाद या भौतिकवाद से नहीं जोड़ा जा सकता। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि भर्तृहरि के दर्शन की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। वेदान्तियों ने भर्तृहरि को प्रत्ययवादी अद्वैत के प्रतिपादनकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया है। पुनः, भर्तृहरि के दर्शन को चरम सत्ता, शब्दब्रह्म, की व्याख्या विकासशील तत्त्व के रूप में की गई है। भर्तृहरि के स्वतःस्फूर्त वचनों की रहस्यमयी प्रकृति इन विविध और विरोधी व्याख्याओं का कारण रही है। हम प्रत्ययवादियों के पक्ष से परिचित हैं, जो प्रत्यय को किसी न किसी रूप में व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ सत्ताजगत् का उद्गम और नियत पूर्ववर्ती मानते हैं। हम भौतिकवादी का पक्ष भी जानते हैं,

जो चिन्तन और पदार्थ को एक जड़ तत्त्व से व्युत्पन्न मानता है। किन्तु शब्द को ब्रह्माण्ड का मूल बतलाना एक नया विचार है। भर्तृहरि ने इस सिद्धान्त को पूरे विस्तार से प्रतिपादित किया है जिसने प्रशंसा और अस्वीकार समान रूप से अर्जित किया है। मैंने आधुनिक मानस के सामने आधुनिक भाषा और शैली के माध्यम से इस अतिदुर्बोध दर्शन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें मुझे कितनी सफलता मिली है, यह निर्णय दूसरों का कार्य है। मेरी कृति आधुनिक भाषा में इस विषय की आरम्भिक प्रस्तुति है और मूल स्रोतों में जाने वाला कोई भी जिज्ञासु अध्येता यह निर्णय कर सकेगा कि मैं इसमें निहित जटिल समस्याओं पर कितना प्रकाश डाल सका हूँ। मैंने प्रस्तुति का अपना तरीका चुना है किन्तु कहीं भी मैं मूल से बेईमानी करने का दोषी नहीं रहा हूँ। विषय की दुर्बोधता और मूल प्रस्थापना के पक्ष और विपक्ष में दी गई दलीलों की दुरूहता निर्विवाद है। मैंने उस परिदृश्य को पूरा तरह प्रस्तुत करने में कोई संकोच नहीं बरता है जिसका तार्किक पक्ष ही सभी देशों व कालों में मानव बुद्धि के लिए एक अपील रख सकता है। मैं यह दावा नहीं करता कि मेरे विवरण के साथ ही सारी कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं क्योंकि कठिनाइयाँ केवल उस भाषा या प्रणाली की नहीं हैं जिसमें वे मूल ग्रन्थों में मिलती हैं। ये कठिनाइयाँ वस्तुनिष्ठ हैं, विषय की प्रकृति में ही अन्तर्निहित हैं। यदि मेरे प्रयत्न दर्शन के आधुनिक अध्येता की रुचि जगाने में सफल होते हैं तो मैं उन्हें न्याय्य मानूँगा। निःसन्देह भर्तृहरि के संसार में प्रवेश का शुल्क गहन अध्ययन और सूक्ष्म तथा कठोर चिन्तन के रूप में चुकाना होगा।

सप्तम और अष्टम उन्मेष का विषय—शब्दार्थ और वाक्यार्थ—तर्कशास्त्र के अध्येता को अवश्य ही आकर्षित करेगा। इन विषयों पर भारतीय दार्शनिकों की गम्भीर मीमांसाएँ चिरकाल तक आकर्षित करती रहेंगी। अन्तिम दो उन्मेषों में मैंने जिन अनेक मतों को प्रस्तुत किया है, उनका विवेचन व मूल्याङ्कन अभी तक किसी भी आधुनिक भाषा में किसी अन्य लेखक ने नहीं किया है। इस प्रकार आज के विद्वज्जगत् को अभी तक इन महत्त्वपूर्ण मतों का प्रामाणिक ज्ञान पाने का अवसर नहीं मिला है और कमोबेश ये मत केवल अपने नाम से ही जाने जाते हैं। मैं आशा करता हूँ कि प्रस्तुत कृति एक ऐसी खाई को भरेगी, जिसे भरना अपेक्षित था। वाक्यार्थ को विशुद्ध रूप से अन्तःप्रज्ञा का उदाहरण मानने वाले वैयाकरण-मत का प्रतिपादन मेरे कार्य का कठिनतम अंश सिद्ध हुआ। भारतीय दर्शन के कुछ श्रेष्ठतम ग्रन्थों, और साथ ही कुछ योरोपीय दार्शनिकों, विशेषतः क्रोचे, की रचनाओं के अध्ययन ने मुझे इस दुरूह मत को बोधगम्य परिप्रेक्ष्य में रखने की सामर्थ्य दी है।

भर्तृहरि के काल की समस्या सुलझाना सम्भव नहीं है। इस विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं है कि शतकत्रय के रचयिता भी यही भर्तृहरि हैं या कोई और। इ-त्सिंग के भारत आगमन से पूर्व रचित वामन-जयादित्य की काशिका में एक व्याकरण-सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए उनके ग्रन्थ का शीर्षक **वाक्यपदीय** उदाहरण

के रूप में प्रस्तुत किया गया है[1]। विद्वानों में सामान्यतः यह विश्वास प्रचलित है कि सन् ६५१ ई० में एक वैयाकरण दार्शनिक की मृत्यु के बारे में लिखते समय इ-त्सिंग भर्तृहरि का ही उल्लेख कर रहे हैं। **रावणवध** के रचयिता महान् वैयाकरण-कवि भट्टि के साथ भी भर्तृहरि की अभिन्नता बतलाई गई है। इस विषय में हम केवल इतना ही निरापद रूप से कह सकते हैं कि भर्तृहरि शायद एक प्राचीन वैयाकरण-दार्शनिक हैं, जो किसी विशेष आगम सम्प्रदाय से सम्बद्ध अतिप्राचीन परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

भर्तृहरि को **महाभाष्य** पर एक टीका लिखने का भी श्रेय दिया जाता है। यह कृति पाणिनीय सम्प्रदाय पर लिखने वाले परवर्ती ग्रन्थकारों के लिए बड़ी प्रेरणाप्रद रही है। वर्धमान सूरि **गणरत्नमहोदधि** में भर्तृहरि का उल्लेख **वाक्यपदीय** तथा **प्रकीर्णक** के कर्ता और **महाभाष्य** के तीन पादों के व्याख्याता के रूप में करते हैं[2]। इससे यह अर्थ निकलता है कि वर्धमान के समय में भर्तृहरि की टीका **महाभाष्य** के तीन पादों पर ही उपलब्ध थी।

यह अपने आप में एक दिलचस्प अध्ययन हो सकता है कि क्या **प्रकीर्णक** कोई पृथक् ग्रन्थ है, जैसा कि वर्धमान ने माना है, अथवा **वाक्यपदीय** का ही हिस्सा है। भर्तृहरि के अपने शब्दों से यह मालूम होता है कि **वाक्यपदीय** के तीन काण्ड थे[3]। किन्तु भर्तृहरि के प्रामाण्य पर हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि क्या **प्रकीर्णक** उनके ग्रन्थ का तीसरा काण्ड ही है, जैसा कि नाम से ध्वनित होता है। यह अपेक्षा स्वाभाविक है कि **वाक्यपदीय** में वाक्य और पद के स्वरूप का विवेचन होगा और वास्तव में ही पहले दो काण्ड मुख्य रूप से वाक्य और पद के विवेचन से सम्बद्ध हैं। **प्रकीर्णक** में—जो एक अन्य महत्त्वपूर्ण शीर्षक है—अनेक प्रकार के विषयों, जैसे द्रव्य, गुण, जाति, क्रिया, कर्तृत्व आदि का विवेचन मिलता है; इसलिए यह सर्वथा अनुचित नहीं है कि वर्धमान **प्रकीर्णक** को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में पहचानते हैं। वैसे **प्रकीर्णक** चाहे स्वतन्त्र ग्रन्थ हो या **वाक्यपदीय** के तीसरे काण्ड के तौर पर उसी का अगला हिस्सा हो, इससे निश्चय ही भर्तृहरि के दार्शनिक दृष्टिकोण पर बहुमूल्य जानकारी मिलती है।

दूसरे मुद्दे पर कि वर्धमान के समय में भर्तृहरि की टीका **महाभाष्य** के केवल तीन पादों पर ही उपलब्ध थी, यह कहा जा सकता है कि वर्धमान ने अपने ग्रन्थ की रचना बारहवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध में की थी। किन्तु कैयट अपनी **प्रदीप** टीका के

---

१. पा० ४.३.८८ पर काशिका।

२. भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।

—गणरत्नमहोदधि, पृ० २.

३. वर्त्मनामत्र केषाञ्चिद् वस्तुमात्रमुदाहृतम्।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा॥

—वा० प०, २.४९१.

प्रारम्भ में कहते हैं कि भर्तृहरि के ग्रन्थ से परिचित होने के कारण ही वे महाभाष्य पर अपनी टीका लिख सके। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि कैयट को भर्तृहरि की टीका सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध थी जबकि वर्धमान इसके एक अंश के बारे में ही जानते थे।

मेरी इस रचना के जो भी गुण-दोष हों, इसे पढ़कर इसे सम्मानित करने वाले विद्वानों से मैं इतनी अपेक्षा अवश्य करता हूँ कि वे अपनी जन्मभूमि पर ही बहुत-बहुत पहले अपरिचित हो चुके एक दुरूह चिन्तन-सम्प्रदाय के पुनरन्वेषण और पुनर्रचना के इस प्रयास की बौद्धिक ईमानदारी को समझ कर उसे सहृदय दृष्टि से देखेंगे। मैं कुछ औचित्य के साथ यह दावा कर सकता हूँ कि इस प्राचीन दर्शन की स्वीकृति केवल पुरातनिक दृष्टि से नहीं है अपितु यह सशक्त तर्क से पुष्ट है। समकालीन पाश्चात्य दर्शन में आज अर्थमीमांसा के प्रति व्यापक रुचि को देखते हुए यह आशा की जा सकती है कि भर्तृहरि का दर्शन, दर्शन के आधुनिक अध्येताओं को आकर्षित करेगा और उन्हें शब्द और अर्थ की शाश्वत समस्या का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन देगा। इसके लिए एकपक्षीय पद्धति पर्याप्त नहीं; यह पद्धति बहुपक्षीय होनी चाहिए। अन्त में मैं यह कहना चाहूँगा कि मैं एक मौलिक अन्वेषक के रूप में मान्यता पाने का उच्छृङ्खल दावा नहीं करता। मेरा दावा साधारण है और एक अत्यन्त कठिन चिन्तन-सम्प्रदाय को समझने और उसकी व्याख्या करने के ईमानदार और सतत प्रयास पर आधारित है। मैंने कठिनाइयों से बचने की कोशिश नहीं की है और न ही प्रतिरोधरहित मार्ग चुना है। अब मैं अपने अध्ययन के परिणामों को विद्वज्जगत् के निर्णय के लिए प्रस्तुत करता हूँ।



संकेत-चिह्न

अ० को०	अमरकोष (निर्णयसागर प्रेस, १९२९)
अ० वृ० मा०	अभिधावृत्तिमातृका (सं० एम० आर० तैलंग, १९१६)
उ० रा०	उत्तररामचरित (सं० एम० आर० काले, १९०१)
एनल्स	एनल्स ऑफ द भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट
ऋ० प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्य
क० उ०	कठोपनिषद्
का० प्र०	काव्यप्रकाश (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, १९२९)
का० प्र० प्र०	काव्यप्रकाशप्रदीप, का० प्र० पर टीका
का० प्र० प्र० उ०	काव्यप्रकाशप्रदीपोद्द्योत, का० प्र० प्र० पर टीका
काव्या०	काव्यादर्श (सं० पी० तर्कवागीश, कलकत्ता)
चारु० चा० दे०	वाक्यपदीय (सं० चारुदेव शास्त्री, १९३४)
त० प्र०	तत्त्वप्रदीपिका (निर्णयसागर प्रेस, १९१५)
त० बो०	तत्त्वबोधिनी, सिद्धान्तकौमुदी पर टीका (निर्णयसागर प्रेस, १९०८)
त० वा०	तन्त्रवार्तिक, मीमांसासूत्र पर वार्तिक (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़)
त० सं०	तत्त्वसंग्रह (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़)
त० सं० प०	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़)
तन्त्ररहस्य	(गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़)
तन्त्रा०	तन्त्रालोक (काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता
ध्व०	ध्वन्यालोक (काशी संस्कृत सीरीज़, १९४०)
न० प्र०	नयनप्रसादिनी, तत्त्वप्रदीपिका पर टीका (निर्णयसागर प्रेस, १९१५)
ना० र०	नायकरत्न, न्या० र० मा० पर टीका (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़)
न्या० कु०	न्यायकुसुमाञ्जलि (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़)
न्या० कु० प्र०	न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश, न्या० कु० पर वर्धमान की टीका (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़)
न्या० भा०	न्यायसूत्रभाष्य (सं० फणिभूषण तर्कवागीश, कलकत्ता)
न्या० म०	न्यायमञ्जरी (काशी संस्कृत सीरीज़, १९३६)

न्या० र० मा०	न्यायरत्नमाला (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़)
न्या० सू०	न्यायसूत्र
पञ्चिका	बृहती पर टीका (मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज़)
पदार्थ० नि०	पदार्थतत्त्वनिरूपण (मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस)
परा०	परात्रिंशिका (काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
पा०	पाणिनिसूत्र
पु० रा०	वा० प० पर पुण्यराज की टीका (बनारस संस्कृत सीरीज़)
प्र० न०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार (सं० मोतीलाल, पूना)
प्रत्य० हृ०	प्रत्यभिज्ञाहृदय (काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
PWSBS	प्रिंस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़
बृहती	(मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज़)
बो० पं०	बोधपञ्चदशिका
ब्र० सि०	ब्रह्मसिद्धि (मद्रास गवर्नमेंट ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स सीरीज़)
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
भामती	ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका (निर्णयसागर प्रेस, १९१७)
म० भा०	महाभाष्य (निर्णयसागर प्रेस, १९१७)
म० भा० प्र०	महाभाष्यप्रदीप, म० भा० पर टीका
म० भा० प्र० उ०	महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत, म० भा० प्र० पर टीका
म० मं०	महार्थमञ्जरी (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़)
मृगे०	मृगेन्द्रागम (काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
यो० सू०	योगसूत्र
यो० हृ०	योगिनीहृदय (द प्रिंस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट्स)
वरि० र०	वरिवस्यारहस्य (सं० एस० एस० शास्त्री, तंजौर, १९३४)
वा०	वार्तिक (पाणिनिसूत्र पर)
वा० प०	वाक्यपदीय (बनारस संस्कृत सीरीज़)
वि० वि०	विधिविवेक (सं० आर० शास्त्री, बनारस, १९०७)
वै० सि० ल० म०	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़)
व्य० वि०	व्यक्तिविवेक (काशी संस्कृत सीरीज़, १२१)
श० कौ०	शब्दकौस्तुभ (एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल)
शा० भा०	शाबरभाष्य (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, १९२९)
शारी० भा०	शारीरकभाष्य, ब्रह्मसूत्र पर (निर्णयसागर प्रेस, १९१७)
शि० दृ० / शिव०	शिवदृष्टि (काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
श्लो० वा०	श्लोकवार्तिक (चौखम्बा संस्कृत सीरीज़)
षट्त्रिंश०	षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह (काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः)
स० द० सं०	सर्वदर्शनसंग्रह (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, १९२८)

सं० शा०	संक्षेपशारीरक (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़)
सा० द०	साहित्यदर्पण (सं० सी० स्मृतिभूषण, कलकत्ता)
सौ० भा०	सौभाग्यभास्कर, ललितासहस्रनाम पर टीका (सं० डब्ल्यू० एल० शास्त्री पणशीकर, बम्बई, १९२७)
स्फो० सि०	स्फोटसिद्धि (मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज़)
हे० रा०	वा० प० पर हेलाराज की टीका (बनारस संस्कृत सीरीज़)



विषयानुक्रमणिका

(७) क्रम वाक्य है, (८) पदसंघात वाक्य है—पदवादी और वाक्यवादी के तर्कों का परीक्षण।

षष्ठोन्मेष

प्रत्येक अर्थवान् शब्द में दो तत्त्व : ध्वनि और स्फोट—पतञ्जलि द्वारा शब्द की परिभाषा—कुमारिल का आक्षेप और मण्डन मिश्र का उत्तर—वर्णों को ही अर्थवान् शब्द मानना अनुभव के निर्णय का तिरस्कार है—शब्द की एकात्मकता को मात्र वर्णों का आदर्श विन्यास कहकर रद्द नहीं किया जा सकता—अलग-अलग वर्ण अर्थवान् नहीं—वर्णों का समूह, सम्भव नहीं—कुमारिल का उत्तर : विशेष क्रम में संयोजित वर्ण ही अर्थवान् हैं—संघात के बिना संयोजन संभव नहीं—कुमारिल के उदाहरण, प्रासंगिक व प्रत्यायक नहीं—संस्कारों के माध्यम से सहवर्तिता की संभावना—वर्णों के संस्कार वर्णों की ही स्मृति उत्पन्न करेंगे, अर्थ की नहीं—वर्णक्रम बदलने की स्थिति में कठिनाई—शब्द के एकत्व की अनुभूति समष्टिगत स्मरण, अथवा स्मरण और प्रत्यक्ष की संसृष्टि के कारण होती है—क्रम वाली आपत्ति अभी भो अनुत्तरित—एकत्व की प्रतीति का कारण समान जाति नहीं—पूर्ववर्ती वर्णों के संस्कारों से सहकृत अन्तिम वर्ण ही शब्द है; ये संस्कार स्मृति-संस्कार नहीं, अपितु यागादि के अनुष्ठान से उत्पन्न अदृष्ट फल के तुल्य हैं—वैयाकरण को भी अदृष्ट संस्कारों की परिकल्पना आवश्यक—वैयाकरण का उत्तर : कुमारिल पक्ष में परिकल्पनाओं की संख्या अधिक—स्फोट या निरवयव शब्द एक परिकल्पना नहीं, अपितु प्रत्यक्ष तथ्य—कुमारिल के अन्य आक्षेपों का उत्तर—स्फोट का ग्रहण : इसकी क्रमिक अभिव्यक्ति—शब्द का वर्णों के रूप में बोध भ्रान्ति का उदाहरण—कुमारिल के आक्षेप और उनके उत्तर—वर्णों की अनेकता और शब्द का एकत्व परस्पर असंगत—मण्डन मिश्र का उत्तर—शब्द का एकत्व एक अविवाद्य 'प्रदत्त'—बौद्ध मत और उसकी आलोचना—स्फोट-सिद्धान्त की श्रेष्ठता।

सप्तमोन्मेष

आकृतिवाद—व्यक्तिवाद एवं जातिवाद—जात्याकृतिव्यक्तिवाद—जातिविशिष्ट-व्यक्तिवाद—अपोहवाद—वैयाकरण का मत—महाभाष्य में उपलब्ध वाजप्यायन और व्याडि के मत—पतञ्जलि का मत—कौण्डभट्ट का मत—भर्तृहरि का मत : एक दर्जन मतों की चर्चा व भर्तृहरि की अपनी टिप्पणियाँ।

अष्टमोन्मेष

वाक्यार्थ १४७-२३५

उपक्रम—अन्विताभिधानवाद : वाक्य एक इकाई है, एक सावयव इकाई—एकाकी शब्दों का प्रयोग नहीं होता और अकेले-अकेले वे अपोद्धार मात्र हैं—पदों के अर्थ असम्बद्ध तथ्य नहीं, अपितु अवयविक रूप में सम्बद्ध हैं—अन्वय पदार्थों का अनिवार्य अंग—आपत्तियाँ : अन्योन्याश्रय दोष और दुहरी वाचक शक्ति की परिकल्पना—वाक्य के समग्र अर्थ के साथ पद के सम्बन्ध का पूर्वज्ञान सम्भव नहीं—अन्योन्याश्रय दोष और दुहरी वाचक शक्ति के आरोपों का उत्तर—कुमारिल का लाघव का दावा : पद का अर्थ एक शुद्ध तथ्य—प्रभाकर का उत्तर : कुमारिल को तीन अनावश्यक शक्तियों की परिकल्पना करनी होगी—प्राभाकर मत में लाघव—प्रभाकर वाक्यार्थ के शाब्द स्वरूप पर बल देते हैं—स्मृति में अनन्वित अर्थों की उपस्थिति और स्मारित अर्थों का अभिधानशक्ति द्वारा अन्वित रूप में ग्रहण—कुमारिल द्वारा आलोचना—स्मारित अर्थ का वाक्यार्थ में अन्वय असम्भव नहीं—कुमारिल का मत, कि पद अपने-अपने अर्थ को अभिव्यक्त करके विरत हो जाते हैं, वाक्यार्थ के शाब्द स्वरूप के साथ संगत नहीं—अभिहितान्वयवाद : अन्वितार्थं का सीधे अभिधान एक छलावा—पद का अर्थ यदि व्यक्ति को कहें तो वह अनियत है—कुमारिल मानते हैं कि समग्र वाक्य ही वाक्यार्थ का निमित्त है; किन्तु वाक्यार्थ को पदों के करणत्व से नहीं जोड़ा जा सकता—लम्बे वाक्यों में पद मानस में साक्षात् उपस्थित नहीं, वाक्यार्थ की प्रतीति अभिहित अर्थों के माध्यम से—पदों की अर्थों पर प्रथमता का प्रभाकर का तर्क और तात्पर्य को ही वाक्यार्थ का नियामक मानने का उनका आग्रह स्वीकार्य नहीं—पदार्थ ही सीधे वाक्यार्थ के कारण—अन्वय की स्मृति सम्भव नहीं—अर्थों की स्मृति एक भिन्न प्रकार की है—आकांक्षा, संनिधि और योग्यता द्वारा पुष्ट पदों की स्मृति अन्वय-बुद्धि को उत्पन्न करती है—पद द्वारा स्वाभाविक शक्ति से अर्थ की अभिव्यक्ति—अर्थ का बोध प्रत्यायन है, स्मरण नहीं—पार्थसारथि का दृष्टिकोण—यदि अभिधा-व्यापार मात्र स्मरण है, तो इसे अतिरिक्त प्रवर्ग क्यों मानें—पदार्थ का ज्ञान किसी नवीन विषय का ज्ञान नहीं, फिर भी एक पृथक् श्रेणी है और इसलिए अभिधा कहलाता है—अभिधा-शक्ति से अन्वय का ज्ञान मानने वाले प्राभाकर मत की आलोचना—प्रभाकर तथ्यवर्णनपरक और क्रियापरक वाक्य में भेद करते हैं—प्रभाकर के अनुसार तथ्यपरक वाक्यों में अभिधा-शक्ति का व्यापार नहीं, अन्वय की प्राप्ति अनुमान द्वारा—इसमें कठिनाइयाँ—प्रभाकर का स्पष्टीकरण और कुमारिल का उत्तर—अन्वित अर्थों के लिए पदों की अभिधा-शक्ति मान्य नहीं—प्रभाकर की तार्किक मितव्ययिता सिर्फ एक छलावा—पदों के अर्थ सहज कारण-सामर्थ्य से अन्वय को संप्रेषित करते हैं—कारण-सामर्थ्य का स्वरूप : प्रभाकर के मत में पदों की मुख्य शक्ति और कुमारिल के मत में पदार्थों में निहित लक्षणा-शक्ति—पद का अर्थ : जाति या व्यक्ति ?—जाति से व्यक्ति में संक्रान्ति आवश्यक—प्रभाकर के मत में शब्द द्वारा

जाति का अभिधान; किन्तु व्यक्ति का ग्रहण भी जाति के साथ हो, कोई पृथक् शक्ति अनावश्यक—कुमारिल के मत में व्यक्ति की प्रतीति आक्षेप अथवा लक्षणा द्वारा—कुमारिल मत में पदार्थों का अन्वय भी लक्षणा द्वारा ज्ञेय—आपत्तियाँ—लक्षणा के निमित्त उपस्थित नहीं—कुमारिल के स्पष्टीकरण—पार्थसारथि का निष्कर्ष—अन्वयार्थ के संप्रेषण के लिए तात्पर्य नाम की शक्ति आवश्यक—शबर के विचार—लक्षणा और तात्पर्य—चित्सुख द्वारा समन्वय—वर्धमान की प्रस्तुति—पार्थसारथि की भ्रान्ति—सुप्रतिष्ठित आलंकारिकों द्वारा अभिहितान्वयवाद का अपव्याख्यान—नैयायिक मत : जयन्त द्वारा प्रभाकर की आलोचना—वाक्यगत अन्वय तात्पर्यशक्ति द्वारा—प्रभाकर व कुमारिल, दोनों से जयन्त का मतभेद—पद की भूमिका की उपेक्षा नहीं—पद करण हैं, पदार्थों की उपलब्धि अवान्तर व्यापार, और वाक्यार्थ अन्तिम फल—शबर के मत की आलोचना—लम्बे वाक्य के तर्क का परीक्षण—पदों की पूर्वोपस्थिति के बिना अवधारणाओं की प्रस्तुति शाब्द निर्णय (वाक्यार्थ) का उदाहरण नहीं—उदयन के विचार—वाक्यार्थ के कारण के रूप में लक्षणा की प्राक्कल्पना को चुनौती—तात्पर्यशक्ति व संसर्गमर्यादा—तीनों मतों का संक्षेप : समानताएँ एवं विषमताएँ—प्रतिभा : भर्तृहरि यथार्थवादियों से सहमत नहीं—संसर्ग की अवधारणा—क्या यह कपोल-कल्पना है ?—संसर्ग की धारणा की वैधता को चुनौती—प्रामाणिक कहलाने के लिए वाक्यार्थ को शब्द पर आधारित होना चाहिए, जो एकमात्र वस्तु-सत्ता है—वाक्यार्थ के एकत्व की व्याख्या तीन प्राक्कल्पनाओं में से किसी एक के आधार पर हो सकती है, प्रत्यास, परिणाम और विवर्त—प्रतिभा या अन्तःप्रज्ञा, इसका स्वरूप—शब्द चैतन्य है—चैतन्य का एकत्व तर्कमूलक चिन्तन की पूर्वमान्यता—वाक्य का चरम अर्थ भी प्रतिभा है—प्रतिभा शब्द है—क्या यह पुनरुक्ति नहीं कि शब्द का अर्थ शब्द है ?—अन्य मतों में निहित कठिनाइयाँ—वैयाकरण का पक्ष—नैयायिक की स्थिति पर प्रहार—पदों व वाक्यों का तथा अवधारणाओं व वाक्यार्थ का सम्बन्ध सन्तोषजनक नहीं—भर्तृहरि का पक्ष : एकत्व बहुत्व का परिणाम नहीं, वह तो प्रारम्भ से ही है—शब्द से उत्पन्न एकात्मक उद्भास एकदम से स्फुरित होता है—अवधारणाएँ व निर्णय अविद्या की सृष्टि हैं, इनकी कोई प्रामाणिकता नहीं—चिन्तन का अपने से अन्य कोई विषय नहीं—व्यावहारिक वाक्य का अर्थ विषयरहित प्रतिभा—समस्त क्रिया-कलाप एक अन्तःप्रज्ञात्मक समझ का परिणाम है—सहज क्रिया और मूल-प्रवृत्तिक प्रतिक्रिया से इसकी पुष्टि—दूरस्थ पूर्वजों के सन्दर्भ में चेतन कर्ता की सहजात क्रियाओं की व्याख्या करना कोई हल नहीं—मनुष्यों व पशु-पक्षियों में निहित चेतन जीवन में प्रकार-भेद मानकर उसका सीमांकन करना पूर्वाग्रह से ग्रस्त है—आलंकारिक साहित्य में प्रतिभा—प्रतिभा और क्रोचे की अन्तःप्रज्ञा—वेदान्ती मत : वैयाकरण मत से साम्य—अखण्डार्थ की सामर्थ्य केवल वेदों में नहीं, अपितु लौकिक वाक्यों में भी दिखलाई पड़ती है—वाक्यार्थ के रूप में कल्पित विशुद्ध स्वरूप या अखण्डार्थ किसी मान्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता—'विशुद्ध स्वरूप' का अर्थ किसी विभेदक लक्षण से रहित सत्ता है : यह मत ठीक नहीं—'विशुद्ध स्वरूप'



प्रथमोन्मेष

परमतत्त्व

संस्कृत व्याकरण-दर्शन में परमतत्त्व को शब्दतत्त्व अथवा शब्दब्रह्म[1] कहा गया है[2]। शब्दब्रह्म एक अत्यन्त सूक्ष्म[3] व लोकातीत तत्त्व है जो लौकिक अनुभव की पहुँच में आने वाले[4] और व्यावहारिक महत्त्व वाले[5] सभी कुछ के परे है, नैतिक

---

१. इसे शब्दतत्त्व इसलिए कहा गया क्योंकि समस्त शब्दरूपों (सर्वशब्दरूपतया) और शब्दरूपों द्वारा निर्दिष्ट सभी पदार्थों (सर्वशब्दोपग्राह्यतया) के रूप में यह प्रकट होता है और शब्दब्रह्म इसलिए कि यह निर्धारित या सीमित न होकर सर्वव्यापी है। यह समस्त वैविध्यपूर्ण प्रपञ्च को अपनी कक्षा में समाविष्ट एवं संचित करता है और उनका नियतपूर्ववर्ती है, क्योंकि जो कुछ भी घटित होता है, उस सबमें यह मूलतत्त्व के रूप में निहित है। दृश्यप्रपञ्च में शब्द की अविच्छिन्नता से यह सिद्ध है कि जगत् इसका परिणाम अथवा विवर्त है—कि जगत् अपनी अनेकरूप विविधता के साथ शब्द से ही उत्पन्न होता है (रूपाभिमतानामपि विकाराणां प्रकृत्यन्वयाद् व्यापकं च—पु. रा. पृ. १)।

२. यह स्मरणीय है कि परमतत्त्व को शब्दब्रह्म कहते समय वैयाकरण का तात्पर्य न तो किसी व्यक्त-शब्दरूप से है, जो विश्वातीत तत्त्व का विकासज माना गया है और न ही 'ध्वनि' से जिसे व्यावहारिक स्तर पर विश्वातीत की अभिव्यक्ति का माध्यम मान लिया गया है। इसीलिए उपनिषदों द्वारा ब्रह्म को शब्द से परे बताये जाने पर (अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्.......क. उ., ३.१५) वैयाकरण को इस अंश की व्याख्या अपने दर्शन के अनुसार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। उसके अनुसार वहाँ 'शब्द' का प्रयोग एक व्यावहारिक अवधारणा, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य ध्वनि अथवा नाद के लिये किया गया है। वैयाकरण का शब्दब्रह्म इसके परे है।

३. (क) सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्। —पु. रा., पृ. १।

(ख) यां सूक्ष्मां.......वाचम्.......। —वही, पृ. ३।

(ग) ....अणु.......शब्दब्रह्म। —वही, पृ. १८।

४. ....प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखाम्....... । —वही, पृ० ८।

५. ....लोकव्यवहारातीतम्....... । —वही, पृ० ५६।

और धार्मिक मूल्यों का भी इसके विधेय-रूप में कथन नहीं हो सकता[१]। शब्दब्रह्म काल और दिक् के परे है[२], संसर्गरहित और निराकार है और सभी भावात्मक एवं निषेधात्मक विधेयों द्वारा अनिर्वचनीय है[३]। मानवीय अनुभव के अभिज्ञात प्रवर्गों में से किसी एक के साथ इसका तादात्म्य करने का प्रश्न न तो उठना चाहिए और न उठता ही है। सीमाबद्ध मानवीय बुद्धि इसे समझने में असफल है और इसलिए इसकी सर्वथा सटीक परिभाषा देने में असमर्थ है[४]। शास्त्र भी इसके विषय में जो कुछ कहते हैं, उसमें उस निगूढ़ सत्य की छाया-मात्र है; क्योंकि वे अधिक से अधिक इसे समझने की विधि का ही विवरण देते हैं[५]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि परमतत्त्व के विषय में भिन्न-भिन्न चिन्तकों और विभिन्न शास्त्रों में हमें परस्पर भिन्न कथन क्यों मिलते हैं[६]। वस्तुतः शब्दब्रह्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार ही इसकी ठीक-ठीक अन्तर्दृष्टि प्रदान करने में समर्थ है। इस साक्षात्कार की उपलब्धि विवेक-ज्ञान से होती है, जिससे अविद्या का अन्धकार छँट जाता है और शब्दब्रह्म के यथार्थ-स्वरूप का ज्ञाता केवल वही है, जिसे इसके दर्शन का प्रसाद मिल चुका है[७]।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि एक ओर तो वैयाकरण शब्दब्रह्म को सभी गुणों से रहित एक विश्वातीत तत्त्व मानता है[८] और दूसरी ओर वह इसके कुछ लक्षणों का भी उल्लेख करता है; किन्तु इससे उसकी स्थिति न तो अस्पष्ट होती है और न ही विसंगतिपूर्ण। यह सही है कि परमतत्त्व के लिए प्रायः अवधारणात्मक संज्ञाओं को नकारा जाता है, फिर भी वे मानवीय बुद्धि के लिए अनिवार्य सहायक एवं उद्दीपक हैं और उत्तरकालीन साक्षात्कार के लिए आधारभूमि बनाती हैं। अतः यह समीचीन ही है कि शास्त्र भावात्मक शब्दों में इसकी परिभाषा देते हैं। इसीलिए

---

१. व्यवहारानुपातिभिर्धर्मैर्धर्मैः सर्वावस्थास्वनाश्रितश्च······। —पु. रा., पृ. १।
२. वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम्। —वा. प., १.१९।
३. व्यतीतौ भेदसंसर्गौ भावाभावौ क्रमाक्रमौ। सत्यानृते च·········॥—चारु., पृ. १।
४. परमगंभीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वम्। —शारी. भा., पृ. ४५२।
५. (क) उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ — वा. प., २.२४०।
(ख) शास्त्रार्थप्रक्रिया केवलमबुधानां व्युत्पादनाय। अतो न शास्त्राणि तत्त्वं वक्तुं पारयन्ति। —पु. रा., पृ. १७८।
(ग) तुलनीय—तमेतमविद्याख्यामात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। —शारी. भा., पृ. ४०।
(घ) न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति।
—वही, पृ. १२४।
६. तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पितः।—चारु., पृ. ६।
७. ·········प्रविवेकात्प्रकाशते। —वही, पृ. ७।
८. ········ सर्वधर्मपरिकल्पनातीतम्········। —पु. रा., पृ. २।

परमतत्त्व की परिकल्पना निर्गुण व निर्विशेष सत्ता के रूप में करने वाले वेदान्त को भी सत्, चित् और आनन्द को इसकी मूल-प्रकृति का संघटक प्रतिपादित करना पड़ता है[1]। यह सही है कि मानवीय भाषा और चिन्तन स्वभावतः ही—व्यावहारिक स्तर पर भी—सत्य का पूर्ण-ज्ञान देने में समान रूप से असमर्थ हैं; किन्तु अपनी सीमाओं के बावजूद भी भाषा चिन्तकों के हाथ में एक उपयोगी साधन है, क्योंकि भले ही यह सत्य को उसकी सम्पूर्णता में व्यक्त करने में असफल रहे और मात्र एक मन्द और धुंधला आभास दे सके, तथापि यह सत्य की ओर संकेत करने वाली एक तालिका है। भाषा का यह गौण-सामर्थ्य ही इसे सर्वथा प्रलाप बनने से बचाता है और जिज्ञासु मन को चरम-सत्य की ओर बढ़ने में सहायता देता है[2]। इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म को श्रेष्ठतम व विशिष्टतम अवधारणात्मक संज्ञा भी सदा अधूरी है, तथापि एक परिभाषा की आवश्यकता प्रायः अनुभव की जाती है। अतः वैयाकरण अनेक ऐसे गुणों को सामने रखता है, जिन्हें शब्दब्रह्म की मूल-प्रकृति कहा जा सके। इनमें अन्य गुणों के अतिरिक्त सत्, चित्, स्वातन्त्र्य इत्यादि गुण शामिल हैं[3]।

शब्दब्रह्म अपनी मूलप्रकृति से सत् है, ऐसा कहने में वैयाकरण का अभिमत यह है कि इसकी सत्ता सार्वकालिक है और साथ ही काल से परे भी है[4]। शब्दब्रह्म वास्तविक है और इसकी प्रामाणिक सत्ता है[5]। इसका न जन्म है, न मृत्यु[6]।

१. वेदान्त में मूलप्रकृतिक लक्षण (स्वरूपलक्षण) और आकस्मिक (तटस्थ) लक्षण के भेद का विचार किया गया है। सत्, चित् और आनन्द के गुण ब्रह्म के स्वरूपलक्षण माने गए हैं, जबकि जगत्कर्तृत्व और ऐसे ही अन्य गुणों को आकस्मिक या तटस्थ लक्षण कहा गया है। वैयाकरण इस भेद के विषय में सर्वथा मौन है। उसके द्वारा वर्णित लक्षण शब्दब्रह्म को उसके अन्तर्व्यापी रूप में प्रस्तुत करता है, जो उसके उस विश्वातीत पक्ष से भिन्न है, जहां परमतत्त्व सभी वर्णनों व विधेयों से परे है।

२. सर्वमेव हि वाक्यं नेदन्तया वस्तुभेदं बोधयितुमर्हति। न हीक्षुक्षीरगुडादीनां मधुररसभेदः शक्य आख्यातुम्। एवमन्यत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम्। तेन प्रमाणान्तरसिद्धे लौकिक एवार्थे यदा गतिरीदृशी शब्दस्य, तदा कैव कथा प्रत्यगात्मन्यलौकिके। अदूरविप्रकर्षेण तु कथञ्चित् प्रतिपादनमिहापि समानम्। —भामती, पृ. १२४-२५।

३. ········तस्माच्च सत्तामात्रात् प्रतिभाख्याच्छब्दात्········। —पु. रा., पृ. ८।

४. शब्दब्रह्म, वैयाकरण के अनुसार अपनी मूलप्रकृति में कालशक्ति से अभिन्न है। कालशक्ति इसकी नित्य और सहजात शक्ति है। इसलिए शब्दब्रह्म का द्विविध पहलू है। विश्वातीत रूप में यह काल से परे है, जहाँ यह भाषा और चिन्तनगत समस्त विधेयों से ऊपर है। अन्तर्व्यापीरूप में यह काल समाविष्ट है और समस्त निर्णयों का उद्देश्य एवं विधेय है।

५. इह द्वौ शब्दात्मानौ कार्यो नित्यश्च। —पु. रा., पृ. ५०।

६. (i) अनादिनिधनं ब्रह्म········। —वा. प., १.१।
(ii) ········तद् ब्रह्मामृतमश्नुते। —वही, १.१३३।

इसके उद्भव की खोज करना कदापि संभव नहीं और सृष्टि के विलयन के बाद भी यह विद्यमान रहता है[1]। इसमें परिवर्तन नहीं होता और इससे सम्बद्ध समस्त पदार्थों के समाप्त होने पर भी इसकी सत्ता समाप्त नहीं होती, क्योंकि अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिए यह किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है[2]। इस प्रकार शब्दब्रह्म सत् (या 'है') का चरम-तत्त्व है।

शब्दब्रह्म चैतन्यस्वरूप भी है[3]। वेदान्ती परमतत्त्व को शुद्धचैतन्य कहता है, जिसका तात्पर्य यह है कि यह विश्वातीत प्रकाश है, जो स्वयं को प्रकाशित करते हुए दूसरों को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार वैयाकरण के वर्णनानुसार भी शब्दब्रह्म सर्वोच्चतया स्वयंप्रकाश तत्त्व है, जो स्वयं को भी अभिव्यक्त करता है[4] और पदार्थजगत् को भी[5]। आगे वैयाकरण का कहना है कि शब्दब्रह्म अविद्या के अन्धकार को हटाने वाला पवित्रतम आलोक है[6]। प्राचीन वैदिक-वाक्य तीन प्रकार के प्रकाश का उल्लेख करते हैं। विभिन्न भौतिक प्रकाश, जैसे अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र और अन्तरिक्ष में पाये जाने वाले असंख्य नक्षत्र प्रथम प्रकार के प्रकाश हैं। दूसरा मन का आन्तरिक प्रकाश है, जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विभिन्न विषयों को हमारे समक्ष प्रकट करता है। तीसरा और श्रेष्ठतम प्रकाश शब्दब्रह्म स्वयं है, जो समस्त प्रकाशों का प्रकाश है[7]। जब शब्दब्रह्म का अलौकिक प्रकाश अपनी उज्ज्वल

---

१. ....सर्वविकारप्रत्यस्तमये वर्तमानात्........ । —पु. रा., पृ. २ ।

२. (i) ....शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । —वा. प., १ १ ।
(ii) सर्वमूर्तीनामपरिणामा प्रकृतिः । —पु. रा., पृ. ५० ।
(iii) सैषा वागनपायिनी । — वही, पृ. ५७ ।
(iv) पश्यन्त्या रूपमनपभ्रंशम् । —वही, पृ. ५६ ।

३. (i) वाग्रूपत्वमेव चितिक्रियारूपम् । —वही, पृ. ४८ ।
(ii) बोधस्वभावं शब्दार्थमयं निर्विभागं शब्दतत्त्वम्........ । —वही, पृ. ८१ ।

४. स्वरूपज्योतिरेवान्तः सैषा वागनपायिनी । —वही, पृ. ५७ ।

५. (i) आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते ।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ॥ —वा. प., १.५० ।
(ii) यथा ज्ञाने ज्ञेयं घटादिरूपमतीतमनागतं वर्तमानं च गृह्यते ज्ञानस्वरूपं च स्वप्रकाशकत्वात्, तावच्छब्दोऽप्यभिधेयतन्त्रस्तद्रूपोपग्राही स्वरूपमपि प्रत्यवभासयति ।
—पु. रा., पृ. २२ ।

६. (i) यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिः........ । —वा. प., १.१२ ।
(ii) यदग्निनैव तमसि ज्योतिः शुद्धं प्रवर्तते । —वही, १.१८ ।
(iii) एवं ह्याह—वेदाभ्यासात् परमान्तरं शुक्लमजरं ज्योतिस्तस्मिन्नेवापारे तमसि पीते विवर्तत इति । —पु. रा., पृ. ३ ।

७. त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशा योऽयं जातवेदाः, यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः, तत्रैतत् सर्वमुपनिबद्धम्........।—पु. रा., पृ. ७ ।

दीप्ति में चमकता है, केवल तभी ऊपर उल्लिखित अन्य दो प्रकाश स्वयं प्रकाशित हो पाते हैं और जगत् के विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार लाल, तपी हुई लोहे की छड़ या जलते हुए लकड़ी के लटठे में जलाने वाला तत्त्व अग्नि है, न कि छड़ या लट्ठा, उसी प्रकार मन की आन्तरिक ज्योति और विभिन्न भौतिक ज्योतियों में प्रकाशक सिर्फ शब्दब्रह्म ही है, और कुछ नहीं। यदि किसी ऐसे क्षण या स्थिति की कल्पना की जा सके, जब शब्दब्रह्म का प्रकाश अपना आलोक प्रसारित करना बन्द कर दे, तो अन्य दो प्रकाशों का चमकना भी तुरन्त रुक जाएगा और इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा, कि समस्त विश्व घोर अन्धकार की स्थिति में पहुँच जाएगा[1]।

हमारे प्रतिदिन के अनुभव के संदर्भ में यह स्पष्ट समझा जा सकता है, कि शब्दब्रह्म विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करने वाला सर्वोपरि प्रकाश है। यह सर्वथा निर्विवाद तथ्य है, कि हमारी चिन्तन-धारा में आने वाला प्रत्येक भाव एक व्यक्त-शब्दरूप के द्वारा ही निर्धारित होता है[2]। कोई जड़ तथ्य यदि हमारी बुद्धि में नहीं पहुँच सकता तो पूर्णतः सत्तावान् होते हुए भी उसकी स्थिति असत् से बेहतर नहीं। ऐसा तथ्य, जो किसी व्यक्त-शब्दरूप से नहीं जुड़ा है, हमारी बुद्धि का विषय नहीं हो सकता और मिथ्या माना जाता है। दूसरी ओर शशश्रृङ्ग या गन्धर्वनगर जैसी मिथ्या-कल्पनाएँ भी शाब्द-अभिव्यक्ति के माध्यम से कल्पित होने पर सत्तावान् प्रतीत होती हैं और तार्किक अभिकथन के योग्य हो जाती हैं[3]। किसी पदार्थ की सत्ता हमारे प्रत्यक्ष या आनुमानिक ज्ञान से असिद्ध होने पर एक शब्दरूप का प्रयोग इसे अस्तित्वात्मक स्तर देता-सा प्रतीत होता है और इसे संप्रेषण के योग्य पदार्थ बना देता है। बाह्य-वस्तुजगत् में किसी अनुरूप-पदार्थ से रहित शुद्ध बौद्धिक-पदार्थ भी व्यक्त-शब्दरूपों के माध्यम से अभिव्यक्त होने पर वास्तविकता के सजीव और सुस्पष्ट स्पर्श के साथ हमारे सम्मुख विद्यमान प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष-ज्ञान के आधार पर हम जानते हैं, कि खरगोश के सींग नहीं होते और आकाश से पुष्प नहीं टपकते, फिर भी हम इसे नकार नहीं सकते, कि 'शशश्रृङ्ग' या 'आकाशपुष्प' जैसे शब्दरूप हमारे मन

---

१. (i) वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ —वा. प., १.१२५।
(ii) तुल०—इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ —काव्या., १.४।

२. (i) तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्राः सुनिश्रिताः। —वा. प., १.१२०।
(ii) संविज्ञातयदनिबन्धनो हि सर्वोऽर्थः शब्देन निरूप्यमाणो व्यवहारमवतरति।
—पु. रा., पृ ४५।

३. सदपि व्यवहारेणानुपगृहीतमसता तुल्यम्। अत्यन्तासच्च लोके शशविषाणादि प्रासाविर्भावतिरोभावं च गन्धर्वनगरादि वाचा समुत्थाप्यमानं मुख्यसत्तायुक्तमिव तेषु तेषु कार्येषु प्रत्यवभासते। —पु. रा., पृ. ४६।

के संमुख कुछ विशेष पदार्थों को चित्रित करते हैं, जिनका उल्लेख प्राय: गम्भीर वार्तालाप में किया जाता है। आनुमानिक ज्ञान के आधार पर हम यह भी जानते हैं कि जलती हुई मशाल को तेजी से गोलाई में घुमाकर वास्तविक अग्निवृत्त जैसी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं की जा सकती; किन्तु यह मानना पड़ेगा कि 'अलातचक्र' शब्द के उच्चारण के साथ ही मन के सामने अग्निवृत्त जैसा कोई पदार्थ प्रकट हो जाता है, यद्यपि ऐसा कोई भी पदार्थ अत्यन्त असत् है।

वस्तुत: पदार्थों को प्रकाशित करने के विषय में व्यक्त-शब्दरूपों का जो महत्त्व है, उसमें अतिशयोक्ति की कोई गुंजाइश नहीं। एक अशिक्षित गड़रिया भी अपने पशुओं में परस्पर भेद करने के लिये व्यक्त-शब्दरूपों का प्रयोग करता है[१]। व्यक्त-शब्दरूपों द्वारा ही एक द्रव्य से बने हुए पदार्थों में परस्पर भेद किया जाता है[२]। अत्यन्त तकनीकी संगीत-श्रुतियों और लयों का भेद भी शाब्द-विवरणों द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है और इन विवरणों के प्रकाश में ही विद्यार्थी उनका बोध प्राप्त करता है। विना इन विवरणों के, मात्र अन्तर्दृष्टि के बल पर, इन सूक्ष्म भेदों को पकड़ पाना सम्भव नहीं[३]। बौद्धिक-अनुसन्धान के विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति शब्दों के माध्यम से ही हम तक पहुँचती है[४]। समस्त सामाजिक संव्यवहार व संप्रेषण अन्ततः व्यक्त-वाक् पर ही आधारित रहता है और केवल सामाजिक संव्यवहार में लक्षित बाह्य-चेतना ही नहीं, अपितु हमारी अन्तश्चेतना भी, यानी हमारी संज्ञानात्मक व सुखात्मक अनुभूतियाँ, अपने अनुरूपी शब्दरूपों से पृथक् कर देने पर दुर्बोध हो जाती हैं[५]। हमारी बुनियादी भावनाओं और धारणाओं का संप्रेषण भी शब्दों की सहायता के विना सम्भव नहीं। इसलिए भाषा के ज्ञान का अभाव मनुष्य को अचेतन-पदार्थों के स्तर पर ला देगा।

हमने वैयाकरण-द्वारा प्रयत्नपूर्वक पोषित इस स्थापना को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, कि कोई प्राथमिक अनुभव भी ऐसा नहीं है, जो किसी भाषागत अभिव्यक्ति से न जुड़ा हो। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक सम्भव-संज्ञान निर्धारणात्मक है और निर्धारक-तत्त्व एक व्यक्त-शब्दरूप ही है[६]। कोई भी संज्ञान जो एक व्यक्त-शब्दरूप

१. गोपालादयोऽपि हि निबन्धनपदानि प्रकल्प्य गवादिविशेषविषयं व्यवहारमीहन्ते।
—पु. रा., पृ. ४५।

२. अभिनिष्पन्नवस्तूनां समानाकाराणां विभागोऽपि वाक्कृत एव। —वही, पृ. ४८।

३. षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः। —वा. प., १.१२०।

४. सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पत्तौ सर्वं वस्तु विभज्यते॥ —वही, १.१२६।

५. सुखदुःखसंविन्मात्ररूपान्तःसंज्ञापि यावद्वाग्रूपतानुवृत्तिस्तावदेव भवति। बहिःसंज्ञा लोक-व्यवहारः, सोऽपि वागधीन एव.........न हि वाक्चैतन्यानाविष्टा संज्ञास्ति।
—पु. रा., पृ. ४८।

६. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ —वा. प., १.१२४।

के साथ जुड़ा हुआ नहीं है—यदि तर्क के लिए इसकी संभावना मान लें, तो भी अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर सकता और इसलिए एक अनुत्पन्न संज्ञान से भिन्न नहीं[1]। शिशु भी किसी वस्तु के संबन्ध में अपनी चेतना को कुछ व्यक्त-अभिव्यक्तियों के माध्यम से ही संप्रेषित करता है, चाहे ये अभिव्यक्तियाँ कितनी भी अस्पष्ट, अनिश्चित और सामान्य क्यों न हों[2]। आलोचकों ने यह दलील दी है, कि शिशु का ज्ञान भाषामय नहीं होता और इसलिए प्रत्येक संज्ञान को किसी न किसी शब्दरूप से जुड़ा बताने वाली वैयाकरण की स्थापना ग्राह्य नहीं हो सकती; किन्तु वैयाकरण के अनुसार भाषिक-अभिव्यक्ति के संस्कार शिशु में पूर्व-जन्मों से आते हैं। वर्तमान जीवन में पदार्थों का बोध होते ही उसके ये संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। यह प्राक्कल्पना कितनी भी विरोधाभासी लगे, नितान्त तर्कहीन नहीं है। यह तथ्य निश्चय ही गम्भीर विचार की अपेक्षा रखता है, कि जन्म के समय से ही नवजात शिशु जिह्वा-चालन और विभिन्न उच्चारणस्थानों में वायु का आधान करने की प्रक्रिया को जानता है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस जन्म में पहले कभी बालक को ऐसी प्रक्रिया नहीं सिखलाई गई। निःसन्देह बालक की पूर्वोक्त क्रियाएँ वाक्-संस्कारों (शब्दभावना) के परिणाम जैसी ही हैं। अतः इन्हें वाक्-संस्कारों का परिणाम मानना एक तर्कसंगत परिकल्पना होगी और इस प्रकार यह निष्कर्ष प्रबल होकर उभरता है कि बालक की ये सभी क्रियाएँ शब्दरूपों के उसके अव्यक्त-ज्ञान के कारण ही सम्भव हो पाती हैं, जो अन्य अनेक संस्कारों के साथ उसमें पूर्वजन्म से आए हैं, यद्यपि ये शब्दरूप अभी स्थूल विकास की अवस्था में नहीं पहुँचे हैं[3]।

अब यह भली-भाँति स्पष्ट हो चुका है कि व्यक्त-शब्दरूप प्रकाश की भाँति ही जगत् के विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। अब इतना भर कहना शेष है कि वे लौकिक स्तर पर शब्दब्रह्म के विकास-मात्र हैं। इतना सिद्ध हो जाने पर हम यह स्पष्ट कर सकते हैं, कि वैयाकरण द्वारा विश्वातीत-तत्त्व के रूप में अवधारित शब्दब्रह्म समस्त ज्ञान का स्रोत और प्रकाश का भी प्रकाशक कैसे हो सकता है।

इस प्रश्न का विवेचन भी रोचक होगा कि क्या वेदान्त की भाँति व्याकरण-दर्शन में भी परमतत्त्व को आनन्दरूप कहा गया है। वेदान्ती तार्किकों ने अकाट्यरूप

---

१. वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ —वा. प., १.१२५।

२. इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥ —वही, १.१२२।

३. (क) आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम्॥ —वही, १.१२३।

(ख) प्रथमोत्पन्नस्य बालस्याद्यमिन्द्रियविन्यासादि उपदेशाभावेऽपि ज्ञानसाध्यं जायमानं दृश्यते। तस्मादनादिज्ञानिशब्दपरिग्रहा शब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थितेति मन्तव्यम्। अर्थस्मरणस्यापि शब्दोल्लेखेनैव दर्शनात्। —पु. रा., पृ. ४६।

से यह सिद्ध किया है, कि आध्यात्मिक-सत्ता आनन्दरूप ही है, अन्यथा इसकी आध्यात्मिकता का समर्थन नहीं हो सकता[1]। फिर भी भर्तृहरि का कोई कथन हमें असंदिग्ध रूप से इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाता कि वे चैतन्य का आनन्द से अभेद मानने की तार्किक-अनिवार्यता के विषय में सचेत हैं। किन्तु जब वैयाकरण-दार्शनिक व्याकरणशास्त्र को मोक्ष का द्वार घोषित करता है, तो निश्चय ही वह इसे सामान्य से बहुत अधिक महत्त्व देता है[2]। पारस्परिक दृष्टिकोण के अनुसार व्याकरण का श्रद्धा-पूर्वक अध्ययन निश्चित रूप से आध्यात्मिक-ज्ञान का साधन है, जिसकी चरम-परिणति आत्मा की मुक्ति में होती है[3]। ज्ञान की यह स्थिति निश्चय ही आनन्दपूर्ण होगी। यदि लक्ष्य आनन्दरूप नहीं है, तो उसकी प्राप्ति के लिए कोई भी भला क्यों यत्न करेगा ? जिस क्षण इसका वर्णन आनन्द से भिन्न किसी वस्तु के रूप में किया जाएगा, उसी क्षण यह मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं रह सकेगा। पुण्यराज ने, सम्भवतः किसी प्राचीन-ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें शब्दब्रह्म की अवधारणा बन्धन की सभी शृङ्खलाओं से मुक्त एवं मुमुक्षुओं द्वारा उपास्य-तत्त्व के रूप में की गई है[4]। यदि मुक्ति दुःख से मुक्ति की सहवर्ती है और जैसी वेदान्त की मान्यता है, यदि दुःख से मुक्ति असीम आनन्द ही है, तो हम सर्वथा इसकी व्याख्या विशुद्ध-हर्ष एवं आनन्द के रूप में कर सकते हैं।

इसी प्रसंग में एक अन्य तथ्य की ओर संकेत करना भी उचित होगा। ऐसा प्रतीत होता है, कि हेलराज के विचार में भी वैयाकरण का ब्रह्म शुद्ध-आनन्द-स्वरूप है। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड पर अपनी टीका की प्रस्तावना में हेलाराज ने प्रतिभा का अत्यन्त काव्यमय वर्णन किया है। हेलाराज के अनुसार प्रतिभा[5] प्रकाशात्मक (या चैतन्यात्मक) और आनन्दमय है तथा हमारे भीतर इसका स्फुरण

---

१. आनन्दत्वे ज्ञानता ज्ञानतायामानन्दत्वं विद्यते निर्विशङ्कम्।
सत्याप्येवं नातिरेकावकाशः पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसौख्योपपत्तेः॥ —सं. शा. १.१८७।

२. तद्द्वारमपवर्गस्य......। —वा. प. १.१४।

३. (i) आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥ —वही, १.११।

(ii) इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥ —वही, १.१६।

४. (i) सोऽत्यन्तमुक्तो मोक्षाय मुमुक्षुभिरुपास्यते। —चारु., पृ. ७।
(ii) ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते॥ —पु. रा., पृ. ४९।

५. यस्मिन्संमुखतां प्रयाति रुचिरं कोऽप्यन्तरुज्जृम्भते
नेदीयान्महिमा मनस्यभिनवः पुंसः प्रकाशात्मनः।
तृप्तिं यत्परमां तनोति विषयास्वादं विना शाश्वतीं
धामानन्दसुधामयोजितवपुस्तत्प्रातिभं संस्तुमः॥ —हे. रा., पृ. १।

होने पर तेजोमय आत्मा अपनी संपूर्ण महिमा के साथ हमारे मन में प्रकाशित होती है और एक अभिनव-साक्षात्कार के रूप में मन को चमत्कृत कर देती है। तभी हम मानो अमृत के आस्वाद से उत्पन्न एक आनन्द का अनुभव करते हैं, जो इन्द्रियजन्य नहीं है और कभी फीका नहीं पड़ता। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है, कि पुण्यराज ने प्रतिभा को पश्यन्ती से अभिन्न माना है और यदि पश्यन्ती शब्दब्रह्म या परमतत्त्व का ही दूसरा नाम है[1], तो यह निष्कर्ष प्रबल रूप में उभरता है, कि प्रतिभा से इस प्रकार अभिन्न रूप में स्वीकृत शब्दब्रह्म भी असीम आनन्दस्वरूप है। पुनः यदि शब्दब्रह्म को पश्यन्ती से अभिन्न न मानकर परावाक् के रूप में माना जाए, तो भी कहा जा सकता है, कि पश्यन्ती और परावाक् तो एक ही सत्ता के दो पहलू हैं और जब पश्यन्ती को आनन्दस्वरूप कहा गया है, तो परावाक् का स्वरूप भी शुद्ध एवं निःसीम आनन्द से भिन्न नहीं हो सकता।

किन्तु जैसा पहले ही कहा जा चुका है, मूल वाक्यपदीय से इस सुझाव को कोई प्रत्यक्ष समर्थन नहीं मिलता, कि भर्तृहरि ब्रह्म को आनन्दस्वरूप मानते हैं। साथ ही पुण्यराज की टीका के अवलोकन से यह प्रतीत होता है, कि व्याकरणदर्शन में ब्रह्म आनन्दरूप नहीं है; वह सत् है और चित् है। इस विषय पर विस्तृत विचार आवश्यक है। भर्तृहरि ने कहा है कि शब्दयोग की प्रक्रिया द्वारा चरम-सत्ता को पाया जा सकता है। वैयाकरण के अनुसार शब्दसंस्कार का ज्ञान ही परमात्मा की प्राप्ति कहा जा सकता है[2]। वस्तुतः शब्दसंस्कार का अर्थ क्या है और इसे कैसे पाया जा सकता है? असाधु-शब्दों, जिनसे वैयाकरण का अभिप्राय अपभ्रंश-रूपों से है, का त्याग एवं साधु-शब्दों के प्रति निष्ठा ही शब्दसंस्कार है। पुण्यराज का कहना है कि साधु-शब्दों के प्रति अपवादरहित निष्ठा के परिणामस्वरूप क्रमशः एक विशेष प्रकार के पुण्य का उद्भव होता है, जो चिरन्तन आध्यात्मिक प्रगति की ओर अग्रसर करता है। साधु-शब्दों का प्रयोग हमें एक प्रकार के सविकल्प-योग में प्रवृत्त करता है, जिसका निर्धारक-तत्त्व शब्द-स्वरूप है। यह योग अन्ततः ब्रह्म को प्रकट करता है, जो सत्-तत्त्व है, सभी विकारों की योनि है और दृश्य-प्रपञ्च का मूल है। पुण्यराज यह भी बतलाते हैं कि इस साक्षात्कार के साथ ही साधक मानवजीवन का परम-पुरुषार्थ पा लेता है[3]।

---

१. यह अवधेय है कि भर्तृहरि अपने ग्रन्थ में कहीं भी परा-वाक् का उल्लेख नहीं करते हैं और विश्वातीत-तत्त्व का निर्देश पश्यन्ती के नाम से करते हैं। परवर्ती वैयाकरण संभवतः आगम-साहित्य के प्रभाव में, अपने संप्रदाय में भी परा का वर्णन ब्रह्म के रूप में करते हैं।

२. तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥—वा. प. १.१३३।

३. (i) व्यवस्थितसाधुत्वे हि शब्दतत्त्वे संस्क्रियमाणेऽपभ्रंशापगमादाविर्भूते धर्मविशेषे नियतोऽभ्युदयः। तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभातत्त्वप्रभवां भाव-

२

इस प्रसंग में यह भी अवधेय है कि साधक के जीवन की चरमावस्था को, जिसमें वह ब्रह्म के दर्शन से धन्य हो जाता है, पुण्यराज ने क्षेमप्राप्ति के रूप में वर्णित किया है। यह हमें वात्स्यायन का स्मरण दिलाता है, जिन्होंने अपने न्यायसूत्र-भाष्य में अपवर्ग का वर्णन क्षेमप्राप्ति के रूप में किया है[1]। न्यायदर्शन के अध्येता भली-भाँति जानते हैं कि इसमें परमतत्त्व आनन्दरूप नहीं है। वस्तुतः 'क्षेम' शब्द प्रायः कल्याण के अर्थ में प्रयुक्त होता है, न कि आनन्द के अर्थ में। अतः पुण्यराज के मत में, शब्दब्रह्म मानवजीवन का प्रधान हित प्रतीत होता है, इसे आनन्द से अभिन्न नहीं कहा गया। यह स्थिति सांख्य के सदृश ही प्रतीत होती है; जिसके अनुसार परमतत्त्व चित् तो है; किन्तु आनन्द नहीं। सांख्य के अनुसार आनन्द या हर्ष त्रैगुण्य में से एक गुण सत्त्व का परिणाम है। इसलिए इसे पुरुष से अभिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुरुष इसके परे है। वेदान्तियों का एक वर्ग यह मानता है, कि जो वैदिक उद्धरण प्रकट-रूप में ब्रह्म का वर्णन आनन्द के रूप में करते हैं, उनका मूल अभिप्राय इसे 'दुःख से मुक्त' बताना है। चित् और सत् अभिन्न हैं, क्योंकि असत्-चैतन्य एक कल्पना-मात्र होगा और सत् भी अनिवार्यतः चित् से अभिन्न होगा, क्योंकि भिन्न होने पर भी यह अधिक से अधिक चैतन्य की ही अन्तर्वस्तु होगा। कोई भी अन्तर्वस्तु चैतन्य से पूर्णतः भिन्न नहीं कही जा सकती, क्योंकि इससे अन्तर्वस्तु और गैर-अन्तर्वस्तु का भेद मिट जाएगा। अन्तर्वस्तु एक ज्ञात-तथ्य है और जो अज्ञात है, वह अन्तर्वस्तु नहीं है। किन्तु किसी वस्तु के अज्ञात होने का अर्थ क्या है? चैतन्य से जो सर्वथा पृथक् व असंबद्ध है, वही अज्ञात कहा जा सकता है। यदि अन्तर्वस्तु, यानी जो ज्ञात है, चेतना से उसी अर्थ में भिन्न कही जा सके, जिस अर्थ में एक अज्ञात पदार्थ भिन्न है, तब तो ज्ञात और अज्ञात का भेद ही मिट जाएगा। अतः अन्तर्वस्तु और चैतन्य का संबन्ध भेद का नहीं है। न ही यह सम्बन्ध अभेद का है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्तर्वस्तु और उसका आधार अभिन्न हो जाएँगे, जिसका अर्थ होगा अन्तर्वस्तु की मृत्यु। अनुभूत भेद और सम्बन्ध में निहित अभेद अन्तर्वस्तु को एक ऐसे सम्बन्ध में स्थापित करते हैं, जो तार्किक दृष्टि से अपरिभाष्य है और जो तार्किक-दृष्टि से अनिश्चित और अनिर्धारित है, वह एक आभास मात्र है, क्योंकि चिन्तन के नियमों के अनुसार वह सत्ता के नियमों के कथन का प्रकारभेद ही है। वास्तविक सत्ता अपने स्वरूप में अवश्य ही निश्चयात्मक होगी। इसलिये विसंगति की आपत्ति के निवारण के लिये सत्ता और चैतन्य को एक व अविभाज्य मानना होगा। मानवीय भाषा और संभवतः अवधारणात्मक-चिन्तन की सीमाओं के कारण इसे एक संपूर्ण-शब्द द्वारा अभिव्यक्त करना संभव नहीं।

विकारप्रकृतिसत्तां साध्यसाधनशक्तियुक्तां सम्यगवबुध्य नियतं क्षेममाप्नोतीत्यर्थः।

—पु. रा. पृ. ५१।

(ii) शब्दस्वरूपतत्त्वज्ञः क्रमसंहारेण योगं लभते साधुप्रयोगाच्चाभिव्यक्तधर्मविशेषो महान्तं शब्दात्मानमभिसम्भवं कैवल्यं प्राप्नोति।—वही, पृ. ८।

१. अभयमजरममृत्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति।—न्या. भा., न्या. सू., १.१.२२।

किन्तु आनन्द के प्रसंग में यह तार्किक-अनिवार्यता नहीं है। कोई सत्ता यदि आनन्दस्वरूप नहीं है, तो इसकी अवधारणा में असंगत कुछ नहीं है। आत्मा की आनन्दात्मक-प्रकृति का प्रमाण आत्मप्रेम के अनुभवमूलक साक्ष्य से मिलता है। आत्मा को आनन्दरूप कहने वाला वेदान्ती यह निष्कर्ष इस आधार पर निकालता है, कि मनुष्य अन्य सभी वस्तुओं के मुकाबले अपने आप को चाहता है; किन्तु आत्मा को दुःख से मुक्त मानकर भी आत्मप्रेम के तथ्य की व्याख्या व औचित्य-प्रतिपादन किया जा सकता है। हम दुःख से स्नेह नहीं कर सकते और हमारी प्रवृत्ति इससे वितृष्णा की है; किन्तु दुःख न हो तो वितृष्णा का अवसर ही नहीं होगा और वितृष्णा के अभाव का अर्थ भावात्मक-शब्दों में प्रेम लगा लिया जाता है। अतः आनन्द मात्र दुःख से मुक्ति है और कुछ नहीं। दुःख का अभाव ही इसका अर्थ है। दुःख का अभाव आत्मा का लक्षण कहा जा सकता है; किन्तु इससे द्वैतवाद की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अभाव कोई सत्ता नहीं है। यह अनस्ति (non-entity) है, जिसे हमारे चिन्तन के अवधारणात्मक अभ्यास के कारण कल्पित कर लिया जाता है और इस प्रकार सत्ता-मीमांसीय दृष्टि से एक तत्त्वीकृत कल्पना होने के नाते यह 'सत्' की एकता को प्रभावित नहीं करता। अतः परमतत्त्व के लक्षण-रूप में आनन्द का खण्डन अद्वैतवाद को अरक्षणीय या अबोध्य नहीं बना देता[1]।

पिछले अनुच्छेदों में हमने इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या शंकर और उनके अनुयायियों की भाँति वैयाकरण-दार्शनिक भी ब्रह्म की आनन्दमय प्रकृति का दावा करते हैं। हम देख चुके हैं कि हेलाराज के संबन्ध में ऐसा प्रतीत होता है, कि वे चरमतत्त्व को आनन्दरूप कह रहे हैं, जब कि पुण्यराज शायद ऐसा नहीं सोचते कि इसका आनन्द के साथ तादात्म्य हो सकता है। स्वयं भर्तृहरि के किसी अधिक सुनिश्चित कथन के अभाव में इस प्रश्न को खुला छोड़ देना ही उपयुक्त होगा।

शब्दब्रह्म का एक और महत्त्वपूर्ण लक्षण इसका अबाधित स्वातन्त्र्य है। इस स्वातन्त्र्य की प्रतिनिधि वैयाकरण की कालशक्ति है[2]। शब्द-ब्रह्मरूप में इससे तादात्म्य-भाव से संनिहित व परस्पर व्यावर्तक अन्य अनेकों शक्तियों या कलाओं में कालशक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है[3]। कालशक्ति को सभी शक्तियों में प्रधान मानने

---

१. (i) अन्ये मन्यन्ते द्विविधो धर्मः—भावरूपम्, अभावरूपञ्चेति। तत्राभावरूपा नाद्वैतं विघ्नन्ति, यथा—"एकममृतमजम्" इति········ ।—ब्र. सि. पृ. ४।
(ii) तस्माद् विज्ञानात्मनो ब्रह्मणो दुःखाभावोपाधिरेवानन्दशब्दः········ ।—वही।

२. अव्याहताः कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।—वा. प., १.३।

३. (i) शब्दतत्त्वे ब्रह्मण्येकत्वाविरोधिन्यः समुच्चिता आत्मभूताः शक्तयः सन्ति मिथो भिन्नाः········ ।—पु. रा., पृ. २।
(ii) न खलु जातिव्यक्तिवदन्याः शक्तयो ब्रह्मणो विद्यन्ते तत्तत् (तत् ?) प्रकाशवत् ।—वही।
(iii) ते चास्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वशक्ती नित्यमात्मभूते पृथगिव प्रत्यवभासेते ।—वही, पृ. २४.

का कारण यह है कि इसे उनके नियन्त्रक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे सभी इसके आदेश के अनुसार परिचालित होती हैं[१]। भिन्न-भिन्न कलाओं को अनेक प्रकार की क्षमताएँ माना जा सकता है, जो शब्दब्रह्म के विभिन्न लक्षणों, जैसे—विश्वरूपत्व, सर्वव्यापकत्व और सर्वज्ञत्व को स्पष्ट करती हैं[२]।

यह स्मरणीय है कि वैयाकरण की कालशक्ति और वैशेषिकदर्शन के काल को एक ही नहीं कहा जा सकता। वैशेषिकदर्शन में काल एक स्वतन्त्र और अतीन्द्रिय द्रव्य है। वैयाकरण की कालशक्ति शब्दब्रह्म की एक शक्ति है, जिसके कारण शब्दब्रह्म को शक्तिमान् कहा जाता है। फिर भी यह अवधेय है कि यद्यपि शब्दब्रह्म और कालशक्ति का सम्बन्ध द्रव्य एवं गुण का है, फिर भी अपनी मूल-प्रकृति में वे एक-दूसरे से पृथक् न होकर अभिन्न हैं। वस्तुतः वे दोनों एक ही सत्ता के दो क्षण या दो पहलू माने जा सकते हैं। शब्दब्रह्म और कालशक्ति—और वस्तुतः समस्त कलाओं के बीच का भेद मात्र एक आभास है, एक बौद्धिक कल्पना है, जिसका वस्तुसत्ता में कोई आधार नहीं है[३]।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह निगमित होना असंभावित नहीं कि वैयाकरण-दार्शनिक की स्थिति पूर्णतया अद्वैतवादी नहीं है। वैयाकरण-संप्रदाय की काल-शक्ति शांकरदर्शन में ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकृत अविद्या से भिन्न प्रतीत होती है[४]। शंकर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ब्रह्म की शक्ति

---

१. कालाख्येन स्वातन्त्र्येण सर्वाः परतन्त्रा जन्मादिमय्यः शक्तयस्तत्समाविष्टाः कालशक्तिवृत्तिमनुपतन्ति·········। सर्वेषां हि विकाराणां कारणान्तरेषु सत्स्वपि अपेक्षावशात् प्रतिबन्धजन्मनामभ्यनुज्ञया सहकारिकारणं कालः।—पु.रा., पृ. ३।

२. वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति वागेवार्थं संनिहितं तनोति।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ॥—वही, पृ. ४४।

३. (i) अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते। - वा. प., १.२।
(ii) शक्तिभ्यो च ब्रह्मणोऽपृथक्त्वेऽपि आरोपितः पृथक्त्वावभास इत्यर्थः········।
तद्वदेव च काल्पनिको भेदव्यवहार इति भावः।—पु. रा., पृ. ३।

४. ऐसा प्रतीत होता है कि पुण्यराज कालशक्ति को शांकरवेदान्त की अविद्या से अभिन्न मानते हैं। वैयाकरण के दर्शन में कालशक्ति एवं अविद्या (अविद्याशक्ति) का क्या स्थान है, और दोनों एक हैं या पृथक्, यह कह सकना बहुत कठिन है और चाहे वे एक हों या पृथक्-पृथक्, यह कहना भी बहुत कठिन है कि कालशक्ति को अद्वैत-वेदान्त की अविद्या से अभिन्न मानना कहाँ तक युक्तियुक्त होगा। हेलाराज का सुझाव शायद यह है कि वैयाकरण कालशक्ति और अविद्याशक्ति, दोनों को मानता है और यह भी कि इनके व्यापार अलग-अलग हैं। अर्थात् कालशक्ति जहाँ दृश्यप्रपञ्च को कालिकक्रम में नियन्त्रित करती हैं, वहीं अविद्याशक्ति ब्रह्म के दर्शन को आच्छादित

मिथ्या है, अर्थात् वह न सत् है, न असत् है; किन्तु वैयाकरण कालशक्ति को मिथ्या नहीं कहता। मात्र शब्दब्रह्म और कालशक्ति के भेद को ही आरोपित कहा गया है।

करके दृश्यप्रपञ्च का प्रक्षेपण करती है : 'तत्रैव क्रमाभासनं कालाख्यस्वातन्त्र्यशक्तिकृतमेव' (हे. रा. पृ. १३६); 'अप्रकाशस्तु तमोऽविद्या' (वही, पृ. ८९), 'सर्वस्मिन् परिदृश्यमानभेदजाते स्वभावात् सामान्यसमावेशादेकस्वभावे ब्रह्ममये चित्रेषु विकल्पेषु भावादिनानात्वेनानादिनियतिशक्तिनियमितेयमविद्यावशाद् व्यवस्था नानारूपा दृश्यते' (वही, पृ. १३०); 'क्रमेऽपि ब्रह्मणा भेदावभासनमविद्याकृतम्' (वही, पृ. १३६)। किन्तु इतना हेलाराज निश्चयात्मक शब्दों में कहते हैं कि ये दोनों शक्तियाँ मिथ्या हैं— वस्तुतः वे सभी शक्तियों को मिथ्या कहते हैं।''''''''अनिर्वाच्या हि भेदाभेदाभ्यां सर्वाः शक्तयः (वही, पृ. १७२)।

अब, पुण्यराज की इस संबन्ध में क्या मान्यता है ? वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में वे अविद्या का उल्लेख ब्रह्म की एक शक्ति के रूप में करते हैं, जो अनेकत्व की प्रपञ्चगत व्यवस्था को उत्पन्न करती है। यह असंदिग्ध रूप से निश्चित है कि इस जागतिक अनेकता को ब्रह्म से भिन्न—जिसमें और जिससे यह जन्म लेती है—अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह कहा गया है कि ब्रह्म एक और अविभाज्य तत्त्व है, जो शक्तियों के बहुत्व के कारण, जो न केवल इसमें अन्तर्निष्ठ है, अपितु इससे अपृथक् भी कही गई हैं, अनेक रूपों को धारण कर लेता है। इनका पृथक्त्व आभासमात्र है। तृतीय कारिका में शक्तियों का बहुत्व निश्चित रूप से कालशक्ति के साथ आबद्ध और उससे व्युत्पन्न माना गया है। पुनः चतुर्थ कारिका में बताया गया है कि भोक्ता, भोग और भोग्य—दूसरे शब्दों में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—के रूप में ब्रह्म को अनेकविध अभिव्यक्ति कालशक्ति के कारण ही है। इस प्रकार यथार्थतः कालशक्ति को आद्य एवं मौलिक शक्ति के रूप में देखा गया है। अब, अविद्या भी ब्रह्म की शक्ति कही गई है, जो बहुत्व को संभव बनाती है। इन दो शक्तियों की स्थिति के बारे में पुण्यराज की अल्पभाषिता के कारण यह निश्चय करना कठिन है कि दोनों एक ही हैं अथवा पृथक्-पृथक्। मूल-ग्रन्थों से निश्चित वाक्य उपलब्ध न होने तक अनिश्चयात्मक रुख रखना ही अधिक उचित होगा। शंकर की भाँति अविद्या को आद्यशक्ति और कालशक्ति व अन्य शक्तियों को व्युत्पादित कह देना हमें निरापद नहीं लगता। निःसंदेह, इस दूसरे पक्ष में दार्शनिक सरलता व स्पष्टता के गुण मौजूद हैं; किन्तु एक संप्रदाय की स्थिति को दूसरे संप्रदाय की शैली की सहायता से व्याख्यात करना कोई निरापद प्रक्रिया नहीं है, भले ही दोनों किसी भी सीमा तक अनुरूप और समवर्गीय हों। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि भर्तृहरि के दर्शन से खूब परिचित उनके परवर्ती शंकर, ऐसा नहीं समझते थे कि वे और भर्तृहरि एक ही विचारधारा को मानने वाले थे। शंकराचार्य द्वारा भर्तृहरि के स्फोटवाद की प्रतिकूल आलोचना से यह बात बिलकुल स्पष्ट है। यह उनके बीच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर है और बहुत संभव है कि प्रत्ययवादी दर्शन के इन दो आचार्यों के बीच भेद के दूसरे भी मुद्दे हों। संक्षेप में,

मोक्षप्राप्ति के समय जब विवेकपूर्ण ज्ञान के उदय होने पर यह प्रतीयमान भेद दूर हो जाता है, तो कालशक्ति शांकरवेदान्त की अविद्या की भाँति लुप्त नहीं हो जाती। इसका कारण स्पष्ट है। विवेकपूर्ण ज्ञान अविद्या के अन्धकार को तो नष्ट कर सकता है; किन्तु कालशक्ति को, जो एक शाश्वत तत्त्व है, नहीं नकार सकता। इस स्थिति में यदि यह निष्कर्ष निकाल लिया जाय कि वैयाकरण अपने दर्शन में अविशिष्ट अद्वैत का प्रतिपादन नहीं करता, तो यह पूरी तरह असंगत नहीं है। इस प्रश्न पर विस्तृत विचार से पूर्व प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि वैयाकरण अद्वैतवाद का शंकर जितना ही प्रबल पक्षधर है[1]। यद्यपि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर इनके बीच मतभेद है। वैयाकरण जब शब्दब्रह्म और कालशक्ति, दोनों को शाश्वत सत्य कहता है, तो वह द्वैतवाद के पक्ष का अनुमोदन नहीं करता और शक्तियों अथवा

काल और अविद्या इन दो शक्तियों के अभेद या भेद की पुष्टि करने वाले निश्चित वक्तव्यों के अभाव में हम इस प्रश्न को खुला ही छोड़ते हैं। वैसे, महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज के विचार से दोनों सर्वथा भिन्न हैं, ऐसा उनके शब्दों से स्पष्ट होता है : "इनमें अविद्या, जो न केवल मूल-प्रकृति को आच्छादित, अपितु अनेकत्व को प्रदर्शित करने वाली शक्ति है, एवं काल, जो शब्दब्रह्म की नित्य कलाओं को प्रक्षेपित करने वाली शक्ति है, प्रमुख मानी जा सकती हैं"।—एनल्स, वर्ष ५, पृ १२।

किन्तु दोनों अभिन्न हों या भिन्न, पुण्यराज एवं हेलाराज, दोनों के मत में वे वास्तविक न होकर मिथ्या हैं। बहरहाल, वाक्यपदीय का मूलपाठ टीकाकारों के मत का समर्थन करता नहीं प्रतीत होता। भर्तृहरि ने कालशक्ति को मिथ्या नहीं कहा। यह बिल्कुल साफ़ तौर पर लगता है कि शब्दब्रह्म की सभी शक्तियाँ वास्तविक हैं और ऐसा कहते समय हम कालशक्ति और अविद्याशक्ति—यदि इसे कालशक्ति से भिन्न माना जाए—के पक्ष के बारे में भी सचेत हैं।

ब्रह्म की शक्तियों के सम्बन्ध में भर्तृहरि की क्या अवधारणा है, इस विषय में पर्याप्त जानकारी की कमी ही उनके दार्शनिक सिद्धान्त की अनेक प्रकार की व्याख्याओं के लिये उत्तरदायी है। वस्तुतः, ब्रह्म की शक्तियों को सत्य माने विना उस विचार-धारा की स्थिति को स्पष्ट नहीं किया जा सकता, जो परिणामवाद के प्रकाश में उनके दर्शन की व्याख्या देने का प्रयास करती है। भर्तृहरि के नितान्त प्रच्छन्न वक्तव्य से हम इतना ही समझ पाते हैं कि अपनी मूल-प्रकृति में शब्दब्रह्म एक है, जो शक्तियों के कारण, जो इससे पृथक् नहीं हैं, बहुत्व धारण कर लेता है।

१. (i) एकमेव यदाम्नातम्। —वा. प., १.२।

(ii) तत्सर्वं प्रकृत्येकत्वादेकमित्याम्नातम्, "एकमेवाद्वितीयम्", "प्रणव एवैकस्त्रेधाऽभिव्यज्यते इत्यादिश्रुतिभिः"। —पु. रा., पृ. २।

(iii) यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते॥ —वही, पृ. ५१।

कलाओं के असीम बहुत्व की संकल्पना करने पर वह बहुवादी नहीं हो जाता। हम पहले निश्चित तौर पर कह चुके हैं कि शब्दब्रह्म, कालशक्ति और कलाएँ, ये सभी तत्त्वतः अभिन्न हैं और इस प्रकार व्याकरणदर्शन में परमतत्त्व अस्तित्व की निरुपाधिक और अविशेषित एकता है; किन्तु साथ ही यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वैयाकरण की स्थिति अद्वैतवादी होने पर भी यह वही स्थिति नहीं है, जो शंकर की है। वह महान् वेदान्ती अपने दर्शन में परमतत्त्व को शक्तियों के अपरिमित बहुत्व से युक्त नहीं मानता। चरम एकत्व में बहुत्व की ऐसी अवधारणा शंकर को कदापि स्वीकार्य नहीं है; क्योंकि एकत्व और अनेकत्व का अभेद उनके विचार में तार्किक दृष्टि से अवधार्य नहीं। इस प्रकार शब्दब्रह्म एक अतार्किक अथवा तर्कातीत तत्त्व है। वैयाकरण के पक्ष को विशिष्टाद्वैत के रूप में अवधारित करना उसके प्रति अन्याय होगा, क्योंकि वह शक्तियों के तात्त्विक-भेद को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करता है[1]। शक्तियों का बहुवाद परमार्थिक-बहुवाद नहीं है, अपितु तार्किक व्याख्या के नियमों की आवश्यकता के कारण ही इसे अस्तित्व में लाया गया है। अतः तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से शब्दब्रह्म पूर्णतः एक अद्वैत-तत्त्व है और बहुवाद प्रपञ्चगत बहुत्व के नियत-पूर्ववर्ती के रूप में कार्य करने वाली एक तार्किक संरचना मात्र है[2]।

वैयाकरण ने चरम-मोक्ष के मार्ग और स्वरूप का जो वर्णन किया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है कि वह अद्वैतात्मक-प्रत्ययवाद का प्रबल अनुयायी है। महाभाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं कि व्यक्ति की यथार्थ-आत्मा नित्य शब्दतत्व – शुद्ध-चैतन्य में प्राप्य है एवं व्यावहारिक-आत्मा उसकी प्रतिच्छाया-मात्र है[3]। परमतत्त्व के काव्यमय वर्णन में इसे महावृषभ कहा गया है[4], जो सभी जीवों में स्वलक्षण-तत्त्व के एकरूप अपरिवर्तनीय और स्थिर आध्यात्मिक प्रकाश के रूप में विद्यमान रहता है और फिर भी विभिन्न शक्तियों से युक्त होने के नाते, यह अनेकता वाले दृश्य-प्रपञ्च व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों का ही कारण एवं नियत-पूर्ववर्ती है। व्यावहारिक आत्मा, जो अलौकिक-साक्षात्कार के पूर्व तार्किक एवं ज्ञानमीमांसीय कर्ता है, अहंकार और उपाधि के बन्धन को विघटित करने वाले आध्यात्मिक अनुशासन से गुजरने के उपरान्त प्रबोध प्राप्त करता है। यह प्रबोध जीवात्मा एवं ब्रह्म के ऐक्य का बोध प्राप्त कर लेने में निहित है एवं यही बोध जीवात्मा का परब्रह्म के साथ विलय कराता है। वाक्तत्त्व, अर्थात् मलों से मुक्त शब्दब्रह्म,

---

१. एकत्वाविरोधिन्यः समुच्चिता आत्मभूता शक्तयः सन्ति मिथो भिन्नाः तद्भेदारोपेण भिन्नं पृथग्रूपमित्यर्थः।—वही, पृ. २।

२. अव्याहताः कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥

३. ....आद्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही।—पु रा., पृ ५०।

४. (i) वृषभो वर्षणात्........महान् देवः शब्दः।—म. भा. १. पृ. ३७-३८।
(ii) प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।—वा.प., १.१३२।

का ध्यान ही इस पूर्णत्व तक पहुँचाने वाला अनुशासन है। व्याकरणिक अशुद्धियाँ आध्यात्मिक-च्युति की सूचक हैं और अशुद्ध प्रयोगों का परिष्कार अन्ततः एक आध्यात्मिक-सामर्थ्य एवं नैतिक-शक्ति को जन्म देता है। इस शुद्धरूप का बारम्बार मनन करने पर साधक ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेता है, जहाँ उसमें परम-तत्त्व की अन्तःप्रज्ञा उदित होती है। इससे उसे उन शक्तियों सहित चरम-सत्य का संपूर्ण दर्शन प्राप्त होता है, जो सृष्टि-क्रम की उत्पादक कारण हैं। इस दर्शन की परिणति ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य में होती है और यही परमपुरुषार्थ है। ध्यान की प्रक्रिया की विधि और सत्य के साक्षात्कार और अन्ततः उसके साथ ऐक्य में इसकी परिणति का विशद वर्णन पुण्यराज द्वारा उद्धृत एक प्राचीन ग्रन्थ में मिलता है—"बाह्य विषयों से मन को हटाकर एवं अपनी आन्तरप्रकृति पर इसे स्थिर करके साधक वाक् के सार—विशुद्ध शब्दतत्त्व तक पहुँचता है, जो प्राण के धरातल से परे है। इसके लिए चिन्तन-व्यापार के कालिक क्रम का विघटन आवश्यक है। इसके परिणामस्वरूप शब्दतत्त्व (अर्थात् चैतन्य का नित्य प्रकाश, जो प्रमाता में सदा दमकता रहता है) का संस्कार होता है और साधक भौतिक वस्तुनिष्ठ धरातल के साथ अपने सभी सूत्रों को तोड़ने के उपरान्त इसमें प्रवेश करता है। इससे इसे आन्तरिक-प्रकाश की प्राप्ति होती है और सभी बन्धनों व उपाधियों से मुक्त होकर वह उस परमज्योति अर्थात् नित्य-शब्दतत्त्व के साथ एक हो जाता है, जो अमर एवं अजर आत्मा है और जिसे शब्दब्रह्म कहते हैं[1]"। साफ है कि जीवात्मा के विश्वात्मा में लीन हो जाने, व्यक्ति-चैतन्य के परमचैतन्य अथवा परमतत्त्व के साथ एकाकार हो जाने की ऐसी संकल्पना की एक ही व्याख्या सम्भव है, कि जीव का ब्रह्म के साथ मूलप्रकृतिक अभेद है और ब्रह्म से परे और उससे भिन्न किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है और यही तो अद्वैत है।

ऐसा लगता है कि कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन के आचार्यों ने भी भर्तृहरि की दार्शनिक-दृष्टि का अनुसरण किया है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि शक्ति अपनी मूल-प्रकृति में शक्तिमान् से अभिन्न है और दोनों में परस्पर भेद नहीं है। जिस प्रकार अग्नि का दाहकत्व स्वयं अग्नि से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार विमर्शशक्ति एवं परम-शिव (परब्रह्म) मूलप्रकृति में एक और अभिन्न हैं[2]। यहाँ यह उल्लेख भी सामयिक

---

१. प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः।
क्रमसंहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि ॥
वाचः संस्कारमाधाय वाचः स्थाने निवेश्य च।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम् ॥
ज्योतिरान्तरमासाद्य च्छिन्नग्रन्थिपरिग्रहम् (हः?)।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥—पु. रा., पृ. ५१।

२. शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ॥—बो. पं., ३।

है कि विमर्शशक्ति का वर्णन स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप में किया गया है, जो अपने अधीनस्थ अन्य अनेक शक्तियों को समाविष्ट किये हुए है[1]। इस प्रकार सर्वप्रथम तो प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमशिव और विमर्श का संबन्ध व्याकरणदर्शन में शब्दब्रह्म और कालशक्ति के सम्बन्ध के समकक्ष है। दूसरे परमशिव की प्रमुखतम शक्ति के रूप में विमर्श का स्वरूप शब्दब्रह्म की प्रमुखतम शक्ति अर्थात् कालशक्ति के स्वरूप के समानान्तर ही है। तीसरे, विमर्श के प्रति समस्त शक्तियों के गुणत्व की संकल्पना की कालशक्ति द्वारा नियन्त्रित विभिन्न कलाओं की संकल्पना के साथ गहरी समानता है और अन्त में यह भी एक रोचक तथ्य है कि वैयाकरण ने अपने ग्रन्थ में 'मल' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। वेदान्तसाहित्य में इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और सांख्य एवं योग के साहित्य में भी यह बहुत कम मिलता है; किन्तु शैवों के आगमसाहित्य में इस शब्द ने एक विशेष अर्थ प्राप्त कर लिया है। भर्तृहरि कहते हैं कि व्याकरण शब्दों अथवा वाणी के मलों की चिकित्सा करता है[2]। पुनः वे कहते हैं कि शारीरिक, वाचिक एवं बौद्धिक मल की शुद्धि क्रमशः चिकित्सा, व्याकरण एवं दर्शनशास्त्र द्वारा की जानी चाहिए[3]। इसके अतिरिक्त पुण्यराज द्वारा उद्धृत एक प्राचीन ग्रन्थ में वर्णित किया गया है कि कैसे पश्यन्ती सदैव बाह्य मलों से संकीर्ण होने पर भी चन्द्रमा की अन्तिम कला की भाँति कभी पूर्णतः नहीं मिलती[4]। इन सब कारणों के आधार पर हम यह समझना चाहेंगे कि कश्मीरी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित आभासवाद का सिद्धान्त भर्तृहरि एवं उनके दार्शनिक संप्रदाय से ही प्रेरित रहा होगा। इन दो दार्शनिक संप्रदायों के बीच अत्यन्त घनिष्ठ संपर्क का आभास मिलता है।

आनुषंगिक रूप से यह स्मरण रखना भी उचित होगा कि शब्दब्रह्म को मूलप्रकृति में कालशक्ति—जिसे पुण्यराज व हेलाराज दोनों ही स्वातन्त्र्यशक्ति कहते हैं—से अभिन्न कहकर वैयाकरण यह बतलाना चाहता है कि उसके दर्शन में अनियंत्रित कर्तृत्व का लक्षण परमतत्त्व की मूलप्रकृति अथवा स्वरूप का घटक है। शंकर के विपरीत, वह परमतत्त्व को शक्ति की लीला के लिए मात्र अधिष्ठान अथवा निष्क्रिय आधारभूमि, नहीं मानता, अपितु स्वयं शक्ति ही मानता है। क्रियास्वातन्त्र्य शब्दब्रह्म में स्वाभाविक ही है; किन्तु शांकरदर्शन में ब्रह्म की अवधारणा को माया के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म एक निष्क्रिय आधार से बेहतर

---

१. "......स्वातन्त्र्यमेव केवलं विश्वोत्पत्तिसंहरणादौ मूर्धाभिषिक्तं तत्तदनन्तशक्तिनिचयानां क्रोडीकारित्वात्'...... ।—षट्त्रिंश., १ पर टीका।

२. '......'वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।—वा. प., १.१४।

३. कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः ।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥—वही, १.१४४।

४. सैषा संकोर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः ।
अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते ॥—पु. रा., पृ. ५७।

नहीं है, जिस पर अत्यन्त रहस्यात्मक ढंग से इससे जुड़ी हुई माया अपनी लीला करती है। माया न तो ब्रह्म से अभिन्न है और न भिन्न ही। क्रिया का सम्बन्ध माया से है, जिसके साथ सम्बन्ध में ब्रह्म को निष्क्रिय आधारभूमि माना जा सकता है। शांकर-दर्शन में माया ब्रह्म की सारभूत नहीं है और इसलिए इसे मिथ्या उपाधि ही माना जाता है। किन्तु इसके विपरीत, वैयाकरण की कालशक्ति शब्दब्रह्म से अभिन्न है और इसकी सारभूत ही है, जिसका अर्थ यह हुआ कि यह वास्तविक है।

शब्दब्रह्म के अनियन्त्रित स्वातन्त्र्य के लक्षण के साथ जुड़ी हुई इसकी एक अन्य विशेषता इसकी सर्वशक्तिमत्ता है[१]। शब्दब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, क्योंकि जब यह कार्य करना चाहता है, तो इसके सम्मुख कोई बाधा नहीं रह सकती[२]; किन्तु यह अवधेय है कि व्यवहार में इसकी असीमित कार्यशक्ति लौकिक आत्मा के परिसीमित क्षेत्र में ही नियत प्रतीत होती है[३]। शब्दब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता को एक बड़े सुन्दर उदाहरण से स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार ग्रीष्म के अन्त में वर्षा-ऋतु पृथ्वी पर भारी जलवर्षण करने वाले घने मेघों के ढेर एकत्र करती है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म भी कालशक्ति के माध्यम से तथाकथित कारणात्मक शक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार के पदार्थों का उत्पादन सम्भव बनाता है[४]। इस प्रकार शब्दब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का लक्षण इसके कर्तृत्वलक्षण को समझने में सहायक है, जिसके अधिकार से यह दृश्य-जगत् के विकास की व्यवस्था करता है। शब्दब्रह्म हमारे सभी असीम अनुभवों के पीछे जीवन्त, गत्यात्मक शक्ति का कार्य करता है। यह सभी कालों में सभी प्राणियों के भाग्यचक्र को गढ़ने और निर्देशन करने वाला नियामक-तत्त्व[५] है और अन्ततः समस्त क्रियाओं का स्रोत[६] है। किन्तु शब्दब्रह्म केवल उत्पत्ति और पालन का ही नहीं, अपितु विनाश का भी कर्त्ता है। समय पर वर्षा करके अन्न को उत्पन्न करने वाले बादल की भाँति ही शब्दब्रह्म जगत् के बहुविध पदार्थों को अस्तित्व में लाता है, तो अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक पदार्थ को जलाकर राख कर देने वाली अग्नि की भाँति यह प्रत्येक वस्तु पर अपने विनाशकारी प्रभाव का प्रयोग करके हरी-भरी भूमि को भी मरुस्थल में बदल देता है[७]।

---

१. ""सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः""""। —पु. रा., पृ. ५१।

२. """ ""सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः""""। —वही, पृ. ५०।

३. """"परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः""""। —वही।

४. प्रकृतित्वमपि प्रासान् विकारानाकरोति सः।
ऋतुधामेव ग्रीष्मान्ते महतो मेघसंप्लवान्॥ —वा. दे., पृ. ७।

५. (i) अन्तर्यामी स भूतानाम्। —वाद., पृ. ७।
(ii) अन्तर्यामी""""शब्दब्रह्म""""। —पु. रा., पृ. १८.।

६. आश्रयः सर्वभूतानाम्। —वही, पृ ५०।

७. """"पर्यन्यवदग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः। —वही, पृ. ५१।

पिछले अनुच्छेद में शब्दब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन स्पष्टतया इसे दृश्य-जगत् का निमित्तकारण सिद्ध करता है; किन्तु वेदान्ती की भाँति ही वैयाकरण शब्दब्रह्म को दृश्यजगत् का उपादान-कारण भी मानता है[१]। उपादान-कारण के रूप में शब्दब्रह्म के वर्णन से यह पूरी तरह समझ में आ जाता है कि इसे विश्वरूप और सर्वव्यापक क्यों कहा गया है। वैयाकरण के अनुसार शब्दब्रह्म बहुविध विकारों की अपरिवर्ती योनि है[२]। यह दृश्य-जगत्-रूपी विशाल और बढ़ते हुए वृक्ष के रूप में अङ्कुरित होने वाला एक बीज है[३]। यही भोग्य पदार्थों, भोक्ता जीवों, भोग के साधनों और स्वयं भोग की प्रक्रिया के रूप में असीम वैविध्य के उद्भव और विलयन का केन्द्र है[४]। केवल इतना ही नहीं शब्दब्रह्म वास्तविक प्रत्यगात्मा के रूप में न केवल प्रत्येक भोक्ता जीव में, अपितु ब्रह्माण्ड में उपलभ्यमान प्रत्येक अभिव्यक्ति के मूल में है। यह प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है और यत्र, तत्र, सर्वत्र अनुभूत है। जिस प्रकार वेदान्ती के मत में दृश्यजगत् के उपादान-कारण ब्रह्म की अथवा सांख्यों के मत में जगत् के उपादानकारण प्रकृति की अनुभूति प्रत्येक विवर्त या परिणाम में होती है, उसी प्रकार वैयाकरण द्वारा जगत् के उपादान-कारण के रूप में स्वीकृत शब्दब्रह्म की अवस्थिति प्रत्येक अभिव्यक्ति में अनुभव की जाती है[५]।

यहाँ इस विषय की चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा कि जगत् के विकास के सम्बन्ध में भर्तृहरि की अवधारणा को कारणता-सम्बन्ध के सुपरिचित मतों में से किसी एक के साथ निश्चितरूप से क्यों नहीं जोड़ा जा सकता। शब्दब्रह्म और उससे उद्भूत पदार्थों के बीच सम्बन्ध का क्या स्वरूप है? ऐसा लगता है, जैसे इस विषय पर किसी सुनिश्चित मत को प्रस्तुत करने में वैयाकरण की रुचि नहीं है। वह केवल

---

१. (i) इदानीं शब्दस्यैव जगन्मूलत्वं प्रपञ्चयति—

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते॥— वा. प., १.१ ९।

(ii) सर्वा अप्यर्थजातयः सूक्ष्मरूपेण शब्दाधिष्ठानाः। ताः किलात्माभिव्यक्तिमधिष्ठान-परिणामेन प्रतिलभमाना वाच्यवाचकभावरूपेण भेदेन प्रतीयते।—पु.रा., पृ. ४४।

२. ....अपरिणामा प्रकृतिः........।—वही, पृ. ५०।

३. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥—वा. प., १.४।

४. (i) ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥—पु. रा., पृ. २।

(ii) यदेतन्मण्डलं भास्वद् धाम चित्रस्य राधसः।
तद्भावमभिसंभूय विद्यायां प्रविलीयते॥—वही, पृ. ४६।

५. विभज्य बहुधात्मानं स छन्दस्यः प्रजापतिः।
छन्दोमयीभिर्मात्राभिर्बहुधैव विवेश तम्॥—वही, पृ. ४५।

इतना कहता है कि शब्दब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का निर्धारक एक शब्दरूप है। एक शब्दरूप के द्वारा निर्धारित पदार्थ की दूसरे पदार्थ के साथ भ्रान्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उस दूसरे पदार्थ का अवधारण एक अन्य शब्दरूप के द्वारा किया जाता है। पदार्थ, सूचित करने वाले शब्दरूप द्वारा मानो गढ़ा जाता है। यह तथ्य शब्द और पदार्थ के बीच घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसका वर्णन वैयाकरण कारणता-सम्बन्ध के रूप में करता है, जिसका आशय यह है कि पदार्थजगत् का उपादानकारण शब्दब्रह्म है।

किन्तु क्या शब्द के द्वारा निर्धारित पदार्थ स्वयं शब्द से भिन्न है अथवा दोनों प्रकृत्या अभिन्न हैं? वैयाकरण दोनों विकल्पों का संकेत करता है, किन्तु प्रश्न को खुला छोड़ देता है[1]। पुण्यराज ने इन दो मतों का विश्लेषण किया है, किन्तु भर्तृहरि का अपना मत क्या है, यह बतलाने का प्रयास वे नहीं करते। पुण्यराज बताते हैं कि एक दर्शन-सम्प्रदाय के मत में समस्त विकार या परिणाम कारण से अभिन्न हैं। सभी कार्य उन्हें जन्म देने वाले कारण की ही अभिव्यक्ति हैं और उन्हें इससे अपृथक् ही मानना चाहिए[2]। अन्य दार्शनिकों के अनुसार समस्त विकार विशुद्ध बौद्धिक संरचनाएँ हैं, किन्तु वे बाह्यता से आच्छादित मान लिये जाते हैं। उनकी अनेकता वास्तविकता में केवल एक आभास है और वे देश अथवा रूप द्वारा परिमेय नहीं हैं[3]। एक तीसरे मत के अनुसार विकार वस्तुतः एक चितितत्त्व के रूपान्तरण हैं[4]। पुण्यराज के अनुसार कारण और कार्य को अभिन्न मानने वाले मत की यह त्रिविध व्याख्या है। जहाँ तक कारण और कार्य को भिन्न-भिन्न सत्ताएँ मानने वाले मत का प्रश्न है, पुण्यराज एक द्विविध व्याख्या का उल्लेख करते हैं। कारण और कार्य की भिन्नता को तिल और उससे उत्पन्न तैल के दृष्टान्त से अथवा अग्नि और उससे फूटने वाली चिंगारी के दृष्टान्त द्वारा समझाया जा सकता है[5]। इसी प्रकार शब्दब्रह्म और उससे उद्भूत वस्तुजगत् एक-दूसरे से भिन्न हैं।

किन्तु भर्तृहरि कार्य और कारण के अभेद या भेद के प्रश्न पर चर्चा नहीं करते। वे केवल इतना कहते हैं कि शब्दब्रह्म दृश्यजगत् का उपादान-कारण है।

---

१. स्वमात्रा परमात्रा वा श्रुत्या प्रक्रम्यते यथा।
तथैव रूढतामेति तया ह्यर्थो विधीयते ॥—वा. प., १.१३०।

२. सर्वो हि विकार आत्ममात्रेति केषांचिद्दर्शनम्।—पु. रा., पृ ४९।

३. स च प्रतिपुरुषमन्तःसंनिविष्टो बाह्य इव प्रत्यवभासते, वस्तुतस्तस्यैकत्वादमूर्तत्वादरूपत्वाच्च व्यवहारमात्रमिदमन्तर्बहिरित्यपरेषां मतम्।—वही.।

४. एकस्य चितितत्त्वस्यायं परिणाम इत्यादि······· ।—वही.।

५. चैतन्यं भूतयोनिं तिलक्षोदरसवत् प्रविभज्यत इत्येकेषां मतम्। अन्येषां तु दर्शनं यथा महतोऽग्नेर्विस्फुलिङ्गाः सूक्ष्मा वायोरभ्रसंघातश्चन्द्रकान्ताद्विभागिन्यस्तोयधाराः पृथिव्या वा सावरोहप्रसवा न्यग्रोधा इत्येवमादि परमात्रावादिनां दर्शनम्।—वही.।

उनके इस मौन के कारण ही यह सम्भव हुआ है कि विभिन्न भारतीय क्रमबद्ध दर्शनों के परवर्ती आचार्यों ने उनके दर्शन की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। मण्डन मिश्र और जयन्त भट्ट ने ब्रह्म और वस्तुजगत् के बीच कारणात्मक-सम्बन्ध पर भर्तृहरि की दृष्टि के बारे में भिन्न-भिन्न व्याख्याओं को लेखबद्ध किया है। यह भर्तृहरि के मौन और अप्रतिबद्ध रुख का ही परिणाम है कि ब्रह्म और वस्तुजगत् के कारणात्मक संबंध पर, उनके दृष्टिकोण पर विचार करते समय प्रत्यास या अध्यास विवर्त और परिणाम समानरूप से सम्भावित व्याख्या के रूप में सुझाए जाते हैं[१]।

प्रकृत-विषय पर लौटते हुए, यद्यपि शब्दब्रह्म प्रत्येक पदार्थ एवं प्रत्येक प्राणी में अन्तर्निहित तत्त्व है, फिर भी इसमें कोई विकार नहीं होता, यह सदा अखण्ड और एकरूप रहता है। इसमें कोई भी विभाजन अथवा द्वैधीभाव नहीं हो सकता और यह किसी भी सीमाबद्धता का विषय नहीं है; किन्तु जैसे शान्त और गम्भीर एक समुद्र तूफान उठने पर असंख्य लहरों के रूप में व्यक्त होता है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म जो अपनी मूलप्रकृति में एकात्मक तत्त्व है, अविद्या के प्रभाव के द्वारा अनेकों प्राणियों और पदार्थों के रूप में रूपबहुत्व को धारण कर लेता है[२]। प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थ अपने भीतर व्याप्त उस एक को प्रकट किये विना नहीं रह सकता। स्वच्छ और रूपविहीन आकाश रोगग्रस्त दृष्टि वाले मनुष्य को विविध रंगों वाली मेहराबदार छत मालूम होता है[३]। इसी प्रकार अप्रबुद्ध व्यक्तियों की दृष्टि अविद्या द्वारा आच्छन्न होने के कारण वे एक और अपरिवर्ती शब्दब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को समझने में असफल रहते हैं[४]। यथार्थ एवं विवेकपूर्ण ज्ञान के उदित होने पर अविद्या का आवरण निश्चित रूप से हट जाएगा और हम सभी शब्दब्रह्म के दर्शन द्वारा धन्य होंगे।

शब्दब्रह्म के पूर्ववर्णित एकात्मक और अपरिवर्ती स्वरूप के आधार पर हम इसके स्थायित्व अथवा नित्यत्व के लक्षण को समझ सकते हैं। जो कुछ भी एक और अपरिवर्ती है, वह स्थायी भी है,[५] और जब हम कहते हैं कि भर्तृहरि के दर्शन में परमतत्त्व एक स्थायी और नित्य-तत्त्व है, तो हमें यह भी जोड़ देना चाहिये

---

१. (i) ''''''एकस्य शब्दात्मनः प्रत्यासात्परिणामाद्विवर्ताद्वेति।—वि. वि., पृ. २८७।
(ii) न्या. मं., पृ. १०२.

२. तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते।
अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम्॥—वा. बे., पृ. ७।

३. यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥—वही, पृ. ८।

४. तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते॥—वही।

५. इह द्वौ शब्दात्मानौ—कार्यो नित्यश्च।—पु. रा., पृ. ५०।

कि यह नित्यता बौद्धों द्वारा प्रतिपादित प्रवाह-नित्यता नहीं है, अपितु पारमार्थिक-नित्यता है।

शब्दब्रह्म का एक अन्य लक्षण इसकी सर्वज्ञता है। हम पहले कह चुके हैं कि शब्दब्रह्म प्रत्येक चेतन व जड़ पदार्थ में जीवात्मा के रूप में विद्यमान रहता है और इस रूप में यह हमारे समस्त आचार-व्यवहार का साक्षी है। यह सर्वत्र विद्यमान है और इसलिए कुछ भी इसकी दृष्टि से बच नहीं सकता। हम जो कुछ करते हैं, जिस समय करते हैं और जिस प्रकार करते हैं, उसके विषय में यह सदैव अवगत रहता है। जो कुछ भी होता है वह इसके सदा सजग अनुभव की पहुँच में होता है।

उपसंहार—

१. परमतत्त्व निर्विशेष चैतन्य है क्योंकि चैतन्य और शब्द अभिन्न हैं, यह निर्विशेष शब्द है। भर्तृहरि के दर्शन में चैतन्य और शब्द परस्पर विनिमेय संज्ञाएँ हैं। यहीं उनका वेदान्त से भेद है, यद्यपि ब्रह्म के एकात्मक स्वरूप के विषय में दोनों ही एकमत हैं।

२. किन्तु ब्रह्म के एकात्मक स्वरूप के विषय में एक आधारभूत भेद भी है। शाङ्करवेदान्त में एकत्व निर्विशेष और निरपेक्ष है और शक्तियों का बहुत्व मात्र एक आभास है, जिसकी कोई चरमता नहीं है। भर्तृहरि के दर्शन में शक्तियों के बहुत्व की शब्दब्रह्म से पृथक् कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और इस बहुत्व का प्रत्येक घटक शब्द के स्वरूप का भागी है, क्योंकि शक्तियाँ ब्रह्म में समवेत व इससे अभिन्न हैं।

ये भर्तृहरि के दर्शन की प्रधान विशेषताएँ प्रतीत होती हैं, जो उनके अपने शब्दों के आलोचनात्मक विवेचन से सामने आती हैं। किन्तु टीकाकारों ने मूल की व्याख्या शंकर की धारणाओं के हिसाब से की है। वे ब्रह्म और शक्तियों के सम्बन्ध को अनिर्वाच्य कहकर परिभाषित करते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि अभेद या भेद, अथवा सत्य या असत्य के रूप में इसकी तार्किक परिभाषा संभव नहीं है[२]। किन्तु भर्तृहरि के ग्रन्थ में हम ऐसा एक भी शब्द नहीं खोज पाते जिससे इस प्रकार की व्याख्या को कुछ भी बल मिल सके। भर्तृहरि ने कहीं ऐसा नहीं कहा कि ब्रह्म की शक्तियाँ वास्तविक नहीं हैं; बल्कि इसके विपरीत वे इस विषय में स्पष्टतया सकारात्मक हैं कि शब्दब्रह्म की शक्तियाँ शाश्वतरूप से सत्य हैं और अभेद-सम्बन्ध से नित्य विद्यमान हैं।

---

१. वागेवार्थं पश्यति········ ।—पु. रा., पृ. ४४ ।

२. (i) तत्त्वान्यत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां चानिर्वाच्या शक्तिरूपा········ ।—वही, पृ. ३ ।

(ii) ········अनिर्वाच्या एव भेदाभेदाभ्यां सर्वाः शक्तयः ।—हे. रा., पृ. १७२ ।

३. ब्रह्म से उद्भूत और इसमें घटित होने वाली विकास की प्रक्रिया ब्रह्म में सत् के परिवर्तन की अपेक्षा नहीं रखती। बहुत्व के साथ अभिन्न होने पर भी ब्रह्म अपने सहज एकत्व से किसी भी अवस्था में च्युत नहीं होता।

४. भर्तृहरि का ब्रह्म एक गत्यात्मक तत्त्व प्रतीत होता है। यह अपने आपमें से जगत् को उत्पन्न करता है। जो कुछ भी अस्तित्व में है, उस सबका यह उपादान एवं निमित्त-कारण है। यद्यपि शंकर ब्रह्म को एक साथ ही उपादान एवं निमित्त-कारण कहेंगे, तो भी कारणता की अवधारणा अपनी संपूर्ण वास्तविकता में इस पर लागू नहीं होती। यदि शंकर के तत्त्वमीमांसीय पक्ष को सही-सही पारिभाषिक शब्दों में व्यक्त करना हो, तो हम ब्रह्म की संपूर्ण वास्तविकता में जगत् का कारण नहीं, अपितु कारण के रूप में प्रतीत होता हुआ कहेंगे। यहाँ जिस स्थिति का चित्रण हमने किया है, उसके मूल में ब्रह्म की ऐसी अवधारणा है, जहाँ वह बहुविध शक्तियों से युक्त है, जो ब्रह्म जितनी ही सत्य हैं।



द्वितीयोन्मेष

परमशक्ति

प्रथम उन्मेष में हमने देखा कि शब्दब्रह्म और उसकी शक्तियाँ अपनी मूलप्रकृति में अभिन्न हैं[1] और उनके बीच का भेद कोरी कल्पनामात्र है[2]। पारमार्थिक स्तर पर इस भेद का भी अनुभव नहीं होता और शक्तियों का बहुत्व शब्दब्रह्म के एकत्व का निराकरण नहीं करता[3]। किन्तु जब हम दृश्यप्रपञ्च की व्यावहारिक भूमि पर उतरते हैं, तो शब्दब्रह्म की शक्तियों को उससे पृथक्कृत देखते हैं और कार्यरत होने पर ये शक्तियाँ अनेकधर्मा वस्तुनिष्ठ जगत् की उद्गम बन जाती हैं[4]। शब्दब्रह्म शक्तियों की अखण्ड समग्रता के रूप में जाना जाता है, जो दृश्यप्रपञ्च के प्रक्षेपण से पूर्व इसमें निविष्ट होकर रहती हैं। यह शब्दब्रह्म उपादान-कारण माना गया है, जिसमें से प्रपञ्च का विकास होता है। इस प्रकार वैयाकरण के मत में वस्तुनिष्ठ-जगत् शब्दब्रह्म की अनेक शक्तियों की अभिव्यक्ति है। अतः किसी भी पदार्थ, जैसे घट का विवरण अनेक शक्तियों के रूप में दिया जा सकता है, जिनमें औरों के साथ ही उसकी जलानयन की सामर्थ्य भी सम्मिलित है[5]। इसलिए यह सर्वथा उपयुक्त है कि भर्तृहरि ने काल, दिक्, क्रिया और साधन या कारक जैसे प्रवर्गों को केवल अलग-अलग शक्ति माना है[6]। किन्तु साथ ही, वैयाकरण-दार्शनिक यह कहना भी नहीं

१. सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः।—वा. प., ३.१.२२।

२. (i) एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते॥—वही, १.२।

(ii) शक्तिभ्यो ब्रह्मणोऽपृथक्त्वेऽप्यारोपितः पृथक्त्वावभासः।—पु. रा., पृ. २।

३. (i) तन्नित्यं शब्दवाच्यं तच्छब्दतत्त्वं न भिद्यते।—वा. प., ३.२.११।

(ii) परमार्थे तु नैकत्वं पृथक्त्वाद्भिन्नलक्षणम्।
पृथक्त्वैकत्वरूपेण तत्त्वमेव प्रकाशते॥—वही, ३.७.३९।

(iii) पृथक्त्वाद्भिन्नलक्षणं पृथक्त्वव्यतिरिक्तं नैकत्वमस्ति, पृथक्त्वैकत्वरूपणं हि तत्त्वमेव प्रकाशते।—हे. रा., पृ. २००।

४. शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मणः।
सर्वथा सर्वथाभावात् क्वचित्किञ्चिद्विवक्ष्यते॥—वा. प., ३.७.२।

५. घटादयो भावा विश्वशब्दवाच्यास्ते च तत्तदुदकहरणादिकार्यसाधिकानां शक्तीनां समूहरूपाः। अत एव ताः शक्तयस्तत्र मात्राभागा इति शक्तिसमाहारमात्रं घटादयः।—हे.रा, पृ. १७४।

६. (i) शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थिताः।
दिक्साधनं क्रिया काल इति वस्त्वभिधायिनः॥—वा. प., ३.५.१।

(ii) नित्याः षट् शक्तयोऽन्येषाम्.........।—वही, ३.७.३५।

भूलता कि किसी पदार्थ या सत्ता को संघटित करने वाली सभी शक्तियों का बोध युगपत् नहीं होता; क्योंकि वैसी स्थिति में वे परस्पर इस प्रकार घुल-मिल जायेंगी कि उनका पृथक् ग्रहण लगभग असंभव हो जाएगा और फिर किसी पदार्थविशेष को समझना और पहचानना कठिन हो जाएगा। किसी भी पदार्थ का बोध एक ऐसी शक्तिविशेष के ही सन्दर्भ में होता है, जिसे वक्ता बतलाना चाहता है। इससे यह आशंका दूर हो जाती है कि शक्तियों के सांकर्य के कारण पदार्थ के अभिज्ञान में भ्रान्ति हो सकती है[1]।

यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि अविद्या के अतिरिक्त भर्तृहरि शब्दब्रह्म की दो शक्तियों, काल और दिक् को विशेषरूप से अधिक महत्त्व देते हैं[2]। स्वयं चैतन्य की ही भाँति, हम इन दो शक्तियों—काल और दिक् को अस्वीकार नहीं कर सकते। समस्त ज्ञान की अपरिहार्य पूर्वपीठिका के रूप में इनका बोध सार्वत्रिक एवं अनिवार्य रूप से होता है। पौर्वापर्य की धारणाएँ हमारी सभी दैनिक क्रियाओं की अनिवार्य अंग हैं और उनको काल एवं दिक् के सन्दर्भ में ही स्पष्ट किया जा सकता है। यदि हम सृष्टिक्रम का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि दिक् और काल की दो समानान्तर रेखाएँ इसमें व्याप्त हैं और इन दोनों शक्तियों में भी कालशक्ति वैयाकरण के अनुसार अधिक मूलभूत है, क्योंकि उसके कथनानुसार दूसरी सभी शक्तियाँ इसके अधीन हैं और यह उनका शासन एवं नियमन करती है[3]।

शब्दब्रह्म को महासामान्य या महासत्ता कहा गया है, क्योंकि यह सभी विकासजों में व्याप्त है एवं जगत् के स्थितिकाल में आद्योपान्त तथा उसके विलयन के बाद भी विद्यमान रहता है; यह किसी भी ब्रह्माण्डीय उथल-पुथल के बावजूद शान्त और अविचलित रहता है और शुद्ध चैतन्यस्वरूप है[4]। यह सभी शब्दों का सामान्य अर्थ है, निम्नतर-सामान्य इस उच्चतम सामान्य के ही रूपान्तरण हैं, जो कि उनमें मूलतत्त्व के रूप में व्याप्त है। हम पहले वस्तुनिष्ठ-जगत् की शब्दब्रह्म की शक्तियों का प्रक्षेपण कह चुके हैं; अब यह परीक्षण करना बाकी है कि शब्दब्रह्म की शक्तियों के प्रक्षेपण का मूल कारण क्या है। निश्चितरूप से यह अविद्या ही है, जो ब्रह्म के एकत्व

---

१. तेनानेकशक्तेरपि पदार्थस्य सत्येव तथा स्थानेऽपि काचिच्छक्तिः क्वचिदुद्भूता विवक्ष्यत इति घटं पश्य, घटेनोदकमानय, घटे उदकं निधेहि इत्यादिकर्मकरणादिभावो नियमेनोपपद्यत इति न कारकसांकर्यप्रसंगः।—हे. रा., पृ. २९।

२. चैतन्यवत्स्थिता लोके दिक्कालपरिकल्पना।
प्रकृतिं प्राणिनां तां हि कोऽन्यथा स्थापयिष्यति॥—वा. प., ३.६.१८।

३. कालाख्येन स्वातन्त्र्येण सर्वाः परतन्त्रा जन्मादिमय्यश्शक्तयस्तत्समाविष्टाः कालशक्तिवृत्तिमनुपतन्ति ......।—पु. रा., पृ. २।

४. अन्या परा प्रकृतिस्सत्या सर्वविकारानुयायिनी प्रशान्तकल्लोला चिदेकघना ब्रह्मेत्यागमविदाः......। चित्सामान्यस्य सर्वत्रानुगमादेव महासत्तारूपमभावप्रतियोगि ......।
—हे. रा., पृ. २९।

के दर्शन का निवारण कर उसके अनेकविध रूपान्तरणों का सूत्रपात करती है[1]। यद्यपि चरम-सत्ता की भाँति अविद्या भी एकात्मक तत्त्व है, तथापि यह प्रपञ्च-बहुत्व का प्रदर्शन अपने 'सत्' के भीतर ही करती है और इसलिये अनेकरूप प्रतीत होती है। किन्तु एक अन्य प्रश्न यहाँ प्रासंगिक है—शब्दब्रह्म तो क्रम की धारणा द्वारा अप्रभावित है। फिर वह क्या है, जो शब्दब्रह्म को एक ही समय में अनेक रूपान्तरणों में परिणत होने से रोकता है[2]। यह प्रश्न भर्तृहरि द्वारा प्रत्याशित है और इसलिए उन्होंने कालशक्ति का उपन्यास किया है, जो अन्य सभी शक्तियों की भाँति शब्दब्रह्म के 'सत्' में उससे अभिन्न रूप में तब तक अवस्थित रहती है, जब तक जगत् का विकास घटित नहीं होता। सृष्टि अथवा विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होते ही जब महासत्ता के रूप में वर्णित शब्दब्रह्म-विशेष सामान्यों के रूप में सत्ता के विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, तब वे सत्ता-रूप कालशक्ति के प्राभव के कारण एक विशिष्ट क्रम में अभिव्यक्त होते हैं[3]। यही कालशक्ति शब्दब्रह्म के विभिन्न रूपान्तरणों को एक ही समय में घटित होने से रोकती है और इस प्रकार उनमें सम्भावित परस्पर टकराव की स्थिति का परिहार करती है। कालशक्ति शब्दब्रह्म की शक्ति है, जो व्यावहरिक भूमि पर प्रत्येक क्रिया का निर्धारण करती है—यह प्रत्येक क्रिया के फलस्वरूप आविर्भूत अथवा तिरोहित होने वाले पदार्थों के क्रम का नियमन करती है। इस प्रकार एक अक्रम एकात्मक तत्त्व के रूप में अवधारित होने पर भी शब्दब्रह्म पौर्वापर्ययुक्त जागतिक क्रम के प्रक्षेपण में समर्थ हो जाता है[4]। यह सत्य है कि काल केवल जागतिक अस्तित्व के स्तर पर कार्य करता है और चरमसत्ता को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करता,[5] किन्तु यह भी सत्य है कि शब्दब्रह्म जब अपने में अन्तर्व्याप्त विभिन्न शक्तियों के रूप में विकसित होता है, तो विकास की क्रमसम्बन्धी व्यवस्था की व्याख्या

---

१. तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते ॥—वा. दे., पृ. ८ ।

२. यदि तर्हि स्वशक्तिमाहात्म्याज्जन्मादिरूपतया सत्तैवावभासते, कथं न युगपदवभासः । क्रमेणेति कथम् ।—हे. रा., पृ. ३ ।

३. (i) आत्मभूतः क्रमोऽप्यस्याः यत्रेदं कालदर्शनम् ।
पौर्वापर्यादिरूपेण प्रविभक्तमिव स्थितम् ॥—वा. प., ३. १. ३७ ।

(ii) क्रमाख्या हि कालशक्तिः ब्रह्मणो जन्मवत्सु पदार्थेषु जन्मादिक्रियाद्वारकमेव पौर्वापर्येणावभासोपगमविधायिनि ।—हे. रा., पृ. ३२ ।

४. (i) विकल्परूपं भजते तत्त्वमेवाविकल्पितम् ।
न चात्र कालभेदोऽस्ति कालभेदश्च गृह्यते ॥—वा. प., ३.२.८ ।

(ii) एवमकालकलितमपि तत्त्वमनादिनिधनं कालाख्यस्वतन्त्रशक्तिविनिवेशितप्रतिबन्धास्यनुज्ञावशाज्जन्मादिभावविकाराभिधीयमानपौर्वापर्यं चकास्ति ।—हे. रा., पृ. ९० ।

५. नित्यानां हि स्थितौ सहकारिण्याः कालशक्तेर्व्यापारो न विद्यते ।—पु. रा., पृ. ६७ ।

कालशक्ति के संदर्भ द्वारा संभव है। शब्दब्रह्म की सभी शक्तियाँ मात्र अन्तर्निष्ठ क्षमताएँ हैं, जो क्रियाशील किये जाने पर जगत् की रचना करती हैं[1]। इन शक्तियों को एक विशेष क्रम-व्यवस्था में प्रस्तुत कर कालशक्ति उन पर नियन्त्रण रखती है। इस प्रकार शब्दब्रह्म की अन्य सभी शक्तियाँ कालशक्ति के अधीन हैं। इसीलिये कालशक्ति का वर्णन स्वातन्त्र्य-शक्ति के रूप में किया गया है।

यहाँ यह अवधेय है शब्दब्रह्म एवं कालशक्ति एक ही सत्ता के दो भिन्न-भिन्न पहलू कहे जा सकते हैं। हमें बतलाया गया है कि शब्दब्रह्म की प्रधान अन्तर्निष्ठ शक्ति के रूप में परिकल्पित कालशक्ति मूल प्रकृति में इससे अभिन्न है। शक्तिमान् और शक्ति एक ही तत्त्व हैं। यद्यपि यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कालशक्ति को शक्ति मानने का यह तात्पर्य अवश्य निकलेगा कि यह शक्तिमान् के अधीन है। इस विषय में वैयाकरण का वेदान्त के साथ साम्य है, जिसके अनुसार अविद्या ब्रह्म पर आश्रित रहकर कार्य करती है; किन्तु इस बिन्दु पर मिलने के बावजूद दोनों दर्शनों में मतभेद का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। जहाँ वेदान्त में ब्रह्म और अविद्या का अभेद कभी भी चरम नहीं माना गया, वहीं वैयाकरण-सम्प्रदाय में शब्दब्रह्म एवं कालशक्ति के बीच अभेद की ही स्थापना का प्रयास किया गया है[2]।

हम पहले देख चुके हैं कि पारमार्थिक स्तर पर शब्दब्रह्म से अभिन्न यह कालशक्ति या प्रधान-शक्ति व्यावहारिक स्तर पर दो प्रकार से कार्य करती है। एक ओर तो यह अन्य सभी शक्तियों, यानी कलाशक्तियों की क्रियाओं पर सर्वोपरि नियन्त्रण रखती है और दूसरी ओर जगत् के विभिन्न पदार्थों को कालिक अनुक्रम में प्रस्तुत करती है। इस सम्बन्ध में वैयाकरण कहता है कि जब शब्दब्रह्म विभिन्न सांसारिक पदार्थों को इस प्रकार प्रस्तुत करता है, मानो वे चक्र की नेमि पर हों, तब इसे काल अथवा कालशक्ति कहा जाता है[3]। इस प्रकार कालशक्ति शब्दब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है और अपनी मूल-प्रकृति में क्रियाशील है। यह लगातार घूमती है और इसकी परिक्रमाओं और आवर्तनों में, जिन्हें हम ऋतुओं के नाम से जानते हैं, विभिन्न पदार्थ अथवा कार्य अपने-अपने कारणों के गर्भ से बाहर आते हैं[4]। कार्यों का यह प्रक्षेपण ही सृष्टिरचना है। इसीलिए वैयाकरण ने कालशक्ति की तुलना कठपुतलियों के खेल में सूत्रधार से की है, क्योंकि सृष्टिक्रम के सम्पूर्ण प्रदर्शन के संचालन

---

१. आत्मीया एव शक्त्यो योग्यताख्याः सत्तायास्तथाविधास्सन्ति चाभिः विश्वप्रपञ्चं रचयति।—हे. रा., पृ. ३४।

२. ·······इदानीं धर्मधर्मिणोरव्यतिरेकं भाविकमाश्रित्य······· ·····।—हे. रा., पृ. ३६२।

३. जलयन्त्रसमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः।
स कालः कलयन् सर्वाः कालाख्यां लभते विभुः॥—वा. प., ३.९.१४।

४. हेमन्तादिकालभेदापन्नेन कालेन साधनशक्तयः प्रतिबद्धास्ता एव वसन्तादिभावमनुप्राप्ताः स एवानुजानाति सृजति कालयति······· ·····।—हे. रा., पृ. ३४७।

के लिए पूर्णतः यही उत्तरदायी है[1]। कालशक्ति द्वारा जीवनी-शक्ति से अनुप्राणित हुए विना कारण अपने व्यापार में प्रवृत्त नहीं हो सकता। एक सुन्दर उदाहरण के माध्यम से वैयाकरण ने यह विचार व्यक्त किया है। बड़े पक्षियों को पकड़ने के लिए बहेलिए छोटे पक्षियों के पाँवों में डोर बाँध देते हैं[2]। पाँवों में डोर बँधे होने के कारण ये छोटे पक्षी एक निर्धारित क्षेत्र में उड़ सकते हैं, क्योंकि डोर की लम्बाई के आगे वे नहीं जा पाते। कभी-कभी वे उड़ने का प्रयास करते हैं और फिर भूमि पर फुदकते हैं, किन्तु उनकी सभी गतिविधियाँ उसी वृत्त में सीमित रहती हैं, जिसका व्यास उनके पाँव में बँधी डोरी की लम्बाई जितना है। जिस प्रकार ये डोरियाँ पक्षियों की चेष्टाओं पर नियन्त्रण रखती हैं, उसी प्रकार कालशक्ति भी विभिन्न पदार्थों के कारणों पर नियन्त्रण रखती है और कालशक्ति का यह नियन्त्रण केवल सृजन की घटना तक ही सीमित नहीं, अपितु उनकी स्थिति और विनाश में भी प्रभावी रहता है[3]। इसका अर्थ यह हुआ कि जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं विनाश कालशक्ति के आदेशानुसार ही होते हैं। जब तक कालशक्ति की सहायता न मिले, तब तक तथाकथित कारण-शक्तियाँ विभिन्न कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। कार्यों के उत्पन्न होने के बाद भी कारण-शक्तियाँ और कार्य, दोनों ही अपनी सत्ता के लिए कालशक्ति पर ही पूर्णतया निर्भर हैं। कालशक्ति द्वारा उनके विनाश की इच्छा होने पर ही उनकी सत्ता समाप्त होती है। यही कारण है कि कालशक्ति को सृष्टि, स्थिति और विनाश की विविध अवस्थाओं में दृश्यप्रपञ्च के निमित्तकारण अथवा प्रयोजक कर्ता के रूप में जाना जाता है[4]। इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर कालशक्ति अपने आप में सर्वोपरि है। इसके नियामक प्रभाव के विना संसार अव्यवस्था की स्थिति में पहुँच जाएगा[5]।

---

१. तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते।
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते ॥—वा. प., ३.९.४।

२. प्रतिबद्धाश्च यास्तेन चित्रा विश्वस्य वृत्तयः।
ताः स एवानुजानाति यथा तन्तुः शकुन्तिनः ॥—वही, १५।

३. (i) स्थितस्यानुग्रहस्तैस्तैर्धर्मैस्संसर्गिभिस्ततः।
प्रतिबन्धस्तिरोभावः प्रहाणमिति चात्मनः ॥—वही, ११।

(ii) अनुग्रहो वृद्धिलक्षणो भावात्मनश्च प्रतिबन्धस्स्वकार्यसामर्थ्यं तिरोभावोऽदर्शनं प्रहाणं विनश्यत्तेत्यादयस्सर्वा एव विकाराः कालाधीनो नियतसमयत्वात् ।—हे. रा., पृ ३४५।

४. (i) उत्पत्तौ च स्थितौ चापि विनाशे चापि तद्वताम्।
निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम् ॥—वा. प., ३.९.३।

(ii) वसन्तादिकाले सकलशक्तीनां प्रवृत्तिदर्शनात् तासां प्रयोजको हेतुर्निमित्तकारणं काल उन्नीयते।—हे. रा., पृ. ३४५।

५. यदि न प्रतिबध्नीयात् प्रतिबद्धं च नोत्सृजेत्।
अवस्था व्यतिकीर्येरन् पौर्वापर्यविनाकृताः ।।—वा. प., ३.९.५।

भर्तृहरि ने कालशक्ति के प्रभाव को बड़ी विशद रीति से दर्शाया है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह अपने किनारे पर पड़ी हुई घास, पत्तों और लताओं को बहा ले जाता है और फिर उन्हें वापिस किनारे पर पहुँचा देता है, उसी प्रकार कालशक्ति अनेक प्रकार से कार्य करते हुए विभिन्न पदार्थों का प्रक्षेपण और उनके असीम विकारों का सृजन करती है;[1] अथवा जिस प्रकार हमारी अवयवसन्धियों के माध्यम से हमारे भीतर विद्यमान प्राणवायु हमारी सभी शारीरिक चेष्टाओं का नियन्त्रण करती है, उसी प्रकार कालशक्ति विभिन्न पदार्थों की संघटना में व्याप्त रहती है और उन्हें प्रवर्तित अथवा अवरुद्ध कर उनके आविर्भाव या तिरोभाव को संभव बनाती है[2]। अतः यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि कालशक्ति सूर्य की गति का, नक्षत्रों के उदय और अस्त का तथा विभिन्न पदार्थों के जन्म के पूर्व महाभूतों के आविर्भाव तथा विलयन के अनन्तर उनके तिरोभाव का नियमन करती है[3]। इस दृष्टि से देखें तो इतनी अधिक शक्तिशाली कालशक्ति को उचित ही विश्वात्मा माना गया है[4]।

पहले कहा जा चुका है कि कारणात्मक शक्तियाँ पूर्णतः कालशक्ति के आदेशानुसार ही प्रवृत्त होती हैं। ये आदेश कालशक्ति के दो पक्षों, क्रम और जरा के रूप में प्रकट होते हैं। जब कालशक्ति कारणात्मक शक्तियों को अनुमति देती है कि वे कार्यों को उत्पन्न करें और उनके जीवन का निर्धारण करें, तो इसका क्रम वाला पक्ष व्यक्त होता है[5]। किन्तु जब कालशक्ति द्वारा अनुमति के निग्रह के कारण कार्यों की सत्ता निवृत्त हो जाती है, तब इसका जरा वाला पक्ष अभिव्यक्त होता है[6]। क्रम के रूप में कालशक्ति कारणों को सामर्थ्य प्रदान करती है और वे क्रियारत होकर कार्यों को उत्पन्न करते हैं। यह इन कार्यों की स्थिति की अवधि भी निर्धारित करती है[7]।

---

१. तृणपर्णलतादीनि यथा स्रोतोऽनुकर्षति।
प्रवर्तयति कालोऽपि मात्रा मात्रावतां तथा ॥—वा. प., ३.९.४१।

२. (i) आविश्यैवानुसन्धत्ते यथा गतिमतां गतिः।
वायुस्तथैव कालात्मा विधत्ते क्रमरूपताम् ॥—वा. प., ३.९.४२।

(ii) यथा प्राणाख्यो वायुः शरीरिणामन्तरावयवसन्धिष्ववस्थितो गमनागमनादिचेष्टाः साधयति, तथा कालात्मापि भावानामात्मानमनुप्रविश्य प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां निमज्जनोन्मज्जने कुर्वन् क्रमं पौर्वापर्यलक्षणं प्रकल्पयति।—हे. रा., पृ. ३५७।

३. अयनप्रविभागञ्च गतिञ्च ज्योतिषां ध्रुवा।
निवृत्तिप्रभवाश्चैव भूतानां तन्निबन्धनाः ॥—वा. प., ३.९.४३।

४. (i) काल एव च विश्वात्मा........।—वही, ३.९.१२।

(ii) सर्वोपरि कालो विश्वात्मेत्युच्यते।—हे. रा., पृ. ३५७।

५. ....सर्वत्र क्रमाख्या कालशक्तिः सव्यापारेत्यभ्यनुज्ञेयम्।—वही, पृ. ३४९।

६. इदानीं प्रतिबन्धलक्षणां कालवृत्तिं व्याचष्टे।—वही, पृ. ३५०।

७. तदेवं क्रमभाव्यनेककार्यकर्तृत्वं तत्सहकारिप्राप्तौ स्थितिलक्षणमुपपद्यते, तथा च स्थितिपर्यन्ताभ्यनुज्ञोपपत्तिः।—वही।

किन्तु जैसे ही कालशक्ति अपने जरा वाले रूप में प्रकट होती है, इसका क्रम वाला पक्ष स्तम्भित लगने लगता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जरा की पकड़ में आते ही समस्त पदार्थों में क्रमशः ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। कालशक्ति का यह पहलू प्रकट होते ही जीवन और वृद्धि की सभी शक्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। प्रज्ञा का क्षय एवं जीवनो-शक्तियों का निस्तेज हो जाना जरा के आगमन के स्पष्ट लक्षण हैं[१]। वे सहायक शक्तियाँ जो विभिन्न पदार्थों को विभिन्न प्रकार से व्यवहार करने में सहायता देती हैं और उनके पालन में भी योग देती हैं, जरा के आगमन के साथ ही लुप्त हो गई प्रतीत होती हैं[२]। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कालशक्ति के दोनों पक्ष—पहला, जिसके द्वारा कारण शक्तियों को व्यापारवान् किया जाता है और दूसरा, जिसके द्वारा उनका अवरोध होता है—नित्य माने गए हैं[३]। क्योंकि हम देखते हैं कि एक ओर जहाँ भावों का सतत आविर्भाव और वृद्धि होती रहती है, वहीं दूसरी ओर एक के बाद दूसरे पदार्थ का अविराम तिरोभाव व क्षय भी होता रहता है[४]।

कालशक्ति के ये दो पक्ष, क्रम और जरा, भावों के निरन्तर आविर्भाव व तिरोभाव के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं और इन्हीं के सन्दर्भ में कालशक्ति क्रम के धर्म से जुड़ी हुई प्रतीत होती है[५]। निश्चय ही क्रम का प्रश्न मुख्यतः क्रिया से और फिर उसके परिणामस्वरूप प्रकट और तिरोहित होने वाले भावों से जुड़ा हुआ है। कालशक्ति क्योंकि सभी क्रियाओं पर नियन्त्रण रखती है और उन्हें आनुक्रमिक

---

१. (i) जराख्या कालशक्तिर्या शक्त्यन्तरविरोधिनी।
सा शक्तिः प्रतिबध्नाति जायन्ते च विरोधिनः॥—वा. प., ३.९.२४।

(ii) जीर्यंते भावोऽनयेति जराख्या कालशक्तिः प्राण्यप्राणिसाधारण्येवानादिर्यैविनादि-शक्त्यन्तरप्रतिद्वन्द्विनी कार्यंव्यक्तीनां कालान्तरपरिपाकावधृतार्थक्रियासु सामर्थ्यं विघ्नयति, ततश्च सामर्थ्यविरोधिनोऽवस्थाविशेषः, प्राण्यप्राणिषु प्रज्ञामान्द्यशोषादयो यतः प्रध्वंसः प्रत्यासन्न इति लक्ष्यते।—हे. रा., पृ. ३५०।

२. (i) प्रयोजकास्तु ये भावा स्थितिभागस्य हेतवः।
तिरोभवन्ति ते सर्वे यत आत्मा प्रहीयते॥—वा. प., ३.९.२५।

(ii) यैः प्रवर्तिताः स्वकार्ये भावाः संसर्गिभिः सहकारिभिः स्थित्यंशस्य हेतवः ते सर्वेऽस्य जरसाधिष्ठितस्यैककल्पना इव सहोषिता अपि निवर्तन्ते तेषु निवृत्तेषु कृतकरणीय-स्यास्य भावस्य स्वरूपं च्यवते।—हे. रा., पृ. ३५१।

३. प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शाश्वती।
तया विभज्यमानोऽसौ भजते क्रमरूपताम्॥—वा. प., ३.९.३०।

४. ....भावेषु सततपरिणामिषु हि किञ्चित् प्रजायते किञ्चिदपक्षीयत इति नियतमेतत्।—हे. रा., पृ. ३५२।

५. ....तथा च कार्यनिवेशितः क्रमः काले समारोप्यते न त्वसौ तत्र भाविक इत्यर्थः।—वही।

रूप में प्रस्तुत करती है, इसलिये यह सोचना स्वाभाविक ही है कि क्रम अथवा अनुक्रम के धर्मों का कालशक्ति के साथ सम्बद्ध होना ही उपयुक्ततम होगा[१]। किन्तु परमार्थतः ये धर्म कदापि कालशक्ति के अंगभूत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि क्रम या अनुक्रम के साथ ही सहभाव के बारे में भी यह सब उतना ही सही है[२]। सहभाव क्रियाओं अथवा उनसे उत्पन्न पदार्थों का होता है। सहभाव को कालशक्ति से संबद्ध कहते समय हम परमार्थ की बात नहीं कहते, अपितु क्रियाओं अथवा पदार्थों के धर्मों को कालशक्ति पर आरोपित कर देते हैं, यद्यपि वास्तविकता में यह उनसे युक्त नहीं है।

यहाँ यह इंगित करना भी आवश्यक है कि कालशक्ति पर न केवल क्रम एवं सहभाव के धर्म ही आरोपित किये जाते हैं, अपितु बहुत्व की धारणा भी इसमें उपचरित होती है[३]। भर्तृहरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि समस्त चेष्टाओं, क्रियाओं को नियन्त्रित करने वाली कालशक्ति को उनसे अभिन्न ही मान लिया जाना कथमपि असामान्य नहीं है। चेष्टाएँ एवं क्रियाएँ अनेक प्रकार की हैं, जबकि कालशक्ति एक है और एकरूप है। किन्तु जिस प्रकार तुला मूर्तद्रव्यों का निर्धारण करती है, उसी प्रकार कालशक्ति सभी क्रियाओं का निर्धारण करती है; साथ ही यह क्रियाओं की सभी अवस्थाओं में अविच्छिन्न रूप से व्याप्त है; इसलिए यदि सामान्य प्रतिपत्ता दोनों में अभेद मानने लगे तो, यह स्वाभाविक ही है[४]। किन्तु विशेष मेधावी और विवेकशील मानस कभी भी कालशक्ति को क्रिया मानने की भूल नहीं करता। अतः विविधता कालशक्ति में स्वाभाविक नहीं, अपितु भ्रमवश आरोपित है। प्रत्येक क्रिया दूसरी से भिन्न है और कालशक्ति चूंकि प्रत्येक क्रिया की परिच्छेदक है, अतः ऐसा लगता है मानो कालशक्ति भी प्रत्येक स्थिति में अलग-अलग हो। और कालशक्ति के ये विविध रूप लोक में दिवस, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष इत्यादि अनेक नामों से जाने जाते हैं[५]। किन्तु यथार्थतः हमारे व्यावहारिक प्रयोजनों की पूर्ति के अतिरिक्त, कालशक्ति के इन सभी प्रकारों का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है। कालशक्ति अपनी मूलप्रकृति में एकात्मक तत्त्व है और निरन्तर एकरूप है[६]।

---

१. संसर्गिणां तु यो भेदो विशेषास्तस्य ते मताः।
संभिन्नस्तैरवस्थानं कालो भेदाय कल्पते॥—वा. प., ३.९.८।

२. एवं यौगपद्यमपि क्रमविक्रमविरोधी धर्मः कार्यगतः काले समारोप्यते।—वहीं।

३. ....एकत्वेऽपि विभाविते नानात्वमुपाधिभेदनिहितम्........। – हे. रा. पृ. ३४४।

४. दिष्टिप्रस्थसुवर्णादि मूर्तंभेदाय कल्पते।
क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका॥—वा. प., ३.९.२।

५. ....तेषां भेदोपाहितात्मातिशयोऽसावहोरात्रपक्षमासर्तुसंवत्सरयुगमन्वन्तरादिव्यवस्थामासादयति।—हे. रा., पृ. ३४४।

६. तस्यात्मा बहुधा भिन्नो भेदैर्धर्मान्तराश्रयैः।
न हि भिन्नमभिन्नं वा वस्तु किञ्चन विद्यते॥—वा. प., ३.९.६।

जिस प्रकार विभिन्न ऋतुओं के रूप में कालशक्ति का निर्देश अध्यारोपित है, उसी प्रकार शुभ अथवा अशुभ का विभाजन भी इस पर आरोपित किया जाता है। जब अधिकांश व्यक्ति दृढ़ता से श्रुति और स्मृति के आदेशों के अनुसार जीवन-यापन करते हैं, तो कालशक्ति को शुभ कहा जाता है और समाज में धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक नियमों का उल्लंघन होने पर कालशक्ति को अनिष्टकर कह दिया जाएगा। इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ के रूप में कालशक्ति का निर्देश जनसामान्य के चरित्र के संदर्भ में ही होता है। इससे कालशक्ति का पूर्वोक्त वर्णन नैसर्गिक न होकर अध्यारोपित ही सिद्ध होता है[१]।

पूर्वोक्त तर्कपद्धति के अनुसार हो, यह भी माना गया है कि दीर्घ अथवा स्वल्प के रूप में कालशक्ति अथवा काल के वर्णन को भी, इसके प्रभावी नियन्त्रण में हो रही क्रियाओं के सन्दर्भ में स्पष्ट किया जाना चाहिए। किसी मार्ग की दूरी अपरिवर्तित होते हुए भी, मन्दगति वाले यात्रियों को वही मार्ग लम्बा प्रतीत होता है, जबकि शीघ्रगामी यात्रियों को वह छोटा मालूम होता है। इसी प्रकार कालशक्ति स्थिर और अविकार्य होते हुए भी दीर्घ अथवा अल्प अवधि वाली प्रतीत होती है। यह इस पर निर्भर करता है कि इसके द्वारा उत्पन्न क्रियाओं की शृंखला विस्तृत होती है अथवा संक्षिप्त कर दी जाती है। इस प्रकार जो परिवर्तन होता है वह क्रियाओं की शृंखला में है, परन्तु कालशक्ति निरन्तर एकरूप रहती है[२]।

इसी प्रकार काल अथवा कालशक्ति के साथ सामान्यतः जोड़ दी जाने वाली आरम्भ, नैरन्तर्य और पर्यवसान की सभी धारणाएँ इस पर आरोपित ही हैं। जिसे काल का आरम्भ कहा जाता है, वह मात्र कार्यों के उत्पन्न होने तक विभिन्न कारणों अथवा स्थितियों का एकत्रीकरण है। इसी प्रकार कार्य के जीवन को चलाने के लिए कारणों अथवा स्थितियों का उपयुक्त समन्वय काल के नैरन्तर्य के रूप में जाना जाता

---

१. (i) कर्तृभेदात् तदर्थेषु प्रचयापचयौ गतः।
समत्वं विषमत्वं वा स एकः प्रतिपद्यते ॥—वा. प., ३.९.३१।

(ii) इह यदानुष्ठातारः श्रुतिस्मृतिनिबन्धनमाचारमनुतिष्ठन्ति, तदा प्रकर्षमासादयन् कालः सम एवैकः कृतादिर्व्यपदिश्यते शुभसमाचाराधिकारिबाहुल्यादिभिरित्यर्थः........। यदा तु कर्तारो विशृङ्खला यथावत् समाचारमुल्लङ्घयन्ति तस्मादाचारापकर्षादपचयप्राप्तेः कलिप्रभृतिर्विषमः कालोऽभिधीयते.......।—हे. रा., पृ. ३५३।

२. (i) दूरान्तिकव्यवस्थानमध्वाधिकरणं यथा।
चिरक्षिप्रव्यवस्थानं कालाधिकरणं तथा ॥—वा. प., ३.९.४७।

(ii) दूरोऽयमध्वा निकटोऽयमिति कर्तृगतिभेदेनाध्वनि व्यवस्था, न तु मार्गभेदोऽत्र, य एव हि मन्दगतीनां दूरः, स एव चतुरचेष्टानामासन्नोऽध्वा, एवमेव स्थायिन्यपि काले प्रचितसन्तानक्रियोपाधिश्चिरमिति व्यवस्थानम्, अपचितसन्तानक्रियोपाधिः क्षिप्रमिति।—हे. रा., पृ. ३५९।

है और ठीक इसी प्रकार कार्य के लक्ष्य की पूर्ति को काल का पर्यवसान माना जाता है। इस प्रकार काल के आरम्भ, नैरन्तर्य अथवा पर्यवसान को विभिन्न कार्यों के सन्दर्भ में समझना चाहिए, क्योंकि यह किसी कार्य का ही जीवन है, जो प्रारम्भ होता है, आगे बढ़ता है और अन्ततः समाप्त हो जाता है। कालशक्ति अथवा काल मुख्यतः परिवर्तन की किसी भी धारणा से मुक्त हैं। वस्तुतः इसके नियन्त्रण में, परिवर्तित होने वाले कार्य ही अपनी विकारशील प्रकृति को कालशक्ति में प्रतिबिम्बित करते हैं[1]।

पहले यह कहा जा चुका है कि कालशक्तिमूलक प्रकृति में एकरूप और अविकारि एकात्मक तत्त्व हैं। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इसके सभी व्यावहारिक वर्णनों अथवा संज्ञाओं की व्याख्या उन्हें या तो इसके प्रभाव में होने वाली विभिन्न क्रियाओं अथवा इसके आदेश पर उत्पन्न होने वाले विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध मानकर की जा सकती है। फिर भी इस सम्बन्ध में दो प्रश्न विचारणीय हैं। पहला कि कोई एकात्मक-तत्त्व भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ कैसे प्राप्त कर लेता है, दूसरा किसी एकात्मक-तत्त्व को अलग-अलग अवस्थाओं में अलग-अलग रूपों में देखने की आवश्यकता क्या है? पहले प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि एक ही कर्म को उसके द्वारा संपन्न क्रियाओं के वैविध्य के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न नाम दिये ज़ाते हैं। एक व्यक्ति जब लकड़ी छीलता है तो उसे बढ़ई कहा जाता है, जबकि वही व्यक्ति जब लोहे का कार्य करता है, तो उसे लुहार कहते हैं। यानी संज्ञाओं का भेद क्रियाओं की प्रकृति के भेद पर निर्भर करता है[2]। इसी प्रकार कालशक्ति भी एक और एकरूप होते हुए भी अपने शक्तिशाली प्रभाव में व्यवस्थित और क्रमबद्ध विभिन्न घटनाओं के प्रसंग में विभिन्न संज्ञाएँ प्राप्त कर लेती है। जब खिलते हुए पुष्पों और हरे-हरे पत्तों के साथ वन-वृक्ष अद्‌भुत सौन्दर्य बिखेरते हैं, तो कालशक्ति को वसन्तऋतु कहा जाता है। जब पत्ते झड़ जाते हैं और पेड़ नंगे तथा वीरान लगने लगते हैं, तब वही कालशक्ति पतझड़ के रूप में व्यक्त होती है[3]। दूसरे प्रश्न

१. आरम्भञ्च क्रिया चैव निष्ठा चेत्यभिधीयते।
धर्मान्तराणामध्यासभेदात् सदसदात्मनाम् ॥—वा. प., ३.९ ३३।

२. (i) क्रियाभेदाद् यथैकस्मिन् तक्षाद्याख्या प्रवर्तते।
क्रियाभेदाद् तथैकस्मिन् ऋत्वाद्याख्योपजायते ॥—वही, ३२।

(ii) तक्षणादयोविकरणात् क्रियाविशेषादुपकल्पिता तक्षायस्कारादिसंज्ञा यथैकस्यैव कर्तुः वर्तते, तथा विशिष्टपुष्पादिप्रसवलक्षणक्रियाभेदादेकस्यापि कालस्य वसन्तादिसमाख्या भेदेन जायते।—हे. रा., पृ. ३५३।

३. (i) ऋतैर्मृगशकुन्तानां स्थावराणां च वृत्तिभिः।
छायादिपरिणामैश्च ऋतुधामा निरूप्यते ॥—वा. प., ३.९.४५।

(ii) ''''''कालाख्या हि स्वातन्त्र्यशक्तिर्ब्रह्मणो वसन्तादिभेदेन प्रविभक्ता चकास्ति, तया चासौ नियततुंभेदपुंस्कोकिलकूजितनवनवकिसलययोगेन सूर्यादिसञ्चारविशेषोपलक्ष्यमाणच्छायातपादिभेदेन तरुलताप्रसूनविशेषेण चावधार्यते।—हे. रा., पृ. २५८।

के उत्तर में भर्तृहरि कहते हैं कि कालशक्ति एकरूप और विकारहीन तत्त्व अवश्य है, किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि यह वर्णन कालशक्ति के केवल विश्वातीत स्वरूप को ही दृष्टि में रखता है; किन्तु दैनिक अनुभवों की व्याख्या विश्वातीत अवधारणा के द्वारा संभव नहीं। अतः जिस समय हम अपने व्यावहारिक क्षेत्र से ऊपर उच्चतर आध्यात्मिक स्तर पर आरोहण नहीं करते, तब इस विश्वातीत अवधारणा यानी कालशक्ति, की संकल्पना एक दूसरे रूप में करनी पड़ती है। इस रूप में कालशक्ति का प्रतिनिधित्व हमारे लौकिक अनुभव के अनुरूपी व उसकी विविधताओं की व्याख्या करने वाले विविध पक्षों द्वारा किया जाता है[1]। इसलिये क्रिया की निवृत्ति हो जाने पर कालशक्ति को अतीत कहा जाता है, जब वह क्रिया होने वाली है तो इसे भविष्यत् कहते हैं और जब एक धारा की भाँति इस क्रिया का प्रवाह बना रहता है, तब इसे वर्तमान कहते हैं। इस प्रकार कालशक्ति पर आरोपित अतीत, अनागत और वर्तमान जैसे भेद स्वभावतः क्रिया से संबन्ध रखते हैं[2]। अपने दैनिक जीवन में हम अनेक प्रकार के भावों का अनुभव करते हैं, जो कि विभिन्न क्रियाओं द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं अथवा उनके माध्यम से व्यक्त होते हैं। अब, कालशक्ति क्योंकि एक अविकारि तत्त्व है, इसलिए व्यावहारिक रूप से हमें कालशक्ति से सम्बद्ध अनेक शक्तियों अथवा पहलुओं की सत्ता माननी होगी, जिनके व्यापारों से विभिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं, कुछ काल तक विद्यमान रहते हैं और अन्ततः तिरोहित हो जाते हैं। हेलाराज के मत में विभिन्न भावों के जन्म, स्थिति एवं मृत्यु की व्याख्या के लिए स्वयं कालशक्ति को भेदयुक्त मानने की अपेक्षा तीन् शक्तियों अथवा पहलुओं की परिकल्पना कहीं अधिक तर्क संगत है[3]।

यहाँ यह स्मरण कर लेना उचित होगा कि क्रम और जरा नामक दो पहलुओं को कालशक्ति का प्रतिनिधि कहा गया है। फिर यह मानने में क्या अन्तर्विरोध न होगा कि कालशक्ति का प्रतिनिधित्व तीन पहलू करते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में यह बता देना उचित होगा कि पूर्वोल्लिखित तीन शक्तियों अथवा पक्षों में से दो, अर्थात् अतीत और अनागत, समस्त भावों को ढ़क लेते हैं, जबकि तीसरा अर्थात् वर्तमान, उन्हें हमारे सम्मुख प्रकट करता है। यदि हम अतीत और अनागत, इन दो शक्तियों के बीच साम्य के अंश पर ध्यान दें, तो यह संकेत स्पष्टतः मिलेगा कि तीन अलग-अलग शक्तियों या पहलुओं को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में दो शक्तियाँ अथवा पहलू ही जागतिक भावों के आविर्भाव और तिरोभाव

---

१. तस्याभिन्नस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाकृताः।
भेदा इव त्रयः सिद्धा याँल्लोको नातिवर्तते॥—वा. प., ३.९.४८।

२. क्रियाव्युपरमे भूतः सम्भावितायां क्रियायां भविष्यन्, क्षणप्रवाहरूपेण वर्तमानरूपायां तस्यां मुख्या एवायम्।—हे. रा., पृ. ३५०।

३. ....शक्तिभेदात् कार्यभेदोपपत्तौ कालभेदकल्पना विर्निमित्ता।—वही।

के स्पष्टीकरण के लिये पर्याप्त हैं[1]।

वैसे कालशक्ति को तीन शक्तियों या पक्षों से युक्त मानने वालों का भी अपना एक दृष्टिकोण है और सम्भवतः उनके बयान शुद्ध रूप से मतवादी बयान नहीं हैं। अतीत और अनागत नामक दो शक्तियाँ अथवा पक्ष किसी सीमा तक सजातीय अवश्य हैं, किन्तु इन दोनों में एक महत्त्वपूर्ण भेद भी है। अनागतशक्ति—जिससे हमारा तात्पर्य कालशक्ति के भविष्यत् पक्ष से है—वर्तमान पक्ष की प्रतिनिधि शक्ति के मार्ग में बाधा नहीं बनती। किन्तु अतीतशक्ति के प्रभाव में यही वर्तमानशक्ति पूर्णतया जड़ हो जाती है[2]। कालशक्ति की अनागतशक्ति जगत् के विभिन्न भावों को जन्म देने वाली इसकी वर्तमानशक्ति की विरोधी नहीं है। वर्तमानशक्ति के प्रकट होने तक ही यह उसकी प्रतिबन्धक है। वर्तमानशक्ति के व्यापार के लिए अनुकूल स्थितियाँ विकसित हो जाने पर अनागतशक्ति इसका विरोध बन्द कर देती है, बल्कि दूसरी ओर यह उन-उन भावों को जन्म देने में उन स्थितियों की सहायता करती है[3]। वैसे भी, वर्तमान और भविष्यत् के बीच विरोध का कोई सम्बन्ध रह ही नहीं सकता। कारण यह कि भविष्यत् कहा ही उसे जाता है, जो किसी न किसी क्षण वर्तमान के रूप में प्रकट होगा; किन्तु कालशक्ति की अतीत और वर्तमान शक्तियों के सम्बन्ध के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। अतीत अनिवार्यतया वर्तमान का विरोधी है। जो कुछ एक बार अतीत के गर्भ में जा चुका, वह कभी भी वापस वर्तमान में नहीं आ सकता[4]। इस प्रकार वर्तमानशक्ति के साथ सम्बन्ध के सन्दर्भ में देखने पर अनागत और अतीत शक्तियों का स्वरूप एकदम स्पष्ट हो जाता है[5]।

---

१. द्वाभ्यां किल स शक्तिभ्यां भावानां वरणात्मकः।
शक्तिस्तु वर्तमानाख्या भावरूपप्रकाशिनी ॥—वा. प., ३.९.५०।

२. अनागता जन्मशक्तेः शक्तिरप्रतिबन्धिका।
अतीताख्या तु या शक्तिस्तया जन्म निरुध्यते ॥—वही, ५१।

३. ''''समर्थहेतुसंपाते तु वर्तमानशक्तेरुदयानुकूल्यमनागतशक्तिर्भजते''''।—हे. रा., पृ.३६१।

४. ''''''''अतीतशक्त्या तु जन्मशक्तिर्वर्तमानाख्या निरुध्यत एव; न हि मृतस्य पुनर्जन्मेति नातीतेऽध्वनि पतितमाविर्भवति वस्तु।—वही।

५ इस संदर्भ में दार्शनिकों के एक वर्ग के उस मत का उल्लेख भी उपयुक्त होगा, जिसके मत में अतीत के जबड़ों में घुस कर भी कोई पदार्थ पुनः जीवन प्राप्त कर सकता है। इस मत के अनुसार अतीत के क्षेत्र में डाल दिया गया कोई भी पदार्थ अपने सूक्ष्मरूप में आद्य-कारण में विद्यमान रहता है और नवीन सृष्टि के समय पुनरावर्तित होता है। वैसे चिन्तकों के एक अन्य संप्रदाय ने इस मत की आलोचना भी की है। उनके अनुसार, जो कुछ भी किसी परवर्ती क्षण में उत्पन्न हुआ कहा जाता है, वह सर्वथा वही नहीं है, जो पहले था, अपितु केवल उसकी यथातथ्य प्रतिकृति है। अतः इस मत के अनुसार भर्तृहरि द्वारा भूत और भविष्य के बीच स्थापित भेद बिलकुल ठीक लागू होता है (द्रष्टव्य—हे. रा., पृ. ३६२)।

यहाँ प्रसंगतः एक बात और कह देना भी उचित होगा। कालशक्ति की अतीत और अनागत शक्तियाँ विभिन्न भावों को ढ़ककर हमारे संज्ञान की सीमा में नहीं आने देतीं; अतः उन्हें सांख्य या वेदान्त में वर्णित तमोगुण के साथ जोड़ा जा सकता है और ठीक इसी भाँति कालशक्ति की वर्तमान-शक्ति, जो विभिन्न पदार्थों को हमारे समक्ष प्रकाशित करती है, सत्त्वगुण के साथ जोड़ी जा सकती है। इसके अतिरिक्त, विशुद्ध क्रिया इन तीनों शक्तियों में समान है, जिसका वर्णन समस्त परिवर्तन के मूल में विद्यमान रजस्तत्त्व के रूप में किया गया है। इस प्रकार रजस्तत्त्व के रूप में देखने पर कालशक्ति को प्रकृति अथवा प्रधान का विकासज माना जा सकता है[1]।

हम पहले कह चुके हैं कि क्रम और जरा नामक कालशक्ति के दो पहलू नित्य हैं। इसके साथ ही यह भी अवधेय है कि जो दार्शनिक कालशक्ति के तीन पक्षों अथवा शक्तियों, अतीत, अनागत और वर्तमान को मानते हैं, उनके मत में ये शक्तियाँ अथवा पक्ष नित्य भी हैं। तो यदि कालशक्ति के दो अथवा तीन पक्ष नित्य कहे जाते हैं, तो मानना होगा कि वे सहवर्ती भी हैं। वैसी स्थिति में, यह देखते हुए कि दो अथवा तीन पक्ष अपनी प्रकृति में भिन्न हैं और साथ ही सहवर्ती भी हैं, यह धारणा भो बन सकती है कि वे अपने सहजात विरोध के कारण एक दूसरे को कुण्ठित कर सकते हैं। ऐसी विसंगतिपूर्ण स्थिति को वैयाकरण की तीक्ष्ण दृष्टि ने पहले हो देख लिया था और इसीलिये इस कठिनाई को उसने पहले ही दूर कर दिया है। वह कहता है कि यद्यपि कालशक्ति मूलप्रकृति में क्रम की किसी धारणा से युक्त नहीं और न ही उसे सूचित करती है, तथापि केवल जगत् की व्यवस्था की व्याख्या के लिए ही हमें इसमें तार्किक क्रम की धारणा को स्वीकार करना होगा। सो, यह तो निर्विवाद रूप से सही है कि कालशक्ति के विभिन्न पक्ष सहवर्ती हैं, किन्तु यह भी उतना ही सही है कि उनके बीच एक तार्किक क्रम है। इस प्रकार के विरोधाभासी वक्तव्यों से वैयाकरण वास्तव में यह बताना चाहते हैं कि किसी भाव का आविर्भाव और तिरोभाव एक पक्ष या शक्ति के दूसरे—अथवा दूसरों के प्रति आपेक्षिक प्राधान्य पर निर्भर है। इसलिये जब आवरक-शक्ति की प्रकाशक शक्ति के प्रति प्रधानता होती है, तो पदार्थ तिरोहित हो जाता है और जब प्रकाशक शक्ति प्रबलतर होतो है, तो पदार्थ प्रकट होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कालशक्ति के विभिन्न पक्षों या शक्तियों के सहवर्तित्व के बावजूद भी उनमें एक तार्किक-क्रम की मान्यता क्यों

---

१. (i) तमःप्रकाशवत् त्वेते त्रयोऽध्वानो व्यवस्थिताः।--वा. प., ३.९.५२।

(ii) द्वौ तु तत्र तमोरूपावेकस्यानेकवत्स्थितिः।—वही, ५३।

(iii) अतीतानागतावध्वानौ भावावरणहेतुत्वात् तमः स्वभावौ, वरणं हि तमोधर्मो "गुरुवरणकमेव तम्" इत्युक्तम्, वर्तमानोऽध्वा प्रकाशतुल्यः सत्त्वसदृशः "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्" इति, रजस्तु प्रवृत्तिसामान्यं कालस्वरूपं सर्वत्रान्वयि। प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां प्रवर्तमानं प्रेरणारूपं रजः कालात्मकमेव···· ।—हे. रा., पृ. ३६१।

दी जाती है[1]। वैयाकरण की स्थिति को स्पष्ट और पुष्ट करने के लिए हेलाराज ने एक समानान्तर स्थिति का संदर्भ दिया है। सांख्यदर्शन के अध्येता यह भली-भाँति जानते हैं कि इस दर्शन में स्वीकृत तीन गुण सहवर्ती माने जाते हैं और फिर भी किसी भाव को जन्म देने, उसका परिरक्षण करने अथवा उसका विनाश करने के सम्बन्ध में उनमें कोई संघर्ष उत्पन्न नहीं होता। ऐसा लगता है जैसे इनके बीच एक समझौता है और इनमें से जो भी शेष दो को परस्पर अभिभूत कर लेता है, वही अपने अनुरूप फल को उत्पन्न करता है। इस प्रकार सांख्यदर्शन मानता है कि तीनों गुण सहवर्ती होते हुए भी उनमें से किसी एक का अन्य गुणों की अपेक्षा प्राधान्य रहता है और इसलिए उनमें एक क्रम है, जिसके बिना परिवर्तमान जगत् में भावों की विविधता को व्याख्यात करना संभव न हो सकेगा[2]।

इस अधिकरण का समापन करते समय यह उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है कि अपने सिद्धान्त के अतिरिक्त भर्तृहरि ने काल के विषय में अन्य अनेक मतों की भी चर्चा की है। सर्वप्रथम, वे वैशेषिक मत का उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार काल एक नित्य और विभु द्रव्य है, जो विभिन्न पदार्थों का निर्धारण उनके अनेकविध व्यापारों के माध्यम से करता है[3]। इसके बाद वे, संभवतः योगभाष्यकार के मत का संकेत करते हैं, जो काल के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। यह मान्यता बौद्धों की मान्यता से भिन्न है, जिनके अनुसार क्रिया अथवा तथ्यों से व्यतिरिक्त एवं स्वतन्त्र रूप में काल का कोई अस्तित्व नहीं है। बौद्धों के मत में क्रिया एवं तथ्य में कोई भेद नहीं और कालतत्त्व इस प्रकार के तथ्यों से भिन्न कुछ नहीं है। यही कारण है कि वे तथ्यों को क्षणों के रूप में वर्णित करते हैं। इसके विपरीत योगभाष्यकार की काल की अवधारणा के अनुसार काल की स्वयं अपनी सत्ता है; किन्तु वे काल के किसी अवधिगत विस्तार को स्वीकार नहीं करते। यह कहना और भी उपयुक्त होगा कि वे एक नित्य-काल की सत्ता नहीं मानते। वास्तविक काल एक क्षण-मात्र है, जो काल की न्यूनतम इकाई है। नित्य-काल अथवा अवधिगत विस्तार वाला काल मात्र एक बौद्धिक-संरचना (बुद्धिनिर्माण) है[4]। अन्त में भर्तृहरि एक साथ ही तीन और मतों का उल्लेख करते हैं; किन्तु यहाँ उनकी भाषा अत्यन्त प्रच्छन्न है और उनके अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये हमें अधिकांशतः टीकाकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। कालसंबन्धी मत इसे शक्ति, आत्मा अथवा देवता के रूप में देखने के अनुसार

---

१. तमःप्रकाशवत् त्वेते त्रयोऽध्वानो व्यवस्थिताः।
अक्रमास्तेषु भावानां क्रमः समुपलभ्यते ॥—वा. प., ३.९.५२।

२. तद्यथा त्रयः सत्त्वरजस्तमोलक्षणा गुणा नित्यत्वाद् युगपदवस्थाना अपि अङ्गाङ्गिभावोपगमेन यथायथं स्ववृत्त्युल्लासे विचित्रपरिणामान् भावानुपरचयन्ति''''।—हे. रा., पृ. ३६१।

३. व्यापारव्यतिरेकेण कालमेके प्रचक्षते।
नित्यमेकं विभुं द्रव्यं परिमाणं क्रियावताम् ॥—वा. प., ३.९.१।

४. क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्।—यो. सू., ३.५२।

भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम स्थिति अविद्या के कारण है और विद्या के आविर्भाव के साथ ही समाप्त हो जाती है[१]। कालशक्ति है—इस वाक्य का आखिर क्या अभिप्राय है ? किसकी शक्ति ? इस पदन्यूनता की पूर्ति हेलाराज के शब्दों से होती है, जिन्होंने इसकी व्याख्या कारण की शक्ति के रूप में की है। न्याय-वैशेषिकदर्शन के विपरीत मीमांसक कारणशक्ति की पृथक् सत्ता को मानते हैं। कोई भी कारण तभी प्रभावी हो सकता है, जबकि इसकी कारणात्मक शक्ति बाधित न हो; इस शक्ति के बाधित होने पर कारण कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है। अतः कारणशक्ति का कारण से विभेद किया जाता है, यद्यपि उपस्थित होने पर दोनों को पृथक् करना संभव नहीं; किन्तु यद्यपि मीमांसक कारणशक्ति को कारण से विविक्त एवं भिन्न मानने का प्रबल पक्षधर है, तथापि वह काल को कारणशक्ति नहीं मानता। काल का कारणशक्ति से तादात्म्य करने वाले इस सिद्धान्त को मान्य क्रमबद्ध दर्शन के साथ जोड़ना हमारी वर्तमान जानकारी में असंभव ही है। यह इतिहासविषयक समस्या है और हम इसे सुलझाने का कार्य भारतीय-दर्शन के इतिहास के अध्येता के लिये छोड़ते हैं।

काल कारणशक्ति है, किन्तु कैसे ? एक ठोस उदाहरण लें। बीज अंकुर का कारण केवल इसलिए है; क्योंकि इसमें कारण के रूप में कार्य करने की शक्ति है। इस कारणशक्ति का द्विविध व्यापार है—भावात्मक और निषेधात्मक। प्रथम व्यापार के द्वारा कारण अपने अव्यवहित कार्य को, उदाहरणार्थ बीज अंकुर को उत्पन्न करता है; और उत्तरवर्ती परिणामों जैसे तना, पत्ते आदि की उत्पत्ति को रोककर यह अपना निषेधात्मक व्यापार प्रदर्शित करता है। कारणशक्ति अव्यवहित कार्य की सिद्धि में सहायक होती है और परवर्ती विकासों की तत्काल उत्पत्ति को कुण्ठित करती है। कारणशक्ति के द्विविध व्यापार का आविर्भाव काल-व्यवस्था के रूप में उपलब्ध होता है, अतः यह काल का व्यापार काल-व्यवस्था के विना कारणशक्ति अकल्पनीय है और उसका कोई अर्थ व प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार की तर्कपद्धति के द्वारा कुछ चिन्तकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि काल कारणशक्ति ही है[२]।

हेलाराज ने इस पक्ष की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की है। कार्य वे भाव हैं, जो अपने कारणों के उपस्थित होने पर ही घटित होते हैं, अन्यथा नहीं। कारणता के नियम का यही अर्थ एवं अभिप्राय है और, क्योंकि कारण एवं कार्य का घटित होना एक नियत कालक्रम द्वारा निर्धारित होता है, अतः यह मानना होगा कि इस घटित होने में काल एक आवश्यक निमित्त है और

---

१. शक्त्यात्मदेवतापक्षैर्भिन्नं कालस्य दर्शनम्।
प्रथमं तदविद्यायां यद्विद्यायां न विद्यते॥—वा. प. ३.९.६२।

२. कारणशक्तिरेव काल इति व्याचक्षते, तथा हि बीजशक्तिरङ्कुरोपजननमभ्यनुजानाति काण्डप्रसवं प्रतिबध्नाति कार्यकरणात्। एवमङ्कुरादिशक्तावपि यथोत्तरमनन्तरकार्यजननाद् व्यवहितकार्यप्रतिबन्धाच्च कालत्वं बोद्धव्यम्।—हे. रा., पृ. ३६५।

इस प्रकार कारण एवं कार्य दोनों से ही भिन्न है। कार्य अपने संबद्ध कारणों के आविर्भाव के क्रमानुसार क्रमिक रूप में उत्पन्न होते हैं। क्रम का विधान ही काल है, अतः क्रम के रूप में काल को संबद्ध भावों का निर्धारण (उपाधि) मानना चाहिए। अतः काल को उस तत्त्व की उपाधि मानना उपयुक्त प्रतीत होता है, जो भाव-बहुत्व के आविर्भाव का कारण है[1]।

इस अवस्था में दूसरा मत सामने आता है, जिसके अनुसार काल आत्मा है। इसका अभिप्राय स्वाधीन चैतन्य से है, जो जीवात्मा के रूप में कार्य करता है। यदि दृश्यजगत् का चरम अधिष्ठान जीवात्मा में है, तो फिर इसकी अभिव्यक्ति के क्रम का उद्गम भी जीवात्मा में ही खोजना चाहिए। चरमसत्ता एक अखण्ड एकात्मक तत्त्व है। पश्यन्ती अर्थात् स्वतन्त्रद्रष्टा शब्द अथवा चैतन्य कहा गया है; किन्तु अविद्या के वशीभूत होकर जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति काल-क्रम है, जीव एकत्व के स्थान पर अनेकत्व का दर्शन करता है। यह अनुमान स्वाभाविक है कि जो तत्त्व भाव-बहुत्व को प्रदर्शित करने में समर्थ है, वही उस कालिक-क्रम को व्यक्त करने में भी समर्थ है, जिसमें सृष्टिक्रम प्रकट होता है। इसीलिए जीव को आक्रान्त करने वाली आद्या अविद्या के सहवर्ती के रूप में काल जीवात्मा के साथ समीकृत कर दिया जाता है, क्योंकि वही इसका आश्रय व आधार है। काल पहले जीव की सामर्थ्य के रूप में देखा जाता है और फिर, एक औचित्यपूर्ण अर्थ-विस्तार के द्वारा जीव से अभिन्न मान लिया जाता है[2]।

काल को देवता मानने वाला तीसरा मत दूसरे मत से केवल इस अर्थ में भिन्न है कि यह कालशक्ति को जीवात्मा से न जोड़कर परब्रह्म के साथ जोड़ता है। यद्यपि कालशक्ति अपने व्यापार को व्यष्टि-चैतन्य में अभिव्यक्त करती है, तथापि इस आधार पर इसे उसकी उपाधि नहीं मानना चाहिए। आत्मा व्यष्टिगत हो या अन्यथा, वस्तुतः परमचैतन्य ही है। अतः अपनी सहवर्ती अविद्या की ही भाँति, काल का उद्गम भी ब्रह्म से ही है। ब्रह्म की शक्ति के प्रतीक की हैसियत से काल की प्रस्तुति समस्त सृष्टि को ग्रसने वाले देवता के रूप में होती है। वैसे यह एक तत्त्वमीमांसीय सत्य की सामान्य भाषा में प्रस्तुति है। टीकाकार के अनुसार तृतीय

---

१. एतच्चायुक्तमिव लक्ष्यते। नियतकारणा हि भावाः स्वकारणसंनिधाने भवन्ति, नान्यथेति कारणसामर्थ्यमेवेदम्। तत्र तु नियतकालत्वात् सहकारी कालः तदन्य एव युक्तः, कारण-परम्परया भावानामुत्पद्यमानानां च क्रमदर्शनात् क्रमाख्या कालशक्तिर्भावोपाधिरूपाव-गन्तव्या। ततश्च य एव भावभेदावभासने प्रभुः, स एव तु तदनुयायिक्रमावभासनेऽपि'''' ।
—हे. रा, पृ. ३६५-६६।

२. आत्मा पुरुषो जीव एव कालस्तस्यैव क्रमावभसात्। स हि यथातत्त्वमर्थान् प्रत्येतुमसमर्थः स्वाभासकालानुसारेण तत्र क्रममध्यवस्यति ततश्च ततः कालभेदाप्रक्लृप्तेः स एवोपचारेण कालाख्यं प्रतिपद्यते। स एव च कालशक्तेरविद्यासहचारिण्याः फलभूमिः तददृष्टादिवशेनैव भावेषु प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञे।—हे रा, पृ. ३६६।

मत भर्तृहरि का सिद्धान्त है। द्वितीय एवं तृतीय, दोनों मतों में काल को अविद्या की अभिव्यक्ति कहा गया है। जीव के समक्ष चरम-सत्य का ज्ञान उद्घाटित होते ही यह अविद्या काल के साथ-साथ तिरोहित हो जाती है[1]।

उपसंहार—

भर्तृहरि द्वारा उल्लिखित अन्तिम तीन मतों में प्रथम काल को एक वस्तुनिष्ठ तत्त्व मानता है, यद्यपि कारण की शक्ति होने के नाते यह उसका विश्लेषण-मात्र है, इसकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। जो भी हो, यह ऐसा तत्त्व है, जिस पर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं और जिसकी व्यक्ति के प्रति कोई निष्ठा नहीं है। दूसरा मत काल को मात्र एक व्यक्तिनिष्ठ उपाधि बना देता है, जबकि तीसरा मत इसे परब्रह्म में अधिष्ठित ब्रह्माण्डोय अविद्या का सहवर्ती बनाकर व्यक्तिनिष्ठता से इसकी रक्षा करता है। किन्तु, इस भेद के आधार पर जो तत्त्वमीमांसीय निष्कर्ष निकल सकते हैं, वे अत्यधिक महत्त्व के हैं। व्यक्ति की उपाधि के रूप में, जीवात्माओं की संख्या के साथ काल में भी संख्यात्मक परिवर्तन होगा; और जीवात्माओं की संख्या असीम है। ब्रह्म की उपाधि के रूप में काल व्यक्ति से स्वतन्त्र, एकात्मक तत्त्व होगा। यह अवधेय है कि इन तीनों ही मतों में काल एक उपाधि ही है, न कि कोई स्वात्मप्रतिष्ठित तत्त्व, जैसी कि वैशेषिकों की एवं न्यूटन की मान्यता है। यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि द्वितीय मत में काण्ट के मत का पूर्वाभास है, जो काल को बोध का रूप मानते हैं। वे काल को ऐसे प्रकार के रूप में देखते हैं, जिससे व्यक्ति पदार्थों का बोध करता है। काण्ट के अनुसार, काल की कोई वस्तुनिष्ठता नहीं है; यह व्यक्ति का निर्धारण है। पूर्वनिर्दिष्ट मत की भी ऐसी ही मान्यता है। दर्शन में मौलिकता एकदम विलक्षण होने में नहीं है। यह संयोग उस इतिहासदृष्टि-विषयक पूर्वाग्रह के खतरे का संकेतक होना चाहिए, जिसमें 'पूर्ववर्ती, इसलिए कारण[2]' नामक तर्कदोष की संभावना होती है। हमें, बल्कि यह सोचना चाहिए कि मानव-मस्तिष्क अपने चिन्तन के तरीकों में साररूप से एक है। एक-से प्रदत्तों से जाति, काल एवं देश से निरपेक्ष रूप में प्राप्त परिणामों की एकरूपता भी इसी निष्कर्ष को सिद्ध करती है।

---

१. अन्ये तु विग्रहवतीं महाप्रभावां देवतां कालत्वेन प्रतिपद्यन्ते। अत्रापि चिद्रूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्देवतैव सकलजगद्ग्रासघस्मरेत्येतदानुगुण्यमेवेति। इदमेवात्र सिद्धान्तरूपं दर्शनम्। अत एवैतत् कालदर्शनमविद्यायां संसारहेतुभूतायां प्रथमम्, भेदावभासमयो हि संसारो भेदश्च देशकालाभ्यां तत्र च कालभेदो जगत्सृष्टेराद्यः। अक्रमा हि पश्यन्तीरूपा संवित् प्राणवृत्तिमुपारूढा कालात्मना परिगृहीतक्रमेव चकास्ति।—वही, पृ. ३६६।

२. Post hoc, ergo, Procter hoc : "वह तार्किक दोष, जो किसी पूर्ववर्ती घटना या अवस्था को कारण समझ लेने से उत्पन्न होता है। प्रत्येक पूर्ववर्ती घटना परवर्ती घटना या अवस्था का कारण नहीं हुआ करती"।

मानविकी पारिभाषिक कोश, दर्शनखण्ड, पृ. १५९ से अनुवादक द्वारा उद्धृत।

तृतीयोन्मेष

कलाशक्तियों का व्यापार

हम देख चुके हैं कि पारमार्थिक स्तर पर शब्दब्रह्म एवं कालशक्ति को अविचल एकत्व के रूप में समझना चाहिए, अर्थात् एक अद्वैत-तत्त्व के रूप में, जो सृष्टि की पूर्वसंध्या में अपने आपको दो पहलुओं में विभक्त कर लेता है। हम यह भी देख चुके हैं कि शब्दब्रह्म को नित्य-शक्ति के रूप में वर्णित इस कालशक्ति के अलावा पारमार्थिक स्तर पर अन्य असंख्य शक्तियाँ हैं। ये सभी शब्दब्रह्म की शक्तियाँ हैं, किन्तु परस्पर व्यावर्तक हैं और फिर भी, इनमें प्रत्येक शब्दब्रह्म से उसी प्रकार अभिन्न है जैसे कालशक्ति है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्दब्रह्म से सारतः अभिन्न इन नित्य शक्तियों की अनेकता शब्दब्रह्म के एकात्मक स्वरूप को न तो प्रभावित करती है, न उसका खण्डन करती है। यह सर्वथा अवधेय है कि प्राक्-सृष्टि अवस्था में शक्तियाँ शब्दब्रह्म से अविभेद्य रहती हैं। जब ब्रह्माण्डीय गतिविधि क्रमिक अवस्थाओं में दृश्यजगत् को सत्ता में लाने का उपक्रम करती है तो उससे तत्काल पूर्व ब्रह्म के गर्भ से शक्तियों का सक्रिय प्रक्षेपण होता है। यह प्रक्षेपण शब्दबह्म की परम स्वतन्त्र शक्ति, अर्थात् कालशक्ति के प्रभाव में होता है। पारमार्थिक स्तर पर कालशक्ति के प्रभाव में विविध शक्तियों का व्यापार—यदि कथञ्चित् इसे व्यापार कहा जा सके—एक अनिर्वचनीय क्रिया है। और कालशक्ति के ही प्रभाव में, निम्नतर स्तर पर, ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया को प्रवर्तित करने वाला उनका उत्तरवर्ती व्यापार एक बहुदिशीय श्रृंखला में समयबद्ध व्यापार है। इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कालशक्ति के रूप में शब्दब्रह्म सृष्टि प्रक्रिया का निमित्तकारण है, जबकि अनेक कलाओं के रूप में यह दृश्यजगत् का उपादान कारण है।

हम यह विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे कि शब्दब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहते समय वैयाकरण का ठीक-ठीक क्या तात्पर्य है? क्या वह कहना चाहता है कि शब्दब्रह्म अपने आपको दृश्यजगत् के रूप में परिणत करता है अथवा यह सुझा रहा है कि दृश्यजगत् की अद्भुत चित्रावली के लिए शब्दब्रह्म अविकार्य आधारभूमि है? इस दिशा में अग्रसर होने से पूर्व विभिन्न क्रमबद्ध दर्शनों में जगत् के उपादान-कारण की चिन्ता करने वाले भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का संक्षेप में विवेचन कर लेना वाञ्छनीय है। भारतीय दर्शन में इस समस्या की चिन्ता करने वाले पाँच सुपरिचित सिद्धान्त हैं। वे हैं—१. आरम्भवाद, २. संघातवाद, ३. परिणामवाद, ४. विवर्तवाद एवं ५. आभासवाद।

नैयायिक व वैशेषिकों के अनुसार विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति परमाणु नामक संघटक अंशों से होती है। ये परमाणु अविभाज्य इकाइयों के रूप में स्वीकृत हैं और

इस प्रकार विभाजन की सीमा के निर्धारक हैं। यदि इन संघटक अंशों को भी अवयवों में विभाज्य माना जाए, तो उनसे उत्पन्न समस्त कार्य भी उतने ही अनन्त अवयवांशों के उत्पाद होंगे। वैसी स्थिति में विभिन्न कार्यों में दीखने वाले आकारभेदों का स्पष्टीकरण हमारे लिए नितान्त असम्भव हो जाएगा। पृथक्-पृथक् पिण्डों के परिणाम-भेद का स्पष्टीकरण उनके घटक परमाणुओं की वृद्धि अथवा प्रत्याहरण के आधार पर किया जाता है। अतः न्यायवैशेषिक दर्शन में परमाणुओं को सभी कार्यों का उपादानकारण माना जाता है। यह भी स्मरणीय है कि परमाणुओं से उत्पन्न कार्य नश्वर हैं जबकि स्वयं परमाणुओं की कल्पना शाश्वत सत्ताओं के रूप में की गई है। परमाणु सदैव रहते हैं किन्तु उनसे निर्मित भिन्न-भिन्न आकृति और विस्तार वाले संस्थान केवल कुछ समय तक रहने के उपरान्त नष्ट हो जाते हैं। जब अनेक परमाणु एकत्र संघटित होते हैं, तो एक स्थूल-पदार्थ को उत्पन्न करते हैं और जब वे विघटित होते हैं, तो वह पदार्थ नष्ट हो जाता है। संघटन और विघटन की ये प्रक्रियाएँ अविराम चलती रहती हैं। सृष्टिकाल में परमाणु स्पन्दनशील गति (परिस्पन्द) की अवस्था में रहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप एक साथ दो परमाणुओं का संघात होता है जो पारिभाषिक दृष्टि से द्व्यणुक् कहलाता है। ऐसे तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक् या त्रसरेणु बनता है। ऐसा माना जाता है कि त्रसरेणु सूर्य की किरण में धूलिकण के रूप में हमें दीखने वाला सूक्ष्मतम आकार है। यह अवधेय है कि द्व्यणुक् दो परमाणुओं का समूह-मात्र नहीं है बल्कि इसे संघटित करने वाले अवयवों से अतिरिक्त इसकी अपनी निजी सत्ता है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक के अनुसार अवयवों का सम्पूर्ण से और प्रतिक्रम में, सम्पूर्ण का अवयव से भेद मानना चाहिए। इसलिए इस दर्शन में संपूर्ण इकाइयाँ काल्पनिक रचनाएँ नहीं मानी जातीं। वे उतनी ही वास्तविक हैं, जितने स्वयं अवयव। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन चार प्रकार के भौतिक द्रव्यों—पृथ्वी, जल, तेज और वायु—के समनुरूप चार प्रकार के परमाणुओं की कल्पना करता है।

पिछले अनुच्छेद में हमने आरम्भवाद के सिद्धान्त का संक्षेप में विवेचन किया हैं। इस सिद्धान्त को न्याय-वैशेषिक के अलावा पूर्वमीमांसा के भाट्ट-संप्रदाय की भी स्वीकृति प्राप्त है[१]। ऐसा लगता है कि प्रभाकर और उनके अनुयायी भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, क्योंकि **तन्त्ररहस्य** के कथनानुसार वैशेषिक-दर्शन के पदार्थों को ही प्राभाकर मत में स्वीकार किया गया है[२]। साथ ही, यह तथ्य भी विचार की अपेक्षा करता है कि प्रभाकर और उनके अनुयायियों के ग्रन्थों में कहीं भी न्याय-वैशेषिक के परमाणु-सिद्धान्त का खण्डन नहीं किया गया। जैन दार्शनिक भी परमाणु-

१. किन्तु न्याय-वैशेषिक जहाँ त्र्यणुक् को अनित्य सत्ता के रूप में स्वीकार करता है, वहीं भाट्ट-सम्प्रदाय के अनुसार वे नित्य एवं चरम हैं। यही मत रघुनाथ शिरोमणि (पदार्थ. नि., पृ. ११) का भी है।

२. अभ्युपगमसिद्धान्तनयेन कणादसिद्ध एव प्रमेयवर्गोऽङ्गीक्रियते।

—तन्त्ररहस्य, पृ. २०।

सिद्धान्त के प्रति अनुकूल प्रतीत होते हैं। उनके दर्शन में हमें परमाणुओं के स्थान पर पुद्गल मिलते हैं, यद्यपि वे न्याय-वैशेषिक द्वारा स्वीकृत चार प्रकार के न होकर एक ही प्रकार के हैं। जैनों की यह मान्यता है कि चराचर सहित चार प्रकार के भौतिक द्रव्य पुद्गलों से ही उत्पन्न होते हैं। अतः यह कहना तर्कसंमत होगा कि जैनों ने भी परमाणुवाद को स्वीकार किया है।

सौत्रान्तिकों एवं वैभाषिकों के अनुसार कार्य अनेकों परमाणुओं का संघात-मात्र है। उनकी धारणा है कि परमाणु परस्पर व्यावर्तक हैं और उनमें कोई भौतिक संसर्ग नहीं हो सकता। न्याय-वैशेषिक के विपरीत सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों का मत इस प्रकार है—जिन पदार्थों को संबद्ध कहा जाता है, उनसे पृथक्कृत रूप में गृहीत होने पर भौतिक संसर्ग एक मिथ्या कल्पना है। उनके मतानुसार विशेष परमाणुओं के अत्यन्त सामीप्य को ही उनका भौतिक-संसर्ग कह दिया जाता है। बौद्धों के संघातवाद की यह आधारभूत अवधारणा है।

परिणामवाद एवं विवर्तवाद का अध्ययन साथ-साथ किया जा सकता है। पहले के अनुसार कारण में परिवर्तन होकर कार्य की उत्पत्ति होती है। इसलिये कार्य सूक्ष्मतर रूप में अपने कारण में अवस्थित कहा जा सकता है। विवर्तवाद के अनुसार कारण में कोई विकार नहीं होता; फिर भी लगता है, जैसे हमें कार्य का बोध हो रहा हो। वास्तव में, उस स्थिति में कार्य है ही नहीं। हमें जिसका बोध होता है वह अन्ततः प्रतिभास ही है, वास्तविकता कदापि नहीं। दूध का दही के रूप में परिणत होना परिणामवाद का उदाहरण है और रज्जु की सर्प के रूप में अथवा शुक्ति की रजत के रूप में प्रतीति विवर्तवाद की व्याख्या करती है। विवर्तवाद के अनुसार जगत्, जो शुद्ध और सीधे रूप में एक आभास है, ब्रह्म में उसी प्रकार प्रतीत होता है, जिस प्रकार रज्जु में सर्प—जो एक आभास है—प्रतीत होता है। दोनों स्थितियों में मात्र इतना ही अन्तर है कि जहाँ इस दूसरी स्थिति में मिथ्याभास किसी परवर्ती प्रत्यय द्वारा बाधित हो जाता है, वहीं पहली स्थिति में परब्रह्म के साक्षात्कार से पूर्व इसका निराकरण नहीं होता, यद्यपि दोनों ही स्थितियाँ अविद्या की उपज हैं। वेदान्ती इस भेद के स्पष्टीकरण के लिये गुणात्मक दृष्टि से भिन्न अविद्याओं की कल्पना करता है। एक मूल-अविद्या है, जो चरम ज्ञान की प्राप्ति तक बनी रहती है। दूसरी अविद्या समानान्तर स्थितियों अथवा अल्पतर अविद्याओं के रूप में है। वैसे यह भेद मात्र शास्त्रीय और प्राविधिक है और अविद्या अथवा उसके उत्पाद के सत्तामीमांसीय स्वरूप में इससे कोई अन्तर नहीं आता।

किन्तु परिणामवादी जगत् के मिथ्यात्व में विश्वास नहीं करते। वे कहेंगे कि रज्जु में सर्प का या शुक्ति में रजत का मिथ्या आभास परिणाम का उदाहरण नहीं है। यह तो प्रत्यक्षज्ञान की एक सामान्य भ्रान्ति है, जो संशोधित होने पर अभी तक सर्प अथवा रजतखण्ड के रूप में ज्ञात पदार्थ को रज्जु अथवा शुक्ति के रूप में अभिज्ञेय बना देती है। परिणाम-सिद्धान्त के व्याख्याताओं का मत है कि दूध से दही की भांति

चरम-तत्त्व से विश्वप्रपञ्च का आविर्भाव होता है, जो अपने उपादानकारण जितना ही सत्य है। परिणामवाद के प्रतिनिधियों में सांख्यवादी सर्वाधिक प्रख्यात हैं, जिनके अनुसार जगत् का उपादानकारण प्रकृति है। साथ ही पातञ्जल योगदर्शन, पाशुपत, माध्व, निम्बार्क-संप्रदाय और बंगाल का वैष्णव-संप्रदाय सभी यह मानते हैं कि प्रकृति दृश्यजगत् के रूप में परिणत होती है और इस प्रकार परिणाम-सिद्धान्त का अनुमोदन करते हैं। इसी प्रकार भट्टभास्कर, पाञ्चरात्र-संप्रदाय और ब्रह्म को भौतिक जगत् के रूप में परिणत होता हुआ दिखलाने वाले अन्य दार्शनिक भी परिणामवादी ही हैं और प्रकृति द्वारा उपहित ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने वाले रामानुज, श्रीकण्ठ एवं भास्करराय इत्यादि भी परिणाम-सिद्धान्त के समर्थक हैं।

विवर्तवाद के प्रमुखतम प्रवक्ता शंकर हैं, जिनके अनुसार दृश्य-जगत् का विस्मयकारी प्रतिभास ब्रह्म की वास्तविकता पर आधारित है। माध्यमिकों की दृष्टि में, जहाँ तक उनका पक्ष चन्द्रकीर्ति की व्याख्यासहित नागार्जुन की **माध्यमिककारिका** से समझा जा सकता है, प्रमाता (subject) और प्रमेय (object), दोनों की प्रतीति खोखला आभास है, जिसका कोई आधार या अवलम्ब नहीं है। इस मत को हम आश्रयहीन अवशिष्ट विवर्त का सिद्धान्त कह सकते हैं। ऐसा लगता है जैसे शून्य को माया के साथ समीकृत किया जा सकता है, जो अपने समान ही अप्रामाणिक आभास का तार्किक रूप में अपरिभाष्य और अप्रामाणिक स्रोत है। योगाचार संप्रदाय भी चैतन्य पर दृश्यजगत् का विवर्त मानने वाले सिद्धान्त की पुष्टि करता प्रतीत होता है। वहाँ चैतन्य को रूपविहीन माना गया है और यह परिकल्पना की गई है कि क्षणिक चैतन्य अविद्या के संस्कारों के साथ मिल कर ज्ञाता, ज्ञेय इत्यादि विभिन्न अवस्थाओं का निर्माण करते हैं।

कश्मीर के त्रिक-दार्शनिकों के अनुसार यह जगत् न तो परम-तत्त्व का परिणाम है और न ही विवर्त। उनके मत में चैतन्य ही एकमात्र सत्ता है और यह सबको समाहित किये हुए है। जो कुछ भी हम अनुभव करते हैं, वह इसमें अवस्थित है। सो, जिसे आम तौर पर बाह्य कह दिया जाता है, वह चैतन्य में उसी प्रकार का आभास है, जैसा दर्पण में होता है। जगत् चैतन्य के भीतर एक प्रतिबिम्ब है। इसकी अभिव्यक्ति चैतन्य के अनियन्त्रित और सहज स्वातन्त्र्य के कारण होती है और आभास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के प्रवर्तन के लिए प्रधान शक्ति का विलास एवं चैतन्य का अनियन्त्रित स्वातन्त्र्य और स्वतःप्रवृत्ति ही पर्याप्त है। यह बता देना आवश्यक है कि आभास के सिद्धान्त में विवर्तवाद को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारणों से अस्वीकार किया गया है। आभासवाद के व्याख्याकार की दृष्टि में जगत् मौलिक रूप से एक अविद्यामूलक मिथ्या आभास नहीं है, यह किसी प्रतिबिम्ब जितना ही सत्य है। किन्तु जिस माध्यम में यह अभिव्यक्त होता है, उससे पृथक् इसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इसका अस्तित्व केवल माध्यम का ही अस्तित्व है। किन्तु विवर्तवादी, जैसा हम जानते हैं, स्पष्ट रूप से दृश्यजगत् की वास्तविकता को अस्वीकार करता है। उसके मत में केवल अप्राज्ञ 'प्रमाता' को ही जगत् इस रूप में

दिखाई देता है और अन्ततः यह माया में विलीन हो जाता है, जो ब्रह्म से न तो अभिन्न है, न ही भिन्न है और इसलिए अनात्म-पदार्थ मानी जाती है। किन्तु त्रिक-दर्शन में जगत् को चैतन्य की प्रधानशक्ति की अभिव्यक्ति और फलस्वरूप मूलप्रकृत्या आत्मिक माना जाता है। अन्त में पुनः प्रधान-शक्ति में ही जगत् का लय हो जाता है। प्रधान शक्ति का कभी भी विलोप नहीं होता, अपितु जगत् के तिरोहित हो जाने के बाद भी इसकी सत्ता रहती है।

इस विषय का अध्ययन काफी दिलचस्प होगा कि पूर्वनिरूपित पाँच सिद्धान्तों में से कौन सा सिद्धान्त भर्तृहरि द्वारा अभिमत सृष्टिप्रक्रिया को तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि को भली भाँति स्पष्ट करता है। यह तो स्पष्ट है कि आरम्भवाद एवं संघातवाद का वैयाकरण के दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये दोनों सिद्धान्त प्रत्येक कार्य का उपादानकारण परमाणुओं को मानते हैं, जबकि भर्तृहरि के दर्शन में उनके लिए कोई स्थान नहीं है।

इस विषय पर थोड़ा विस्तार से विचार कर लें। भर्तृहरि ने शब्द के स्वरूप के बारे में तीन सुविज्ञात मतों की ओर संकेत किया है[१]। कुछ चिन्तकों के अनुसार अन्तर्वर्ती वायु उच्चारण-स्थानों से टकरा कर शब्द में परिणत होता है। अन्य चिन्तकों के अनुसार शब्द भौतिक परमाणुओं से बना है। किन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार शब्द अन्तर में अवस्थित चैतन्य ही है[२]। उनका सुझाव है कि आभ्यन्तर चैतन्य सूक्ष्म-वाक् के रूप में विद्यमान रहता है और अभिव्यक्त होने पर शब्द का रूप धारण कर लेता है[३]। कहने की आवश्यकता नहीं कि भर्तृहरि पतञ्जलि के मत की ही पुष्टि करते हैं और उसके मूल आशय को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।

इन तीनों मतों में प्रथम मत बहुत प्राचीन है। प्राचीन शिक्षाकार आभ्यन्तर वायु को शब्द के सृजन का उपादान कहते हैं[४]। शबरस्वामी ने इस मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि यदि शब्द वायु के उत्पाद होते, तो हमें उनके वायवीय स्वरूप की अनुभूति स्पर्श द्वारा होनी चाहिए थी[५]। नैयायिकों ने भी इस मत को यही कहकर अस्वीकार किया है कि यदि शब्द वायवीय उत्पाद होते, तो उनकी उपलब्धि केवल स्पर्शेन्द्रिय द्वारा हो पाती। श्रवणेन्द्रिय को वायवीय परमाणुओं से निर्मित नहीं माना जा सकता। इसलिए यदि शब्द वायवीय उत्पाद होते, तो श्रवणेन्द्रिय उन्हें ग्रहण न

---

१. वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।—वा. प., १,१०८।

२. ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य। —म. भा. प्र., २, पृ. २५४।

३. अथ वा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति। —म. भा., पा. १.४.२९ पर।

४. तथा च शिक्षाकारा आहुर्वायुरापद्यते शब्दताम्।—श. भा., पृ. ९०-९२।

५. ....न च वायवीयानवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः.........स्याच्चेदेवं स्पर्शनेन उपलभेमहि।—वही।

कर पाती और फिर, वायवीय तत्त्वों से निर्मित मानने पर शब्द या ध्वनियाँ अनित्य होंगे। इसके अलावा, यदि शब्द वायवीय परमाणुओं के संघात से उत्पन्न होते, तो वे उन्हीं परमाणुओं में समवेत स्पर्शनीय धर्मों की भाँति अलक्ष्य होते। किन्तु इनमें से कोई भी विकल्प ग्राह्य नहीं माना जा सकता। इसका सीधा-सा कारण यह है कि वायवीय उत्पाद अनिवार्यरूप से स्पर्श-संवेदनों के माध्यम से ग्रहण किये जाते हैं। और यह सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ होगा कि शब्द या ध्वनियाँ स्पर्शग्राह्य धर्मों से युक्त हैं। यह एक ऐसी कल्पना होगी, जिसके लिए अनुभव में कोई आधार नहीं है[1]।

बहरहाल वैयाकरण शब्द को वायु-कणों से निर्मित नहीं मानते, क्योंकि उनके दर्शन में शब्द एक नित्य सत्ता है। जिसे वायवीय द्रव्य का विकार माना जाता है, वह तो ध्वनि है। नैयायिक की यह आपत्ति सुसंगत नहीं है कि वायु-कणों का प्रत्यक्ष उनके स्पर्शग्राह्य गुणों से अलग नहीं हो सकता। ऐसा कोई नियम नहीं है कि किसी द्रव्य-विशेष के सभी गुणों की उपलब्धि एक साथ होगी। केवल सहज-प्रक्रिया में विकसित धर्म हो प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है, अन्यथा गर्म वायु में रूप को अनुपलब्धि अव्याख्येय रहेगी। नैयायिक की दूसरी आपत्ति यह है कि ध्वनि की प्रकृति वायवीय मानने पर श्रवणेन्द्रिय द्वारा इसका ग्रहण नहीं हो सकता। कारण यह कि इन्द्रियाँ स्वयं जिस द्रव्य से निर्मित होती हैं, केवल उसके सजातीय गुणों की ही उपलब्धि करने में समर्थ हैं। चक्षु को रूप की उपलब्धि होती है, क्योंकि रूप अग्नि का गुण है, जो चक्षु का भी निर्मातृत्त्व है। अतः ध्वनि को वायु का धर्म मानने पर यह श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकती, क्योंकि श्रवणेन्द्रिय की रचना वायु से नहीं हुई है। वैयाकरणों ने इस पूर्वपक्ष को नहीं रखा है, इसलिए हम नहीं कह सकते कि इस पर उनका ठीक-ठीक क्या उत्तर होता।

किन्तु इस आपत्ति का खण्डन भी किया जा सकता है, यदि हम यह मान लें कि ध्वनि आकाश का गुण है और मात्रा एवं स्वर, तीव्रता एवं मन्दता ध्वनि के धर्म हैं, न कि शब्द या स्फोट के, जो कि वैयाकरण मत में ध्वनि द्वारा व्यक्त किया जाता है। उदयन की आपत्ति है कि ये धर्म अनिवार्यतः शब्द से संश्लिष्ट रूप में अनुभूत होते हैं और ध्वनि से भिन्न शब्द के विशिष्ट अस्तित्व की उपलब्धि नहीं होती और कि वैयाकरण द्वारा प्रतिपादित स्फोटरूप शब्द की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। वैयाकरण ने इसे प्रबल चुनौती दी है। कथित अनुपलब्धि से स्फोट की संभावना के विरुद्ध कोई ठोस आधार नहीं बनता। जैसा हम परवर्ती अध्यायों में चर्चा करेंगे, स्फोट को पर्याप्त तर्क द्वारा सिद्ध किया गया है। वैसे भी अनुभूतिमूलक साक्ष्य को अन्तिम रूप से निर्णायक नहीं कहा जा सकता।

अब हम शब्द की पारमाणविक संरचना के मत की चर्चा करेंगे। यद्यपि इस मत पर भर्तृहरि के टीकाकारों ने प्रकाश नहीं डाला है, तथापि सौभाग्य से हम इसे

---

१. न्या. कु., २, पृ. ३३-३४।

जैन चिन्तन-परम्परा में खोज पाते हैं। जैन-दार्शनिक मानते हैं कि शब्द परमाणुओं से निर्मित भौतिक द्रव्य हैं और ये परमाणु अन्य भौतिक-परमाणुओं से भिन्न प्रकृति के हैं। वायु, पृथ्वी आदि जैसे स्वीकृत-परमाणुओं से इनका भेद करने के लिए इन्हें ध्वनि-परमाणुओं की संज्ञा दी गई है। नैयायिक के पास इस मत की आलोचना के अनेक कारण हैं। पहला, यदि शब्द परमाणुओं के संघात से निर्मित होते, तो वे अनिवार्यतः स्पर्शनीय गुणों से भी युक्त होते ; किन्तु शब्दों की प्रतीति कभी ऐसे गुणों के साथ नहीं होती। दूसरे, शब्दों में यदि घनत्व होता, तो किसी व्यवधान द्वारा उनका अवरोध अवश्य संभव होता। तीसरे, शब्द के अवयवों का कभी भी अनुभव नहीं होता। चौथे, भौतिक परिमाण से युक्त होने के कारण दूसरे सूक्ष्म कणों से इसके टकराव का अनुभव होना चाहिए और इसलिए इसके द्वारा उनका विस्थापन भी होना चाहिए ; किन्तु इनमें से कोई भी संभावना वस्तुस्थिति के रूप में दिखाई नहीं देती।

किन्तु जैन-दार्शनिक के हिसाब से आपत्तियाँ उसकी अवधारणा के लिए कोई गम्भीर रुकावट नहीं हैं। शब्दों को स्पर्शनीय गुणों से युक्त माना जा सकता है, भले ही अपनी प्रकृति से ये गुण अनुद्भूत रहें और इसलिए पकड़ में न आ सकें। यह इस तथ्य से बिल्कुल स्पष्ट है कि शब्दों की उपलब्धि हवा की गति से प्रभावित होती है। यही कारण है कि अनुकूल हवा के होने पर दूरवर्ती शब्द भी पकड़ में आ जाते हैं और जब हवा का बहाव प्रतिकूल दिशा में हो, तो समीपवर्ती शब्द भी हमारी श्रवणेन्द्रिय की पहुँच में नहीं आ पाते। इस तथ्य का स्पष्टीकरण बहुत सरल हो जाता है, यदि हम अन्य भौतिक द्रव्यों की भाँति शब्द या ध्वनि को भी स्पर्शनीय धर्मों से युक्त मान लें। दूसरी आपत्ति भी निराधार है, क्योंकि गन्धमय कणों के प्रसंग में हम देखते हैं कि किसी बन्द प्रदेश में भी उनका आगम और निर्गम होता रहता है, यद्यपि उन्हें आकारयुक्त स्वीकार किया गया है। यदि इस कठिनाई से बचने के लिये यह भी मान लिया जाए कि इन सूक्ष्म कणों को व्यवधान पार करने में इसलिये रुकावट नहीं होती, क्योंकि वे सूक्ष्म छिद्रों के माध्यम से उसमें प्रवेश कर जाते हैं, तो यही उत्तर जैनों द्वारा ध्वनि के लिये भी दिया जा सकता है। तीसरी आपत्ति भी गलत उपमिति पर आधारित है। हम पाते हैं कि बिजली की कौंध या अन्य घटनाओं में अवयवों की स्पष्टतया अनुभूति नहीं होती। इसलिये मात्र अवयवों का अस्तित्व उनकी उपलब्धि के लिये कोई गारंटी नहीं है और न ही उनकी अनुपलब्धि उनके अभाव का प्रमाण है। चौथी आपत्ति भी युक्तियुक्त नहीं लगती, क्योंकि जिस टकराव की बात की गई है, वह उस समय भी कहीं नहीं दिखता जब गन्धमय कण नासापुट में प्रवेश करते हैं। अपने आकार के बावजूद ये कण नथुनों के बालों को नहीं कँपाते। यदि इसके समाधान के लिये विपक्षी कहें कि वहाँ तो गन्धमय कणों का अत्यधिक हलकापन इसका कारण है, तो ध्वनि-परमाणुओं के मामले में भी जैन यही मान सकते हैं[1]।

---

१. प्र. न., ४.९ और उस पर टीका।

किन्तु वैयाकरण जैनमत को स्वीकार नहीं करता। इसके लिए उसके पास वही आधार है, जिस पर न्याय-वैशेषिक मत को अस्वीकार किया गया है। असंख्य ध्वनिसत्ताओं की परिकल्पना शब्द के एकत्व की प्रतिपत्ति के एकदम विपरीत है। वैयाकरण ने दार्शनिक विवेचनाओं के आधार पर सिद्ध किया है कि शब्द चैतन्य से भिन्न वस्तु नहीं है। इस प्रकार यह स्वरूपतः आत्मिक है और यह देखते हुए शब्द की पारमाणविक संरचना उसे कदापि स्वीकार्य न होगी। वैयाकरण के अनुसार शब्द के मूलभूत स्वरूप और व्यापार के संबन्ध में भ्रान्ति से पूर्वोल्लिखित दोनों मत उत्पन्न होते हैं।

अब हम परिणामवाद एवं विवर्तवाद के सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करें। इससे हम जान सकेंगे कि वैयाकरण जिस सिद्धान्त पर अपने दर्शन को स्थापित करते हैं, वह इनमें से किसी एक से कहाँ तक मेल खाता है। इस सम्बन्ध में भट्टोजिदीक्षित का कथन अवधेय है। अपने **शब्दकौस्तुभ** में भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं कि भर्तृहरि ने शब्द के स्वरूप पर विचार करते हुए आपाततः बाह्य-जगत् की विवर्तमय सृष्टि और ऐसे ही अन्य विषयों का विवेचन किया है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार, यह वैसा ही है, जैसे तुच्छ कौड़ी खोजते हुए किसी को बहुमूल्य रत्न प्राप्त हो जाए[1]। माधवाचार्य भी अपने ग्रन्थ **सर्वदर्शनसंग्रह** में व्याकरण-दर्शन पर चर्चा कर चुकने के उपरान्त सांख्यदर्शन की समीक्षा प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि सांख्य द्वारा प्रतिपादित परिणामवाद का सिद्धान्त जब प्रतिस्पर्धी के रूप में स्थापित हो, तो विवर्तवाद की प्रतिष्ठा को स्थायित्व नहीं मिल सकता[2]। इससे स्पष्ट है कि माधवाचार्य के मत में वैयाकरण का दर्शन विवर्तवाद पर आधारित है। सुप्रसिद्ध कवि व नाटककार भवभूति के ग्रन्थों से भी यह अनुमान किया जा सकता है कि शब्दब्रह्म का सिद्धान्त विवर्तवाद पर आधारित है।[3] प्रभाकर **बृहती** में और सालिकनाथ द्वारा **पञ्चिका** में विवर्तवाद-पक्षधर के रूप में वैयाकरण का उल्लेख हुआ है[4]। फिर यह भी ध्यान देने योग्य है

१. वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवानिति वासिष्ठरामायणोक्ताभाणकन्यायेन शब्दविचाराय प्रवृत्तः सन् प्रसङ्गादद्वैते औपनिषदे ब्रह्मण्यपि व्युत्पद्यतामित्यभिप्रायेण भगवान्भर्तृहरिर्विवर्तवादादिकमपि प्रसङ्गात् व्युत्पादयत्। —श. कौ., पृ १२।

२. परिणामवादे परिपन्थिनि जागरूके कथङ्कारं विवर्तवाद आदरणीयो भवेत्।

—स. द. सं., पृ. ११७।

३. (क) अथ स भगवान्प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय। उ. रा., पृ. ५४।

(ख) वही, पृ. १०५ एवं पृ. १५५।

४. (क) तस्माच्छब्दतत्त्वमेवेदमर्थरूपतया विवर्तते। —बृहती, पृ. १४३।

(ख) तस्माद् विवर्त एवाश्रयणीयस्तत्त्वविद्‌भिरवगतेः कारणम्। —वही, पृ. १५०।

(ग) अत एक एवायं बहुधा विकल्प्यावगम्यते लोके वेदे चेति ब्रह्मविदो मन्यन्ते। तस्माद्विवर्त एवायमिति ब्रह्मविद्भिरवगन्तव्यम्। —वही, पृ. ३६१-६२।

कि **मृगेन्द्रागम** पर अपनी टीका में वेदान्तदर्शन का खण्डन करते हुए नारायणकण्ठ भर्तृहरि का निर्देश विवर्तवाद के पक्षधर के रूप में करते हैं[1]।

दूसरी ओर, इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि वाचस्पति, जयन्तभट्ट और शान्तरक्षित के समय तक शब्दब्रह्म-दर्शन के दो भिन्न संप्रदाय अस्तित्व में आ चुके थे। एक सम्प्रदाय इसकी व्याख्या परिणामवाद के प्रकाश में करता था, तो दूसरा इसे विवर्तवाद पर आधारित मानता था। उदाहरण के तौर पर, वाचस्पति **न्यायकणिका** में कहते हैं कि शब्दब्रह्म के दर्शन की व्याख्या परिणामवादियों और विवर्तवादियों ने अपने-अपने ढंग से की है[2]। जयन्तभट्ट वैयाकरण के दर्शन को विवर्तवाद पर आधारित दर्शन के रूप में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु साथ ही यह संकेत करने से नहीं चूकते कि परिणामवाद की दृष्टि से इसकी व्याख्या करने वाली चिन्तन-परम्परा भी संभव है[3]। शान्तरक्षित के **तत्त्वसंग्रह** से भी शब्दब्रह्म के दर्शन की द्विविध व्याख्या की संभावना सूचित होती है[4]।

इतने परस्पर विरुद्ध साक्ष्यों के बीच, एक लम्बे अन्तराल के बाद आज यह तय कर पाना लगभग असंभव है कि इन दो सिद्धान्तों के प्रति भर्तृहरि का क्या रुख रहा होगा ? उनके ग्रन्थों से प्राप्त अन्तःसाक्ष्य भी इस मामले में विशेष सहायक नहीं हैं, क्योंकि शब्दब्रह्म से जगत् के विकास के प्रसंग में उन्होंने परिणाम और विवर्त दोनों शब्दों का प्रयोग निर्विशेष रूप से किया है[5]। इसलिए, हमें लगता है कि इन दोनों शब्दों के अर्थों का जो भेद परवर्ती दार्शनिक साहित्य में अत्यन्त सामान्य है, उससे भर्तृहरि परिचित नहीं थे। स्वयं शंकर के ग्रन्थों से यह पता चलता है कि विवर्त

(घ) एक एवायं शब्दो बहुधा प्रकृतिप्रत्ययविभागेन विकल्प्य अविद्यमानभेदः सन् लोके वेदे च प्रतीयत इति ब्रह्मविदो वेदविदो वैयाकरणा मन्यन्ते। —पञ्जिका, पृ. ३६०

१. मृगे० पर टीका, पृ० ७४-७५।

२. ये पुनरभिन्नस्य शब्दब्रह्मणो विवर्तं वा परिणामं वार्थमाचक्षते। —न्या. क., पृ. २९३।

३. विवर्तवादोऽपि न समञ्जसः। तथा हि विवर्ते क्षीरमिव दधिरूपेण परिणामित्वेन विकारितया वा क्षीरादेरनित्यत्वप्रसङ्गात्·········अथार्थप्रतिभासमसत्यमपीन्द्रजालवदुपदर्शयति-शब्द इत्ययं विवर्तार्थः·········अथार्थरूपेण शब्दः शुक्तिरिव रजताकारतयावभासत इतीयं विवर्तवाचोयुक्तिः·········अथ शब्दब्रह्मैव सृजति जगन्तीत्थं विवर्तप्रकार उच्यते······।
—न्या. मं., २ पृ. १०२।

४. (क) नाशोत्पादसमालीढं ब्रह्म शब्दमयं परम्।
यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते ॥ —त. सं., १२८।
(ख) अथाविभागमेवेदं ब्रह्मतत्त्वं सदा स्थितम्।
अविद्योपप्लवाल्लोको विचित्रं त्वभिमन्यते ॥ —वही, १४४।

५. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ॥ —वा. प., १.१२१।

शब्द का प्रयोग एक ऐसे अर्थ में भी होता था, जो परिणाम शब्द से व्यक्त होता है। शंकर ने जगत् के विकास की सांख्य-दृष्टि की व्याख्या करते समय विवर्त शब्द का प्रयोग किया है[१]। अतः हमारा अनुमान है कि विवर्त शब्द को अतात्त्विक परिणाम अथवा प्रातिभासिक आत्मच्युति का अपना विशिष्ट अर्थ भर्तृहरि के बाद होने वाले अद्वैत वेदान्तियों के ग्रन्थों में मिला और इसलिए भर्तृहरि के दृष्टिकोण को या तो परिणाम-वाद अथवा विवर्तवाद के प्रकाश में व्याख्यात करने का प्रयास असामान्य बिल्कुल नहीं है। भर्तृहरि के प्रसंग में परिणाम और विवर्त, इन दो शब्दों के अर्थ में किसी सुस्पष्ट भेद का प्रश्न ही नहीं है; किन्तु कालान्तर में जब इन दो शब्दों के अर्थ स्पष्टतया परिभाषित हो गए; तो भर्तृहरि के अनुयायियों में भी आचार्य के दृष्किोण को यथासंभव सुनिश्चित रूप में प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ। भारतीय दर्शन का प्रत्येक अध्येता शंकराचार्य द्वारा अपने पश्चाद्वर्ती दार्शनिकों पर डाले गए प्रभाव से सुपरिचित है और इस कथन में किसी मतभेद की गुंजाइश नहीं है कि प्रतिभास के अर्थ में विवर्तवाद शांकरदर्शन की ही विशेषता है। अतः भर्तृहरि के वे अनुयायी, जो शंकर के दार्शनिक चिन्तन से अत्यन्त प्रभावित थे, ऐसा मानने लगे कि दार्शनिक रूप से उनके आचार्य विवर्तवाद की ओर उन्मुख थे। किन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे व्याख्याकार भी हुए, जिनका परिणाम के सिद्धान्त में गहरा विश्वास था। यह स्वाभाविक ही था कि वे भर्तृहरि के मत की व्याख्या उस सिद्धान्त के प्रकाश में करते, जिसने उन्हें प्रभावित किया।

यह अवेक्षणीय है कि जयन्तभट्ट विवर्तशब्द के चार पृथक्-पृथक् अर्थ दरशाते हुए वैयाकरण के शब्दब्रह्मवाद की कम से कम चार अलग-अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम 'विवर्त' शब्द का अर्थ है परिणाम, इस मत के अनुसार शब्दब्रह्म जगत् के विभिन्न पदार्थों के रूप में परिणत होता है, वैसे ही जैसे दूध दही में परिवर्तित हो जाता है। दूसरी व्याख्या में, विवर्त शब्द मिथ्या-प्रतिभास की धारणा को संप्रेषित करता है। इस मत में शब्दब्रह्म का वस्तुगत सत्ता से कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है और शब्द द्वारा अभिहित अर्थ किसी ऐन्द्रजालिक द्वारा प्रदर्शित इन्द्रजाल की भाँति मिथ्या है। तीसरे मत में विवर्त शब्द अतात्त्विक परिणाम के अर्थ में समझा जाता है, इसका अर्थ यह हुआ कि शब्दब्रह्म विभिन्न पदार्थों के रूप उसी प्रकार ग्रहण कर लेता है, जैसे शुक्ति रजतखण्ड का रूप ग्रहण कर लेती है। चौथे मत के अनुसार विवर्तशब्द इस धारणा को व्यञ्जित करता है कि शब्दब्रह्म जगत् का सृजनात्मक तत्त्व है[२]। इन सभी विवरणों से यही प्रतीत होता है कि वर्षों के अन्तराल के कारण शब्दब्रह्मवाद अनेक प्रकार की व्याख्याओं का विषय बन गया; किन्तु इतना हम निश्चित रूप से जानते हैं कि जयन्तभट्ट के समय में सर्वाधिक प्रामाणिक संप्रदाय इसकी व्याख्या विवर्त

---

१. त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तते।—शारी. भा., पृ. ४८८।

२. न्या-मं०, २, पृ. १०२-३।

के प्रकाश में—जिसका अर्थ अतात्त्विक परिणाम था—करता था, क्योंकि जयन्तभट्ट ने विवर्त के इसी पक्ष को वैयाकरणमत मानकर उसकी आलोचना की है[1]।

पुण्यराज और हेलाराज के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे दोनों शंकर द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण अद्वैतवाद के दृष्टिकोण से ही भर्तृहरि के मत की व्याख्या करते हैं। पुण्यराज द्वारा किये गए चित्रण के अनुसार कालशक्ति न सत्य है, न असत्य, जिसका फलितार्थ यह निकलता है कि यह मिथ्या है[2]। वे विवर्तशब्द की व्याख्या भी मिथ्या-आभास के अर्थ में करते हैं, जैसा स्वप्न में होता है और साथ ही यह भी कहते हैं कि अनेक रूपों (विवर्तों) से गुजरते समय ब्रह्म अपनी प्रकृति का उत्सर्ग नहीं करता[3]। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि एक अन्य प्रसंग में पुण्यराज समस्त पदार्थजगत् को शब्दब्रह्म का परिणाम कहते हैं और इसे सूक्ष्मरूप में शब्दब्रह्म में मानते हैं[4]। इस प्रकार विसंगति के परिहार के लिये हमारा सुझाव है कि यहाँ 'परिणाम' शब्द को विवर्त के अर्थ में समझना चाहिए।

किन्तु हेलाराज दृढ़-विश्वास के साथ असंदिग्ध शब्दों में भर्तृहरि के मत की व्याख्या शंकर के पूर्ण अद्वैत के प्रकाश में करते हैं। **वाक्यपदीय** के तृतीय काण्ड (**प्रकीर्णकाण्ड**) पर अपनी विस्तृत टीका में वे अनेक स्थलों पर इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि प्रथम काण्ड (**ब्रह्मकाण्ड**) में वे भर्तृहरि के दृष्टिकोण को विशुद्ध रूप से अद्वैतवादी सिद्ध कर चुके हैं। उनकी व्याख्यानपद्धति से इस सम्बन्ध में कोई सन्देह शेष नहीं रहता कि भर्तृहरि के दर्शन का शंकर के दर्शन से किसी भी दृष्टि से सारभूत भेद नहीं है। यद्यपि भर्तृहरि के एक भी शब्द से शब्दब्रह्म की शक्ति के रूप में अविद्या की स्वीकृति का संकेत नहीं मिलता,[5] तथापि हेलाराज केवल अविद्या ही नहीं, अपितु अविद्याशक्ति का भी उल्लेख करते हैं[6]। वे इसका वर्णन करते हैं, अज्ञान या तमस् के रूप में, जो ब्रह्म के प्रकाश को आवृत्त कर लेता है और

---

१. अतश्च शब्दब्रह्मेदमेकमविद्योपाधिदर्शितविचित्रभेदमविद्योपरमे यथावस्थितरूपं प्रकाशत इति युक्तम्।—वही, पृ. १००।

२. एकस्य सर्वबीजस्य ब्रह्मणस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां चानिर्वाच्या शक्तिरूपा स्थितिः।—पु. रा., पृ० ३।

३. एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्या विभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः स्वप्नविषय-प्रतिभासवत्।—वही, पृ० १।

४. सर्वा अप्यर्थजातयः सूक्ष्मरूपेण शब्दाधिष्ठानाः। ताः किलात्माभिव्यक्तिमधिष्ठानपरिणामेन प्रतिलभमाना वाच्यवाचकभावरूपेण भेदेन प्रतीयन्ते।— वही, पृ० ११९।

५. भर्तृहरि अविद्या एवं विद्या की चर्चा तो करते हैं, किन्तु स्पष्टतः नहीं कहते कि अविद्या शब्दब्रह्म की शक्ति है या नहीं। तुल०—
शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्तते॥—वा. प. ३.२३५।

६. अत एवाविद्याशक्तिर्ब्रह्मणोर्भेदे न द्वैतापत्तिः।—हे.रा., पृ० १७२।

ऐसी शक्ति के रूप में जो मिथ्या-प्रपञ्च को उसके विविध रूपों में जीवात्मा के समक्ष प्रदर्शित करती है[1]। अविद्या के द्विविध व्यापार से शांकरदर्शन का विद्यार्थी भली-भाँति परिचित है। वहाँ अविद्या को आवरण और विक्षेप के व्यापारों से युक्त कहा गया है। भर्तृहरि के दर्शन में कालशक्ति और अविद्या में क्या भेद है? हेलाराज इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि कालशक्ति भावों को कालिक क्रम में प्रस्तुत करती है, जबकि अविद्या परमतत्त्व के दर्शन को आच्छन्न करके दृश्यजगत् की अनेकता को प्रदर्शित करती है[2]। दृश्यजगत् एक मिथ्या-आभास से अधिक कुछ नहीं है और यह अविद्या एवं कालशक्ति के व्यापार द्वारा शब्दब्रह्म की अधिष्ठान-सत्ता पर अध्यारोपित है। ये दोनों तत्त्व (अविद्या एवं कालशक्ति) अनादि काल से शब्दब्रह्म के अतिनिकट संसर्ग में रहते हुए भी समश्रेणिक सत् नहीं हैं; वे तात्त्विक रूप से अपने उत्पाद दृश्य-जगत् की भाँति ही मिथ्या हैं। जगत् के अगणित भावों में विद्यमान एवं अनुस्यूत तो चैतन्यरूप सत्य या परमतत्त्व है; यह वेदान्तियों का ब्रह्म और वैयाकरणों का शब्दब्रह्म है।

सोमानन्दनाथ ने शिवदृष्टि में वैयाकरण के शब्दाद्वैतवाद की समीक्षा की है और इसकी आलोचना करते हुए अपने मत की स्थापना की है, जो एक प्रकार का अद्वैतात्मक प्रत्ययवाद होते हुए भी जगत् को यथार्थ-सत्ता का स्तर देता है। उनके अनुसार वैयाकरण के दर्शन में पश्यन्ती चरम-सत्ता है और इसके परे ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जो इससे उच्चतर अथवा श्रेष्ठतर हो[3]। वैयाकरण पश्यन्ती का वर्णन विश्वातीत चैतन्य के रूप में करता है। जहाँ शब्द एवं अर्थ, ज्ञाता एवं ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है और बाह्य-सत्ताओं की विविधता नहीं दीखती। वैसे सोमानन्दनाथ इसे उच्चतम पारमार्थिक अवस्था अथवा चरम-सत्ता मानने के प्रश्न पर वैयाकरण से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि पश्यन्ती को मध्यमा का अव्यवहित अनिवार्य पूर्ववर्ती माना जाता है। कालिक-व्यवस्था व क्रम मध्यमा में अभिव्यक्त होते हैं। कार्य एवं कारण की समानजातिता के सिद्धान्त के आधार पर पश्यन्ती को भी क्रमावभासन की अव्यक्त शक्ति से युक्त मानना होगा, अन्यथा मध्यमा में क्रम-व्यवस्था अव्याख्येय हो जाएगी। इससे स्पष्टतः चरम-सत्ता की श्रेणी में रखे जाने का पश्यन्ती का अधिकार खण्डित हो जाता है; क्योंकि प्राक्कल्पनानुसार चरम-सत्ता में क्रम का रञ्चमात्र भी चिह्न सम्भव नहीं, चाहे वह क्रम कालसम्बन्धी हो या दिक्सम्बन्धी। सोमानन्दनाथ की आलोचना के जो भी गुण-दोष हों, वैयाकरण पश्यन्ती की परिकल्पना अविनश्वर

---

१. (क) अप्रकाशस्तु तमोऽविद्या।—वही, पृ० ८९।
(ख) अविद्यावशाद् व्यवस्था नानारूपा दृश्यते।—वही, पृ० १३०।

२. ब्रह्मणा भेदावभासनमविद्याकृतम्। तत्रैव क्रमाभासनं कालाख्यस्वातन्त्र्यशक्तिकृतम्।
—हे. रा. पृ० १३६।

३. अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः॥—शि. दृ., २.१।

परम-तत्त्व के रूप में ही करता है, जो अनादि एवं अनन्त है; यह प्रत्येक देह में जीवात्मा के रूप में विद्यमान है। हमारे भीतर साक्षी के रूप में अवस्थित है और अचेतन वस्तु के सभी लक्षणों या विशेषताओं से मुक्त एक चेतन मूलतत्त्व है। 'दृश्' धातु से निर्मित 'पश्यन्ती' नाम के मूल में यह तथ्य है कि यह समस्त विश्व का उसकी सभी अवस्थाओं में अवलोकन करती है। यह किसी भी एक प्रमाण द्वारा अगम्य है, यह काल और दिक् की सीमाओं में नहीं आती, जो कुछ भी क्रम से सम्बद्ध है, यह उससे परे है। यह निराकार है, विभु है, निःश्रेयस है और साक्षात्कार का चरम विन्दु है। सृष्टिक्रम (मानसिक अथवा भौतिक) का विकास इसमें अन्तर्निष्ठ असंख्य शक्तियों के कारण ही संभव होता है। मध्यमा पश्यन्ती का अगला विकासज है। यह सांख्य के बुद्धितत्त्व के तुल्य एक बौद्धिक-तत्त्व है, जो आगे चलकर उच्चरित वाक्-रूपों (वंखरी) के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करता है, जहाँ प्रत्ययों का विषयीकरण होता है और उन्हें बाह्य रूप मिलता है। इससे भी आगे चलकर पश्यन्ती, अविद्या के व्यापार के कारण, जगत् के विभिन्न पदार्थों के रूप में परिणत होती है और उस अवस्था में यह हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अभिज्ञेय होती है। सोमानन्दनाथ निश्चयात्मक रूप में कहते हैं कि वैयाकरण के मत में जगत् के विभिन्न पदार्थों में पश्यन्ती के सभी रूपान्तरण मिथ्या हैं, वे वास्तविक परिणाम नहीं हैं[1]। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि सोमानन्दनाथ जैसे शैवागम के एक सुविख्यात आचार्य, जो अभिनवगुप्त प्रभृति विद्वानों के परम श्रद्धास्पद हैं और जिनकी प्रामाणिकता संदेह से परे है, भर्तृहरि के दर्शन का निरूपण स्वयं अपने दार्शनिक संप्रदाय के सिद्धान्तों के प्रकाश म नहीं करते। सोमानन्दनाथ के सुयोग्य शिष्य एवं शिवदृष्टि के वृत्तिकार उत्पलदेव भर्तृहरि को शब्दाद्वैतवाद का पक्षधर मानते हैं, जिसके अनुसार जगत् एक मिथ्या-आभास है। उनके प्रस्तुतीकरण से स्पष्ट होता है कि भर्तृहरि के मत मे सृष्टिप्रक्रिया अविद्या के व्यापार के परिणामस्वरूप प्रचलित होती है। अविद्या सदसद्विलक्षण होने के कारण किसो विरोधी सत्ता को उपस्थापित नहों करती[2]।

नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सोमानन्दनाथ का रचनाकाल रहा है। यह सर्वथा संभव है कि उनके तुरन्त बाद होने वाले उनके शिष्य उत्पलदेव शंकर द्वारा प्रतिपादित विवर्तवाद से भलीभाँति परिचित रहे हों। इसलिए उत्पलदेव द्वारा और उनके गुरु द्वारा भी, वैयाकरण के दर्शन का विवरण उस काल में प्रचलित शंकर के प्रत्ययवाद की शैली पर दिया जाना कथमपि आश्चर्यजनक नहीं है। यदि अद्वैत-वेदान्त से उनके परिचय की बात रद्द कर दी जाए और हम मानें कि सोमानन्दनाथ और उत्पलदेव भर्तृहरि की दार्शनिक दृष्टि के बारे में हमें सर्वथा यथातथ्य जानकारी देते

---

१. तथा रूपानुरूपत्वात् प्रसूतेः शिवरूपतः।
सत्यत्वाच्च न तुल्यत्वमतोऽस्मात्प्रविरम्यताम् ॥—शि. दृ., २.७९.

२. यस्मात्तैर्वैयाकरणैः.........पश्यन्तीरूपं शब्दतत्त्वमक्षरमनाद्यन्तं ब्रह्म विश्वार्थभावेन विवर्तते, तदसत्यरूपमात्मन्युपगच्छति। —वृत्ति, शि. दृ., २.११।

हैं, तो हम भर्तृहरि के अद्वैतवाद को शंकर के अद्वैतवाद का पुरोगामी कह सकते हैं। दृश्यजगत् की अनेकता का विकास एक आभास है, जिसमें व्यक्ति को प्रभावित करने की वही शक्ति है, जो किसी यथार्थ-तत्त्व में है, इसलिये यह आभास उसकी बुद्धि को भेदयुक्त कर देता है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, पुण्यराज एवं हेलाराज भी, ब्रह्म की शक्तियों की व्याख्या करते समय उन्हें तार्किक दृष्टि से अनिर्धार्य और इस प्रकार तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से मिथ्या मानते हैं। शाङ्करवेदान्त के व्याख्याताओं में प्रचलित परम्परा भी इस मत को पुष्ट करती है कि भर्तृहरि अद्वैतवाद के पक्षधर हैं और अनेकत्व को वे माया की काल्पनिक सृष्टि के रूप में निराकृत करते हैं। माया एक भ्रान्त्यात्मक तत्त्व है, जो यदि तार्किक भाषा में कहें तो, मिथ्या है और इसलिए इसकी प्रतीति अनुचित है[1]। किन्तु प्रतीति है अवश्य—एक अवितर्क्य और अकाट्य उपस्थिति के रूप में, जो अविद्याग्रस्त व्यक्तियों को भरमाती है। ज्ञान के उदय के साथ ही यह इस प्रकार लुप्त हो जाएगी कि इसका कोई चिह्न भी शेष न रहेगा।

किन्तु हमें इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि परवर्ती आचार्यों द्वारा भर्तृहरि के दर्शन को अपने-अपने प्रिय सिद्धान्तों के प्रकाश में देखने के तमाम प्रयासों के बावजूद उनके दृष्टिकोण के अनुसार वैयाकरण के दर्शन की कुछ आधारभूत विशेषताओं की व्याख्या अत्यन्त कठिन है। उदाहरण के लिये, यदि भर्तृहरि के दर्शन की व्याख्या शंकर द्वारा प्रवर्तित विवर्तवाद के प्रकाश में की जाए तो कालशक्ति को, और बल्कि अन्य सभी शक्तियों (कलाओं) को भी जो स्तर प्रदान किया गया है, उसकी व्याख्या भर्तृहरि के प्रति ईमानदारी बरतते हुए करना संभव नहीं है। इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं लगती कि कालशक्ति चरम स्थिति में सत्य है और इसका तत्त्वमीमांसीय स्तर वही है, जो शब्दब्रह्म का है; किन्तु शंकर कभी भी ब्रह्म के साथ सहवर्ती शक्ति की चरम-सत्ता को स्वीकार नही करेंगे। ब्रह्म की शक्तियों की चर्चा शंकर भी करते हैं; किन्तु वे शक्तियाँ ब्रह्म की समश्रेणिक सत्यता से युक्त नहीं हैं। अवश्य, भर्तृहरि के अनुसार स्वयं शब्दब्रह्म ही कालशक्ति है और इस शक्ति की स्वीकृति का अर्थ द्वैतवाद नहीं है[2]। किन्तु शंकर अभेद-सम्बन्ध की संभावना को केवल लाक्षणिक कथन के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। शंकर की अविद्या की मात्र प्रपञ्चगत सत्ता है, और प्रपञ्चगत सत्ता, तत्त्वमीमांसीय असत्यता के लिए केवल एक शिष्टोक्ति है। यदि भर्तृहरि के दृष्टिकोण को शंकर के दृष्टिकोण के साथ समीकृत करना है, तो शक्तियों को मिथ्या घोषित करना अनिवार्य है। यहाँ प्रसंगवशात् यह भी उल्लेख कर दिया जाए कि हेलाराज वैयाकरण के दर्शन की व्याख्या शंकर के विवर्तवाद के अनुसार करने के प्रति इतने

१. ………धातुसमीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम्—
शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तितः।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी ततः॥ इति। —न. प्र., पृ. ६०।

२. एकमेव यदाम्नातम्……। —वा. प., १.२।

अधिक उत्साहित हैं कि वे वास्तव में ही एक कारिका उद्धृत करते हैं, जिसमें सभी शक्तियों को मिथ्या कहा गया है[1]। किन्तु भर्तृहरि के दर्शन में कालशक्ति एवं कलाओं का शब्दब्रह्म-अभेद इतने स्पष्ट रूप में माना गया है कि उसके सन्दर्भ में शक्तियों को मिथ्या कहना शुद्ध रूप से मतान्धता ही होगी। परवर्ती रचनाकार निर्विवाद रूप से शांकरदर्शन से प्रभावित रहे हैं और इसलिये, जब उन्हें इस प्रकार के कथन तार्किक रूप में असंगत प्रतीत होते हैं कि शक्तियाँ नानारूप हैं, कि वे विशुद्ध एकात्मक मूलतत्त्व शब्दब्रह्म में अवस्थित हैं, और, कि उनकी अनेकता शब्दब्रह्म के एकात्मक स्वरूप का प्रत्याख्यान नहीं करती, तो वे शांकरदर्शन के प्रकाश में ही उन असंगतियों का परिहार करने का प्रयास करते हैं। जहाँ तक हमने भर्तृहरि के दर्शन को समझा है, असंगति वस्तुतः है ही नहीं, वह केवल तार्किक मानस की सृष्टि है। अन्तर्विरोध की प्रतीति का कारण शब्दब्रह्म और उसकी शक्तियों के बीच भेद की कल्पना है, जिसे भर्तृहरि ने स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार किया है। न केवल शब्दब्रह्म और शक्तियाँ एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं; बल्कि वे किसी भी प्रकार भिन्न ही नहीं हैं। वे सारतः अभिन्न हैं। वस्तुतः द्वैत की अवधारणा सिर्फ हमारी तर्क-प्रक्रिया का परिणाम है। किन्तु भर्तृहरि ब्रह्म का वर्णन शक्ति के रूप में करते क्यों हैं? क्या दोनों शब्द एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं? यदि ऐसा है तो भर्तृहरि की स्थिति कोई बहुत स्पष्ट नहीं होती।

हमारे विचार में इसका उत्तर इस प्रकार हो सकता है:—यद्यपि दोनों एक ओर अभिन्न हैं, तथापि जब तार्किक मानसब्रह्म और सृष्टिक्रम का सम्बन्ध जोड़ना चाहता है, तो ब्रह्म की अवधारणा शक्ति के रूप में की जाती है। सही है कि जगत् एक मिथ्या-आभास है; किन्तु यह आभास होता ही क्यों है? यदि कहें कि यह अविद्या के व्यापार के कारण होता है, तो प्रश्न उठेगा कि यह अविद्या कहाँ स्थित है। यदि शब्दब्रह्म में इसका अधिष्ठान है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि शब्दब्रह्म में वह सामर्थ्य है, जिसके द्वारा वह अविद्या को अपनी सत्ता में आश्रय दे सके। इस प्रकार अविद्या को आश्रय देने की शब्दब्रह्म की सामर्थ्य की अवधारणा के बिना अविद्या की ही अवधारणा असंभव है। सामर्थ्यशक्ति से व्यक्तिरिक्त कुछ नहीं है। तब प्रश्न उठेगा कि शब्दब्रह्म की यह सामर्थ्य, जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं, शब्दब्रह्म से भिन्न है या नहीं? इस प्रश्न का एकमात्र संतोषजनक उत्तर यही है कि यह भिन्न नहीं है। शब्द-ब्रह्म की कालशक्ति के विषय में यही सत्य है। आप कालशक्ति या किसी अन्य शक्तिविशेष को अस्वीकार कर सकते हैं; किन्तु आभास का आश्रय होने की ब्रह्म की सामर्थ्य को नहीं नकार सकते। अतः यदि ब्रह्म सत् है, तो यह शक्तिमान् भी है। इस प्रकार शक्ति और सत्ता अभिन्न हैं। जहाँ तक ब्रह्म की सत्ता का प्रश्न है, शंकर द्वारा उठाई गई तार्किक कठिनाई को भर्तृहरि अवास्तविक ही कहेंगे।

---

१. तथोक्तम्—

शक्तीनां वस्तुरूपत्वे तत्त्वान्यत्वविचारणा।
युज्यते कल्पितानां तु युक्ताद्वयविकल्पिता॥—हे. रा., पृ. १०२।

किन्तु यदि भर्तृहरि के दर्शन को परिणामवाद के प्रकाश में देखने का प्रयास किया जाए, तो इस दिशा में आने वाली दुस्तर कठिनाइयों का संकेत कर देना उचित होगा। सर्वप्रथम हमें यह देखना होगा कि जिस परिणामवाद के प्रकाश में इसकी व्याख्या का प्रयास किया जा रहा है, क्या वह साख्यदर्शन में प्रतिपादित परिणामवाद है। यदि प्रश्न का उत्तर हाँ में हो, तो यह कह देना आवश्यक है कि भर्तृहरि वास्तविक विकार को नहीं मानते, जबकि सांख्य की यही केन्द्रभूत स्थिति है। भर्तृहरि के अनुसार जगत् को एक विकास की अपेक्षा आभास ही मानना होगा, जो ऐसे व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत होता, जिसने सत्य का साक्षात्कार नहीं किया है। सांख्य-दर्शन द्वैतवादी है, जबकि भर्तृहरि पूर्णतः अद्वैतवादी हैं। जहाँ तक सृष्टि-प्रक्रिया का प्रश्न है, भर्तृहरि की स्थिति शंकर से ही मिलती जुलती मालूम होती है; यद्यपि यह सम्भव है कि परमतत्त्व के स्वरूप के विषय में इन दोनों दार्शनिकों में मतैक्य न हो।

अन्त में, एक साहसिक सुझाव प्रस्तुत करते हुए हम इस अध्याय का समापन करेंगे। हमारे विचार में भर्तृहरि के दर्शन की व्याख्या कश्मीर के त्रिक-आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आभासवाद के प्रकाश में की जा सकती है। **वाक्यपदीय** के एक अंश से ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि के मत में शब्दब्रह्म और जगत् का भेद शब्दब्रह्म में अवस्थित शक्ति के व्यापार द्वारा प्रस्तुत एक कल्पनामात्र है—भर्तृहरि स्पष्टतः यह नहीं कहते कि जगत् भी मिथ्या है[1]। यदि जगत् की सत्यता भर्तृहरि को स्वीकार्य है और साथ ही, यदि वे शब्दब्रह्म से जगत् की अभिन्नता को भी मानते हैं, तो हमारा यह संकेत देना औचित्यपूर्ण हो होगा कि भर्तृहरि का सिद्धान्त त्रिक-आचार्यों द्वारा स्वीकृत आभासवाद का पुरोगामो है। इसके अतिरिक्त शब्दब्रह्म, कालशक्ति और अनेकविध कलाओं तथा उनके परस्पर सम्बन्ध को प्रकृति और स्वरूप का आनुरूप्य, त्रिक-सम्प्रदाय की परमेश्वर, विमर्श एवं विभिन्न शक्तियों की अवधारणाओ में मिलता है। साथ ही, त्रिक-सम्प्रदाय पूर्णतः अद्वैतवादी है, यह जगत् की वास्तविकता को मानता है तथा यह भी कि जगत् का **परमेश्वर** से अभेद है और दोनों के बीच भेद की प्रतीति केवल अज्ञानी को ही होती है। इस सम्बन्ध में यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि भर्तृहरि के प्रति सभी त्रिक-आचार्यों के सम्मान व सराहना से भी यह संकेत मिलता है कि भर्तृहरि की रचनाओं का त्रिक-सम्प्रदाय पर भारी ऋण है।

●

१. शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपो विवर्तते ॥—वा. प., १.११९।

चतुर्थोन्मेष

नामार्थ-सम्बन्ध

शब्दब्रह्म से उद्भूत सृष्टिप्रक्रिया नाम एवं पदार्थ (शब्द एवं अर्थ) की दो धाराओं में प्रवाहित होती है[1]। पुण्यराज द्वारा उद्धृत एक प्राचीन ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि चिन्तकों के एक वर्ग के अनुसार नाम और पदार्थ सारतः अभिन्न हैं और दोनों परमतत्त्व के दो पक्ष हैं। किन्तु दूसरे वर्ग के अनुसार नाम एवं पदार्थ प्रारम्भ से ही सर्वथा विविक्त हैं[2]। पुण्यराज के प्रामाण्य से हम यह भी जानते हैं कि पहले वर्ग के प्रतिनिधि सुप्रसिद्ध आचार्य व्याडि हैं, जो संस्कृत-व्याकरण के अधुनातन अनुपलब्ध अद्वितीय ग्रन्थ संग्रह के रचयिता हैं। व्याडि के अनुसार नाम एवं पदार्थ का भेद शुद्ध व्यावहारिक कारणों से स्वीकृत किया जाता है। परमतत्त्व अपनी प्रकृति में एकात्मक-तत्त्व होने के कारण पूर्णतया एकरूप सत्ता है; जिसमें किसी भी विभाग की गुंजाइश नहीं है[3]। पूर्वोल्लिखित दूसरे वर्ग का सम्बन्ध किसी बड़े आचार्य के नामविशेष के साथ नहीं जोड़ा गया है, किन्तु यह निःसन्देह द्वैतवादोन्मुख है। हम निःसंकोच कह सकते हैं कि अप्रतिहत अद्वैतवादी भर्तृहरि इस दूसरी विचारधारा से सम्बद्ध नहीं हो सकते। भर्तृहरि के अनुसार विश्वातीत स्तर पर नाम और पदार्थ अपना पार्थक्य खो देते हैं और ब्रह्माण्डीय गतिविधि के आरम्भ होने पर ही उनका भेद स्पष्ट होता है। पुण्यराज एक वैदिक उद्धरण देकर दिखलाते हैं कि पदार्थ की अभिव्यक्ति से पूर्व नाम की अभिव्यक्ति होती है और इससे स्पष्टतः यह अर्थ निकलता है कि दोनों अभिव्यक्तियाँ समकालिक नहीं हैं[4]। नाम ही पदार्थ बन जाता है और पदार्थ का नाम में प्रत्यावर्तन हो जाता है। इसलिए नाम और पदार्थ का सम्बन्ध कारण और कार्य का सम्बन्ध कहा जाता है[5]। इस कारणात्मक सम्बन्ध को प्रकाशक-प्रकाश्य-सम्बन्ध अथवा

१. (क) एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ। — वा. प., २.३१।
   (ख) अभिन्नात् संहृतक्रमाच्छब्दतत्त्वाद्वर्णपदवाक्यलक्षणं प्राप्ताया वाचोऽभिधेयत्वेनार्थविभागोपग्राहं नित्येनार्थसम्बन्धेन प्राप्तायां वाचः········ ।—पु. रा., पृ० ७।
२. एके तदेकमविभक्तं विभेजुः। प्रागेवान्ये भेदरूपं वदन्ति ॥—वही।
३. संग्रहेऽप्युक्तम्—
   शब्दार्थयोरसंभेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया।
   यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम् ॥—वही, पृ० १४।
४. नाभेदं रूपत्वेन वृत्तरूपम्। रूपं चेदं नामभावेन तस्थे ॥—वही, पृ० ७।
५. (क) कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।—वा. प., १.२४।
   (ख) यतो वागेवाविभागापन्ना गवादिरूपेणावतिष्ठते, गवादयश्च बाह्यार्थविभागाः पुनः श्रुतिरूपत्वेन परिणमन्ते, अत एव शब्दार्थयोः कार्यकारणभावसम्बन्ध इत्येके।
   —पु. रा., पृ० ७।

वाचक-वाच्य-सम्बन्ध के रूप में भी देखा जा सकता है[1]। यह आम जानकारी का विषय है कि एक विशेष नाम हमारे समक्ष एक विशेष भाव को प्रकट करता है, ऐसी कोई भी सत्ता, जिसकी अभिव्यक्ति के लिये कोई नाम नहीं है, हमारे ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। नाम और अर्थ के बीच प्रकाशक-प्रकाश्य-सम्बन्ध की यही व्याख्या है। इस सम्बन्ध को वाचक-वाच्य-सम्बन्ध भी कहा जाता है। नाम वाचक है, जबकि इसके द्वारा अभिहित अर्थ इसका वाच्य कहलाता है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब वाचक और वाच्य अथवा प्रकाशक और प्रकाश्य दो पृथक् सत्ताओं के रूप में देखे जाते हैं, जिनमें प्रत्येक की अपनी पृथक् व्यक्तिता है, तो वैयाकरण यह कैसे कह सकता है कि नाम और पदार्थ अपनी प्रकृति में एक हैं? इस प्रश्न के उत्तर में वैयाकरण का कथन है कि असीम और अप्रतिबन्धित शक्ति का स्वामी के नाते परमतत्त्व में विविध रूपों में प्रकट होने की सामर्थ्य है। यह कारण एवं कार्य वाचक एवं वाच्य या प्रकाशक एवं प्रकाश्य के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता है, यद्यपि यह सर्वथा निश्चित है कि परमतत्त्व अपने आपमें सत्ता की भेदरहित इकाई है। नाम और पदार्थ के बीच व्यावहारिक स्तर पर अनुभूत भेद मात्र एक आभास है। उनका अभेद ही सत्य है[2]।

शब्दब्रह्म, जिसे भर्तृहरि पश्यन्ती कहते हैं, की प्रथम अभिव्यक्ति नाम की दिशा में मध्यमा कहलाती है और उससे परवर्ती अभिव्यक्ति को वैखरी कहा गया है[3]; किन्तु यहाँ यह बता देना उचित है कि वैयाकरणों के एक वर्ग के अनुसार परमतत्त्व की प्रतीक **परा-वाक्** है, पश्यन्ती नहीं। पश्यन्ती तो उनके अनुसार शब्दब्रह्म (या परावाक्) की प्रथम अभिव्यक्ति है और मध्यमा तथा वैखरी दो परवर्ती

---

१. इन्द्रियविषयवच्च प्रकाश्यप्रकाशकभावेन तद्योग्यताग्रहः.........वाचकानां वाच्येषु योग्यत्वम्।—वही, पृ० १३।

२. (क) ननु शब्दार्थौ वाच्यवाचकाविति प्रसिद्धम्, अतः कथं तयोरभेदः........।

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥

तस्य हि शब्दतत्त्वस्यान्तरस्य ज्योतीरूपस्य शक्तिभेदादयं भेदप्रतिभासो न विरुद्धः।
—वा. प. २.३२ एवं पु. रा, पृ. ८२।

(ख) तस्य तदेवैकं निर्विभागं परं तत्त्वमाश्रित्यायं सकललोकसंव्यवहारः शक्तिभेदात् प्रतीयते। किं पुनरयं वाच्यवाचकविभाग मात्ररूपः।—वही।

३. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥—वा. प. १,१४४।

सोमानन्दनाथ के साक्ष्य को देखते हुए यह स्पष्ट है कि पश्यन्ती ही वैयाकरण का ब्रह्म है—यह परमसत्ता है, जो अन्य सब कुछ के परे है।

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्॥—शिव., २.२।

अभिव्यक्तियाँ हैं। व्याकरण-शास्त्र का मोक्षद्वार के रूप में वर्णन करते हुए पुण्यराज कहते हैं कि आत्मबोध के अनन्तर साधक को प्रारम्भ में वैखरी, अर्थात् व्यक्त वाक् का धरातल छोड़कर मध्यमा की अवस्था में पहुँचना चाहिए, जहाँ अक्षरों का उलझाव नहीं है। इस अवस्था को पार करने पर वह जिस क्षेत्र में प्रवेश करता है, वह पश्यन्ती का क्षेत्र है, जो स्वरूपतः चित् और सत् है और जो नाम के अनेकविध सभी रूपान्तरणों का उत्स है, फिर दिव्य योग के कठिन अभ्यास द्वारा जैसे ही वह इस क्षेत्र से ऊपर उठता है, वह शब्दब्रह्म का दर्शन पा लेता है जहाँ विविध रूपान्तरणों का संदर्भ सर्वथा अनुपस्थित है। यह उच्चतम आध्यात्मिक धरातल है, सभी साधकों का परम पुरुषार्थ है[1]।

यह आश्चर्य ही है कि पश्यन्ती को स्वयं शब्दब्रह्म न मानकर शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति कहते समय पुण्यराज यद्यपि भर्तृहरि से मतभेद रखते प्रतीत होते हैं, तथापि न तो व्याख्यान के तौर पर और न वैमत्य दर्शाने के लिये ही, वे इस विषय पर कोई टिप्पणी करते हैं कि भर्तृहरि की संकल्पना में शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति का क्या क्रम है? इससे हम उचित रूप में यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि परवर्ती काल में वैयाकरणों के संप्रदाय में एक मतभेद उठ खड़ा हुआ, कुछ आचार्यों ने पश्यन्ती को ही चरमावस्था माना, जबकि अन्य आचार्य एक कदम और आगे जाकर चरम स्थिति में परा-वाक् को ही नियत-पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में थे। यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है कि भर्तृहरि पश्यन्ती को ही शब्दब्रह्म मानते थे। प्रथमतः शब्दब्रह्म और उसकी अभिव्यक्तियों के प्रसंग में भर्तृहरि की कारिकाओं की व्याख्या करते समय पुण्यराज स्वयं लिखते हैं कि पश्यन्ती सभी अशुद्धियों से मुक्त, सर्वव्यापक और सर्वातीत है[2]। व्याकरण के परिपक्व और विधिवत् अध्ययन के माध्यम से साधु शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर लभ्य सविकल्प योग के माध्यम से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है[3]। इसके अनन्तर पुण्यराज एक उद्धरण देकर स्पष्ट करते हैं कि पश्यन्ती अन्तर में देदीप्यमान, स्वयंप्रकाश नित्य ज्योति है और इस परम-तत्त्व को पा लेने पर सत्य का अन्वेषक नैतिक और आध्यात्मिक दायित्वों व अधिकारों के समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है, अन्य कुछ भी उसका प्राप्य नहीं रहता[4]।

---

१. सोऽव्यतिकीर्णां वागवस्थां मध्यमाख्यामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं पश्यन्त्याख्यां प्रतिभामुपैति, तस्माच्च सत्तामात्रात् प्रतिभाख्याच्छब्दात् पूर्वयोगभावनाभ्यासात् प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते।—पु. रा., पृ. ८।

२. ......पश्यन्त्या रूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोकव्यवहारातीतम्।—वहीं, पृ. ५६।

३. तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम इत्येकेषामागमः।—वही।

४. स्वरूपज्योतिरेवान्तः सैषा वागनपायिनी।
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते॥—पु. रा., पृ. ५७।

जब इस तत्त्व का साक्षात्कार सब बन्धनों से मुक्त कर देने वाला है, तो फिर इसका अर्थ तो यही है कि पश्यन्ती ही परमतत्त्व है। दूसरी बात यह कि आगम-दर्शन के प्राचीन आचार्यों में कुछ ने निश्चित रूप से वैयाकरण की **पश्यन्ती** को अपने दर्शन की **परा** से अभिन्न कहा है। सोमानन्दनाथ वैयाकरण की स्थिति की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि अनादि एवं अनन्त चैतन्यस्वरूप, अनश्वर और अविकार्य परमतत्त्व शब्दरूप है और पश्यन्ती कहा जाता है। इस पर उत्पलदेव टिप्पणी करते हैं कि वैयाकरण ने इससे उच्चतर किसी अवस्था की अवधारणा नहीं की है[1]। क्षेमेन्द्र भी **प्रत्यभिज्ञाहृदय** में लिखते हैं कि वैयाकरण के दर्शन में आत्मतत्त्व को शब्दब्रह्म या पश्यन्ती कहा गया है[2]।

शैव दार्शनिकों की इन उक्तियों के आधार पर यह संभावना उभरती है कि भर्तृहरि के सम्प्रदाय के कुछ आचार्य आगम-दर्शन के सिद्धान्तों से प्रभावित थे और बहुत सम्भव है कि पुण्यराज भी उनमें से एक थे। हमारी प्राक्कल्पना की पुष्टि इस बात से हो जाती है कि भर्तृहरि की कारिका से अलग, स्वतन्त्र रूप से इस विषय पर चर्चा करते समय तो पुण्यराज परावाक् को परम-तत्त्व कहते हैं, किन्तु जब भर्तृहरि की रूपरेखा, जहाँ हम केवल पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी का ही उल्लेख पाते हैं, की व्याख्या की अपेक्षा उनसे की जाती है, तो वे परावाक् की चर्चा को टाल जाते हैं। इसी प्रसंग में आपाततः यह भी द्रष्टव्य है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के व्याख्याकारों ने कहीं भी परा व पश्यन्ती का अभेद नहीं किया है। वे स्पष्ट शब्दों में यह मानते हैं कि पश्यन्ती पारमार्थिक धरातल से बहुत दूर है और परावाक् के साथ सारतः एकात्म परमशिव के साथ इसके अभेद की अवधारणा असंभव है[3]। यद्यपि पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इन तीनों अवस्थाओं में परावाक् की उपस्थिति को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में स्वीकार किया गया है; फिर भी इन निम्नतर अवस्थाओं में से किसी एक को परा-वाक् मानने की संभावना कहीं नहीं मानी गई। तीनों अवस्थाएँ अपने-अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के नामों से स्पष्टतया चिह्नित की गई हैं। अतः यह कथन भी तर्क की कसौटी पर नहीं ठहर सकता कि वैयाकरण ने अपनी दार्शनिक व्यवस्था में परमतत्त्व को बतलाने के लिए दो शब्दों, परा और पश्यन्ती, का अव्यवस्थित प्रयोग किया है। वस्तुतः भर्तृहरि 'परा' संज्ञा का प्रयोग ही नहीं करते।

---

१. तेषां पुनः सा परमावस्था मता।—शि. दृ. २.१, पर टीका।

२. शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपमात्मतत्त्वमिति वैयाकरणाः श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः।
—प्रत्य. हृ., पृ. १८।

३. पश्यन्ती यद्यपि नादरूपतया विमर्शमामृशन्ती क्रियाशक्तिरूपतया समन्विता, तथापि पश्यन्तीति दर्शनप्राधान्यादुपचरितज्ञानशक्तिरूपत्वेऽप्याश्रीयमाणे परमशिवरूपताया अत्यन्तदूरवर्तिनी, न तु पर्यन्तदशासौ……।—शि. दृ., पृ. ३७।

अब हम शब्दब्रह्म के स्वरूप और इसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों की मीमांसा करेंगे। वैखरी शब्दब्रह्म की वह अभिव्यक्ति है, जो श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाती है और असंख्य प्रभेदों वाली है। यदि अक्षरों का उच्चारण सुस्पष्ट और किसी भी प्रकार की विकृति से रहित हो, तो वह वैखरी का 'साधुशब्द' कहा जाने वाला प्रभेद है। किन्तु यदि अक्षरों में सांकर्य है और उनके उच्चारण में पर्याप्त स्पष्टता नहीं है, तो अपभ्रंश नामक प्रभेद होता है। इन दोनों के अतिरिक्त बांसुरी व दुन्दुभि के स्वरों में हमें वैखरी के अनेकों नमूने मिलते हैं[1]। सोमानन्दनाथ के अनुसार वायु द्वारा उच्चारण-स्थानों का स्पर्श किये जाने पर जब पश्यन्ती मुख के भीतर प्रकट होती है, तो यह वैखरी कहलाती है[2]। इस शब्द का निरुक्तिपरक अर्थ है—'मुख में उत्पन्न होने वाली' (विखरे भवा इति वैखरी)।

सर्वथा स्थूल एवं बाह्य-ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य वैखरी के विपरीत मध्यमा अपेक्षाकृत कम स्थूल अभिव्यक्ति है और अन्तरिन्द्रिय, अर्थात् मन द्वारा ग्राह्य है। मध्यमा मानसिक धरातल पर अवधारित क्रम के धर्मों से पूर्णतः मुक्त नहीं है। मध्ममा का आसन हमारे अन्तस् में है, इसकी संरचना मानसी है और यह बाह्य-ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अगम्य है। मध्यमा प्राणवायु के मार्ग का अनुगमन करती है और यही तथ्य इसके साथ जुड़ी क्रम की धारणा की व्याख्या करता है[3]। 'मध्यमा' नाम की व्युत्पत्ति के मूल में यह धारणा है कि यह पश्यन्ती और वैखरी के मध्य में स्थित है।

पश्यन्ती, जो शब्दब्रह्म ही है, एक एवं अविभाज्य है। फलतः इसमें क्रम-नामक धर्म का अभाव है। किन्तु वैखरी में स्पष्टतः लक्षित क्रमधर्म पश्यन्ती में मानों प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार अखण्ड सत्ता होते हुए भी पश्यन्ती अनेक भेदों से युक्त प्रतीत होती है। तदनुसार अपनी निम्नतम अभिव्यक्ति में यह विविधरूप विभिन्न पदार्थों का अधिष्ठान है। इसकी दूसरी अवस्था में सभी आकार अनभिज्ञेय रूप से इसमें विलीन होकर रहते हैं और तीसरी अवस्था में यह जगत् के विविध पदार्थों के सभी संसर्गों से परे है। इसलिए पश्यन्ती विविध पदार्थों का प्रकाशन अलग-अलग भी करती

---

१. यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी श्लिष्टव्यक्तवर्णसमुच्चारणे प्रसिद्ध-साधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च दुन्दुभिवेणुवीणादिशब्दरूपा चेत्यपरिमितभेदा।
—पु. रा., पृ. ५६।

२. (i) सम्प्राप्ता वक्त्रकुहरं कण्ठाधिष्ठानभागशः।
वैखरी कथ्यते सैव बहिर्वासनया क्रमात् ॥—शि. दृ., २.७।
(ii) स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धनी ॥— पु. रा., पृ. ५६।

३. मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मा प्राणवृत्त्यनुगता।
—पु. रा., पृ. ५६।

है और सामूहिक रूप में भी; फिर यह उनसे परे भी चली जाती है और उन्हें अभिव्यक्त ही नहीं करती। व्यावहारिक स्तर पर सामान्यतः शब्दों को साधु एवं असाधु, दो वर्गों में विभाजित किया जाता है, इस आधार पर कि क्या वे अपनी मूल शुद्धता को स्थिर रख पाए हैं, या अपने मूल रूपों से च्युत होकर इसे खो बैठे हैं। पश्यन्ती इन दोनों ही वर्गों से परे है। यह हमारे आन्तरिक संलाप के क्षेत्र से भी परे है। इस प्रकार पश्यन्ती सभी सजातीय अथवा विजातीय मिलावट से मुक्त शुद्धतम अवस्था है। वैखरी और मध्यमा के विपरीत; यह प्राणवायु की गति का अनुगमन नहीं करती और इसलिए प्राणवायु द्वारा इसके प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परिणामतः यह विभागरहित है और पौर्वापर्य के सभी धर्मों से मुक्त है, जैसा कि इसके नाम से ही ध्वनित होता है। पश्यन्ती प्रकाशमय है, पवित्रतम नित्य ज्योति है, जो कभी क्षीण नहीं होती। यह अपनी शीतल और स्फूर्तिदायक किरणों को सतत बिखेरने वाली चन्द्रमा की अमृत-कला है। जगत् के सभी प्रकार के मालिन्य के सम्पर्क में आने पर भी, यह सदा की भाँति निर्मल रहती है और इसी में इसका दिव्य रूप निहित है। इस अमृत-ज्योति का दर्शन पा लेने पर उपासक मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। कहा गया है कि जैसे ही उपासक व्याकरण के कठोर एवं श्रद्धापूर्वक अध्ययन के माध्यम से साधु-शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसका मन एकाग्र हो जाता है और वह एक सविकल्प योग का अनुभव करता है, जिसे पश्यन्ती के साक्षात्कार की दिशा में ही एक सोपान माना गया है[1]।

शिवदृष्टि नामक अपने ग्रन्थ में सोमानन्दनाथ ने शब्दब्रह्म की क्रमिक अभिव्यक्ति के विषय में वैयाकरण-दृष्टिकोण को पूर्ण और व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ इसका उल्लेख वांछनीय है। पश्यन्ती को, जो अपनी प्रकृति में एक चेतन-तत्त्व है, सभी देहों में भोक्ता के रूप में विद्यमान जीवात्मा माना जाता है। शरीर को इसका भोगक्षेत्र कहा जा सकता है, जिसके भीतर से यह विभिन्न भोग्य पदार्थों का

---

१. प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः (?) पश्यन्ती तु (?) चलाचलप्रतिबद्धसमाधाना संनिविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा च प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चेत्यपरिमितभेदा। तत्र व्यावहारिकीषु सर्वासु वागवस्थासु (वाक्) व्यवस्थितसाध्वसाधुप्रविभागा पुरुषसंस्कारहेतुः; परं तु पश्यन्त्या रूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोकव्यवहारातीतम्........।

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सैषा वागनपायिनी ॥
सैषा संकीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः। अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते ॥
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते। पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ॥

—पु. रा., पृ. ५६-५७।

(टिप्पणी : टीका का मुद्रित पाठ भ्रामक लगता है। विरामचिह्नों के अंकन में सावधानीपूर्वक सुधार की आवश्यकता है। तदनुसार ही हमने यहाँ कुछ परिवर्तन सुझाए हैं।)

भोग करती है[1]। यह भोग आरम्भ में तो परिमित ही होता है; किन्तु क्रमशः यह एक विश्वरूप धारण कर लेता है, और जब यह सकल ब्रह्माण्ड का भोग करती है, तो जीवावस्था से पार हो जाती है और इसका विश्वात्म रूप प्रकट होता है, जिसे वैयाकरण अपनी भाषा में पश्यन्ती की अभिव्यक्ति कहता है[2]। यही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। अविद्या का आवरण अन्तिम रूप से हट जाने पर यह अवस्था प्राप्त होती है। किसी भी ज्ञानेन्द्रिय में इतनी शक्ति नहीं कि इस परमावस्था का दर्शन हमें उपलब्ध करा सके, क्योंकि यह काल और दिक् के क्रम से परे है और प्रमाता एवं प्रमेय जैसे सभी भेदों से सर्वथा मुक्त है। सोमानन्दनाथ बतलाते हैं कि वैयाकरण इससे उच्चतर किसी अवस्था की बात नहीं करता। उसके दर्शन में पश्यन्ती ही परमतत्त्व है[3]। जब पश्यन्ती में प्रत्ययों एवं पदार्थों के जगत् को व्यक्त करने की प्रवृत्ति होती हैं, तो इसके निःस्तब्ध एवं प्रशान्त धरातल पर ही क्रम की एक लहर उठती है और अब तक जो एक और अखण्ड था, वह क्रम को प्रकट करता है, जिसे मध्यमा में देखा जा सकता है। मध्यमा एक प्रकार का बुद्धिगत संलाप है। पारिभाषिक शब्दों में जिन्हें बिन्दु और नाद कहा जाता है, उन प्राण और अपान का नाभिदेश से उत्क्रमण होने पर मध्यमा की अभिव्यक्ति होती है[4]। मध्यमा अवस्था से पार हो जाने पर पश्यन्ती प्राण और अपान के माध्यम से मानो मुख के कोटर में अपने आपको प्रस्तुत करती है और विभिन्न उच्चारण-स्थानों का स्पर्श करती है। इस अवस्था को वैखरी कहा गया है और इसमें वर्णमाला के अलग-अलग वर्णों की यथोचित अभिव्यक्ति होती है। वैखरी-अवस्था तक पहुँचने पर और नाम की दिशा में शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति सम्पन्न हो जाने पर, पश्यन्ती अविद्या के माध्यम से जगत् के विभिन्न पदार्थों में स्वयं

---

१. स एव चात्मेत्याह—
स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्तते।
अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम् ॥—शि. दृ., पृ. ४०।

२. स एव परमात्मा सर्वज्ञ इत्याह—
तावद् यावत् पराकाष्ठा यावत्पश्यत्यनन्तकम्।—शि. दृ., पृ. ४०।

३. तदैवाविद्योपशमात् परमार्थोऽसावित्याह—
अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादिशून्यकम्।
सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम्।
ब्रह्मतत्त्वं पराकाष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥—वही, पृ. ४१।

४. आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया।
मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरुत्क्रमात् ॥
स एव पश्यन्तीरूपः शब्दोऽर्थप्रतिपादनेच्छारूपया विवक्षयोपलक्षिते मनोविज्ञानरूपत्वे आस्ते। सैव च मध्यमा वाक् कथ्यते क्रमेण बिन्दुनादसंज्ञप्राणापानवायूल्लासात् "प्राणापानान्तरे नित्यमेका सर्वस्य तिष्ठति" इति।—वही, पृ. ४१-४२।

को परिणत कर लेती है[१]।

अभी तक हमने वैयाकरण के अनुसार शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति की चर्चा विस्तार से की। अब हम कश्मीर के त्रिक-दर्शन में विकसित लगभग तुल्यरूप एक रूपरेखा का उल्लेख यहाँ करना चाहेंगे। परात्रिंशिका पर अपनी टीका में अभिनवगुप्त ने परा-वाक् और उसकी अभिव्यक्तियों का वर्णन किया है[२]। त्रिक-दर्शन में 'विमर्श' को परमशिव की आत्माभिव्यञ्जक शक्ति माना गया है; परा-वाक् इसी 'विमर्श' का नामान्तर है। त्रिक-आचार्यों के अनुसार परमशिव आत्मरमण के उद्देश्य से परा-वाक् की अवस्था धारण करते हैं; अतः परमशिव की आत्मविस्तार की इच्छा की अभिव्यक्ति ही परा-वाक् है। किन्तु परमशिव की शक्ति होने पर भी मूल प्रकृति से परा-वाक् उससे अभिन्न है, यह स्वभावतः उससे पृथक् नहीं की जा सकती। परावाक् इच्छाशक्ति है, जो क्रमशः ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में विकसित होती है और इन दोनों शक्तियों से युक्त परमतत्त्व को क्रमशः सदाशिव और ईश्वर कहा गया है।[३] इन्हीं दो शक्तियों को पश्यन्ती और मध्यमा भी कहा गया है। पश्यन्ती के धरातल पर वाच्य एवं वाचक के भेद का ग्रहण कदापि नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत दोनों एक-दूसरे से अभिन्न अनुभूत होते हैं[४]। मध्यमा अवश्य इस भेद को प्रस्तुत करती है, किन्तु यह सदैव एक अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत होता है; मध्यमा में वाचक और वाच्य एक ही अधिकरण में दिखाई पड़ते हैं[५]। वैखरी के धरातल पर भेद पूर्णतया स्फुट हो जाता है[६]।

अभिनवगुप्त के ग्रन्थरत्न **तन्त्रालोक** में परा-वाक् की अभिव्यक्ति का विवरण इसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और किंचित् भिन्न है। वहाँ अभिनवगुप्त का कहना है कि परा-वाक् अपने स्वारस्यगत स्वातन्त्र्य के द्वारा अपने आपको जगत् के रूप में व्यक्त करते समय पश्यन्ती-अवस्था धारण कर लेती है। इस अवस्था में वाचक और वाच्य का क्रम नहीं होता और इसलिए यहाँ हमें विभाग का दर्शन नहीं होता। यह

---

१. संप्राप्ता वक्त्रकुहरं कण्ठाधिष्ठानभागशः।
वैखरी कथ्यते सैव बहिर्वासनया क्रमात् ॥
घटादिरूपैर्व्यावृत्ता गृह्यते चक्षुरादिना ॥—वही।

२. परमेश्वरः........सततमनुग्रहमय्या परारूपया शक्त्याक्रान्तो वस्तुतोऽनुग्रहैकात्मैव, न हि शक्तिः शिवाद् भेदमामर्शयेत्।—परा०, पृ. ३।

३. (i) परा भागवती संवित् प्रसरन्ती स्वरूपतः।
परेच्छाशक्तिरित्युक्ता भैरवस्याविभेदिनी ॥—वही पृ. ६४।
(ii) ......उभयत्र ज्ञानक्रियाशक्तिमये रूपे सदाशिवेश्वरसारे।—वही, पृ. ६।

४. न हि प्रथमज्ञानकाले भेदोऽत्रास्फुरत्, यत्र वाच्यवाचकविशेषयोरभेदः।—वही, पृ. ४-५।

५. मध्यमा पुनरुक्तयोरेव वाच्यवाचकयोर्भेदमादर्श्य सामानाधिकरण्येन विमर्शव्यापारा........।—वही।

६. वैखरी तु तदुभयभेदस्फुटतामय्येव।—वही।

केवल चिदात्मा का प्रकाश है, जो अपनी समस्त कान्ति के साथ प्रकाशित होता है। अतः इसे प्रमाता या द्रष्टा कहा गया है (पश्यन्ती के मूल में √दृश् धातु है, जिसका अर्थ है—देखना)। शुद्ध रूप से बुद्धिनिष्ठ मध्यमा में वाचक और वाच्य का विभाग कुछ-कुछ व्यक्त होता है। यह अव्यक्त और व्यक्त अभिव्यक्ति की मध्यवर्ती अवस्था है और इसीलिए इसका नाम मध्यमा पड़ा है। वाचक और वाच्य का भेद जहाँ स्पष्टतः व्यक्त होता है, वह अवस्था वैखरी कहलाती है। यहीं वर्णों और अक्षरों का क्रम दृष्टिगोचर होता है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इन तीनों अवस्थाओं में से प्रत्येक को तीन अवस्थाओं में पुनर्विभाजित किया जाता है। ये विभाजन हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर (परासूक्ष्म)। पश्यन्ती का स्थूल रूप किसी गीति के प्रारम्भ में होने वाले आलाप में है। यहाँ वर्णों का विभाग नहीं है और यह विलक्षण रूप से मोहक है। अँगुलियाँ जब मृदंग आदि जैसे किसी वाद्य पर थाप देती हैं, तो उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि मध्यमा के स्थूल रूप को प्रस्तुत करती है। वैखरी की स्थूलावस्था विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति में है। इन अभिव्यक्तियों में प्रत्येक की सूक्ष्मावस्था का प्रतिनिधित्व क्रमशः गायन की इच्छा, वाद्यवादन की इच्छा और बोलने की इच्छा द्वारा होता है। पर (परासूक्ष्म) अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व शुद्ध ज्ञान के द्वारा होता है, जो उक्त सभी इच्छाओं का मूल है[1]।

महार्थमंजरी के रचयिता महेश्वरानन्द वैसे तो प्रायः अभिनवगुप्त के पदचिह्नों पर चलते हैं, किन्तु वाक् के वर्गीकरण के प्रश्न पर उनका मत भिन्न है। वे प्रारम्भ में वाक् को सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में वर्गीकृत करते हैं और उसके बाद बतलाते हैं कि वैखरी परमशिव की क्रियाशक्ति है, मध्यमा ज्ञानशक्ति है और पश्यन्ती उनकी इच्छाशक्ति है। सूक्ष्मा इन तीनों प्रकार की वाक् का एकीकरण है, साथ ही इसकी अपनी भी व्यक्तिता है। यह सुविदित तथ्य है कि वैखरी की अभिव्यक्ति वागिन्द्रियों के व्यापार पर निर्भर है और इसलिए इसे परमशिव की क्रियाशक्ति मानना सर्वथा समीचीन है। मध्यमा का ग्रहण मन द्वारा होता है, अतः इसे ज्ञानशक्ति माना गया है। पश्यन्ती को इच्छाशक्ति कहा गया है, क्योंकि यह परमशिव की बहिःप्रक्षेपण की इच्छा की प्रतीक है। सूक्ष्मा को मयूरी के अण्डे में विद्यमान द्रव की भाँति कहा गया है, यहाँ पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी का पूर्ण एकीकरण हो चुका है और यह परमशिव की उस अवस्था की प्रतिनिधि हैं, जहाँ वे अपने भीतर से जगत् के प्रक्षेपण का उपक्रम करते हैं[2]। इन चार के अतिरिक्त महेश्वरानन्द परा-वाक् को भी

१. तन्त्रा., ३, २३६-४८।

२. तत्र वैखरीति प्रसिद्धा वाक् ताल्वादिकरणव्यापारोपारूढस्फुरणतया क्रियाशक्तिरित्यध्यवसीयते। मध्यमा च बुद्धिवृत्तिमात्रप्रवर्त्यमानत्वाद् ज्ञानशक्तिः। पश्यन्ती पुनरिच्छा बहिःप्रसरणाभ्युपगमरूपत्वात्तस्या यतः परा परा-वाक् पश्यन्तीति पश्यन्त्या व्युत्पत्तिः। सूक्ष्मा तु शिखण्ड्यण्डरसान्वयादुक्तवाक्त्रयशबलीभावस्वभावा प्रत्यग्द्रष्टुः परमेश्वरस्योद्योगलक्षणा वृत्तिरित्याख्यायते।—म. मं., पृ. १२८-२९।

स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि यह परमशिव के स्वरूप में ही प्रविष्ट है[1]।

यहाँ यह ध्यान दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि आगमदर्शन में त्रिपुरा-संप्रदाय के प्राचीनतर-साहित्य की वाक् के वर्गीकरण की रूपरेखा त्रिक-शैवों द्वारा प्रस्तुत रूपरेखा के समान्तर है। **योगिनीहृदय** और उस पर पुण्यानन्दनाथ के पुत्र अमृतानन्दनाथ की **दीपिका** टीका त्रिपुरा-सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं और कश्मीर के त्रिक-दार्शनिकों द्वारा अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इनमें विमर्श को परमशिव की परमाशक्ति कहा गया है। यह विमर्शशक्ति पश्यन्ती से वैखरी तक परमशिव की क्रमिक अभिव्यक्तियों को देखती हुई अम्बिका के रूप में परम शान्त और अक्षुब्ध अवस्था को धारण करती है, जिसे परा-वाक् कहा गया है। इस प्रकार परा-वाक् विमर्श की एक अवस्था-विशेष है। जब यह परमशिव में बीजरूप में स्थित विश्व का बहिःप्रक्षेपण (वमन) करने के लिए उद्यत होती है, तो इसे ही वामा कहा जाता है। परमशिव की अभिव्यक्ति की तीनों अवस्थाएँ—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—क्रमशः उनकी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की प्रतिनिधि हैं[2]।

वाक् के वर्गीकरण को लेकर भर्तृहरि व उनके सम्प्रदाय तथा कश्मीर के त्रिक-आचार्यों और त्रिपुरादर्शन के प्राचीनतर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दो समान्तर रूपरेखाओं का हमने विस्तार से निरूपण किया। हमने यह स्पष्ट किया कि भर्तृहरि अपने दर्शन में सर्वोच्च तत्त्व के रूप में परा को स्वीकृति देते नहीं लगते और फिर भी परवर्ती वैयाकरण इसे उस रूप में स्वीकार करते हैं। अब, यदि वैयाकरण वाक् के चतुर्विध वर्गीकरण को मानते हैं, तो यह प्रश्न संगत हो जाता है कि क्या वैयाकरणों और त्रिक-आचार्यों के बीच वाक् के स्वरूप और इसकी अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में कोई आधारभूत मतभेद है अथवा उनकी स्थिति बिल्कुल एक ही है। व्याकरण-दर्शन में परा-वाक् परमतत्त्व है, जबकि त्रिक-दार्शनिकों के मत में वह परमतत्त्व अर्थात् परमशिव की शक्ति है। यह सही है कि त्रिक-दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार परमशिव और उनकी विमर्श नामक शक्ति भिन्न नहीं हैं—दोनों को सारतः एक माना गया है। फिर भी, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि जब दोनों का वर्णन शक्तिमान् और शक्ति के रूप में किया गया है, तो उनमें गुणी और गुण का सम्बन्ध है। परिणामस्वरूप शक्ति को शक्तिमान् के प्रति गौण मानना होगा। अतः यह

१. परा-वाक् पुनः तस्यैव परमेश्वरस्य स्वरूपमनुप्रविशन्ती परिस्फुरति।—वही।

२. आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता॥
बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी।
वामा विश्वस्य वमनादङ्कुशाकारतां गता॥
इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता।
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता॥—यो. हृ., १.३६-३८।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा॥—वही, १.४०।

मानना सम्भव नहीं कि यहाँ विमर्श या परा-वाक् उसी रूप में स्वतन्त्र और स्वाश्रित तत्त्व हैं, जिस रूप में उनकी अवधारणा वैयाकरणों ने की है। फिर भी इतना अवश्य मानना होगा कि दोनों दर्शनों में परा वाक् की अवधारणा को लेकर जो भेद है, वह वास्तविक न होकर तार्किक ही है और सम्भवतः यह सुझाना अनुचित न होगा कि ये दो रूपरेखाएँ भिन्न नहीं, अपितु अभिन्नरूप ही हैं[1]।

इसी प्रसंग में यह बता देना भी आवश्यक है कि भास्करराय ने, जिन्हें परवर्ती त्रिपुरा-साहित्य में आप्त आचार्य के रूप में अद्भुत प्रतिष्ठा प्राप्त है, वाक् के चतुर्विध वर्गीकरण की रूपरेखा का विस्तृत प्रतिपादन अपनी दो महत्त्वपूर्ण कृतियों में किया है। ये कृतियाँ हैं—**मार्कण्डेयचण्डी** या **सप्तशती** की टीका **गुप्तवती**, तथा **ललिता-सहस्रनाम** की टीका **सौभाग्यभास्कर**। ऐसा लगता है कि उनके मत में शब्दब्रह्म या परा-वाक् का वैसा सर्वोपरि स्तर नहीं है, जैसा इसे वैयाकरणों, त्रिक-शैवों और यहाँ तक कि, प्राचीन त्रिपुरा-दार्शनिकों ने दिया है। भास्करराय बताते हैं कि प्रलय के समय जब विभिन्न प्राणियों के कर्म अपरिपाक की दशा में होते हैं और परमशक्ति से अविभेद्य होकर एक सूक्ष्मावस्था में पड़े होते हैं, तब ब्रह्म मानो एक अत्यन्त घनीभूत अवस्था में रहता है। काल की गति के साथ ही इन कर्मों का शनैः शनैः परिपाक होता है और ब्रह्म के भीतर अभी तक संहृत सभी विकारों को प्रकट करने की इच्छा उठती है। तुरन्त ही परम-शक्ति परिपक्व हो चुके विभिन्न कर्मों का आकार धारण कर लेती है। इस परम-शक्ति के द्वारा विशिष्ट ब्रह्म अव्यक्त कहलाता है, जिसे संसाररूपी वृक्ष में परिणत होता हुआ अङ्कुर कहा गया है[2]। इस अव्यक्त को ही

---

१. व्याकरण में परमतत्त्व की अवधारणा शब्द या वाक् के रूप में की गई है (तुल० अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्), अतः वैयाकरण के लिए शब्दब्रह्म और परब्रह्म का भेद कहने भर को ही है। इसके लिए, दोनों एक ही परम-शब्द के दो पहलू हैं: तदनुसार जिसे शब्दब्रह्म कहते हैं, वह पश्यन्ती का समानार्थक है और परब्रह्म परा का। किन्तु आगमदर्शन में परा-वाक् की स्थिति गौण है। इसकी अवधारणा इस रूप में है कि यह परमतत्त्व या परमशिव की शक्ति है। अतः इसका शब्दब्रह्म से साम्य प्रतीत होगा, जबकि परमशिव का परब्रह्म से अभेद माना जाएगा। यह मानते हुए भी, कि व्याकरण की पश्यन्ती और परा में, अथवा आगम की परा-वाक् और परमशिव में, कोई मूलप्रकृतिक भेद नहीं है, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि वाक् के स्वरूप के विषय में दोनों दर्शनों में हल्का-सा भेद इस माने में है कि एक इसे स्वतन्त्र और स्वाश्रित मानता है, जबकि दूसरा इसे उस द्रव्य के अधीन एक शक्ति बना देता है, जिसके साथ इसे अभिन्न कहा गया है।

—एनल्स, भं. ओ. रि. इं., खंड ५, पृ. ११३-१४।

२. प्रलये सृज्यमानं प्राणिकर्मणामपरिपाकदशायां तादृशकर्मभिन्नमायावच्छिन्नं ब्रह्म घनीभूतमित्युच्यते। कालवशात् कर्मणां परिपाके सति विनश्यदवस्थः परिपाकप्रागभावो विचिकीर्षेत्युच्यते। ततः परिपाकक्षणे मायावृत्तिरुत्पद्यते तादृशं परिपक्वकर्माकारपरिणतमायाविशिष्टं ब्रह्माव्यक्तपदवाच्यम्।—सौ. भा., पृ. ९९।

कारणबिन्दु भी कहा गया है। भास्करराय ने **वरिवस्यारहस्य** पर अपनी टीका में परमतत्त्व से अव्यक्त के उद्भव का वर्णन दैनिक जीवन के एक दृष्टान्त की सहायता से किया है। भावी संतति की अदृष्ट नियति पिता के मन में प्रजनन की इच्छा उत्पन्न करती है, जिसके कारण पिता अपनी अर्द्धांगिनी की ओर उन्मुख होता है और तदनन्तर वह शुक्रबिन्दु के रूप में पत्नी के शरीर में प्रविष्ट होता है। जैसे ही यह बिन्दु अण्डाशय में प्रविष्ट होता है, पत्नी रक्तबिन्दु के रूप में स्वयं को इसमें मिश्रित करती है। इससे शुक्रबिन्दु फूल जाता है। इसको तुलना वृक्षरूप में परिणत होने वाले बीज से की जा सकती है। तदनन्तर बिन्दु शिशु का आकार ग्रहण करने तक क्रमशः बढ़ता रहता है। ठीक इसी प्रकार विभिन्न प्राणियों की अदृष्ट नियति परमशिव में प्रलयकाल के समय अपने स्वरूप में समेटे गये विश्व के बहिःप्रक्षेपण की इच्छा उत्पन्न करती है। इसी उद्देश्य से वे अपनी शक्ति की ओर उन्मुख होकर उसमें प्रविष्ट होते हैं और तब कारणबिन्दु प्रकट होता है।[1] समष्टिरूप में देखने पर यह कारणबिन्दु शिव और शक्ति के विविध रूपों में उनकी साम्यावस्था है। तत्पश्चात् समस्त जगत् का मूल स्रोत यह कारणबिन्दु कार्यबिन्दु में परिणत होता है, जो पुनः नाद में परिणत होता है और फिर नाद भी बीज के रूप में परिवर्तित हो जाता है। कार्यबिन्दु अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है जो अपनी मूलप्रकृति में चित्स्वभाव है[2]। नाद अपेक्षाकृत कम सूक्ष्म है और इसका स्वरूप अंशतः चित् एवं अंशतः अचित् है। बीज स्थूलतत्त्व है और इसलिए अचित्-रूप है।[3] कार्यबिन्दु में परिणत होने से पूर्व कारणविन्दु की शक्ति, पिण्ड एवं कुण्डली जैसे अनेक नाम दिये जाते हैं[4]। किन्तु इसकी अविभागावस्था भंग होते ही एक अत्यन्त अव्यक्त ध्वनि उत्पन्न होती है, जिसे शब्दब्रह्म कहा जाता है[5]। इस ध्वनि का कारणबिन्दु के साथ तादात्म्य है और इसलिए यह उसी की भाँति सर्वव्यापक है। किन्तु ऐसा माना गया है कि सर्वव्यापी होते हुए भी, वाणी के माध्यम से अपने विचारों को संप्रेषित करने के इच्छुक वक्ता के यत्नों से नियमित वायु के द्वारा, शब्दब्रह्म का प्रकाशन मूलाधार के प्रदेश में ही होता है[6]।

---

१. वरि. र., २.६८ पर टीका, पृ. ४६-४७।

२. स च बिन्दुः समष्टिरूपेणैकः स्फुटशिवशक्तिसामरस्यनामा।—वही।

३. अस्माच्च कारणबिन्दोः सकाशात् क्रमेण कार्यबिन्दुस्ततो नादस्ततो बीजमिति त्रयमुत्पन्नम्। तदिदं परसूक्ष्मस्थूलपदैरप्युच्यते। चिदंशश्चिदचिन्मिश्रोऽचिदंशश्चेति तेषां रूपाणि।
—सौ. भा. पृ. ९९।

४. अध्यात्मं तु कारणबिन्दुः शक्तिपिण्डकुण्डल्यादिशब्दवाच्यो मूलधारस्थ·······।—वही।

५. अयमेव च यदा कार्यबिन्द्वादित्रयजननोन्मुखो भिद्यते, तद्दशायामव्यक्तः शब्दब्रह्माभिधेयो रवस्तत्रोत्पद्यते।—वही।

६. ·······सर्वगतोऽपि व्यञ्जकयत्नसंस्कृतपवनवशात् प्राणिनां मूलाधार एवाभिव्यज्यते।
—वही।

इस प्रकार से अभिव्यक्त शब्दब्रह्म को परा-वाक् कहा गया है।[1] जब परा-वाक् को प्रकट करने वाली वायु नाभि तक आती है, तो यह पश्यन्ती को अभिव्यक्त करती है। पश्यन्ती विमर्श के रूप में मन के साथ संयुक्त है और कार्यबिन्दु के साथ अभिन्न मानी गई है, जो सामान्य-क्रियात्मक है। वही वायु ज्यों ही हृदयप्रदेश तक पहुँचती है, मध्यमा का प्रकाशन होता है। पश्यन्ती की अव्यक्तता के स्थान पर इस अवस्था में एक प्रकार की स्पष्टता आ जाती है, क्योंकि मध्यमा बुद्धितत्त्व से जुड़ी हुई है और कारणबिन्दु के नाद नामक विकास से अभिन्न है, जो स्पष्ट और विशेष-क्रियात्मक है। शब्दब्रह्म की अगली अभिव्यक्ति वैखरी है। यह सभी विकासों में स्थूलतम है और बीज-तत्त्व की प्रतीक है। विभिन्न उच्चारणस्थानों से वायु के टकराने पर वैखरी-अवस्था की अभिव्यक्ति होती है[2]।

पिछले अनुच्छेद में प्रस्तुत भास्करराय के विवेचन का सावधान अनुशीलन करने पर एक बात सर्वथा निरपवाद रूप से कही जा सकती है। भास्करराय जो सदैव परम्परागत दृष्टिकोण का ही अनुसरण नहीं करते,[3] इस अवसर पर भी आगमदर्शन के त्रिपुरा-सम्प्रदाय की परम्पराओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे हैं; या और भी स्पष्ट रूप से कहें कि जिस सम्प्रदाय से वे सम्बद्ध हैं, उसकी परम्पराओं से निरपेक्ष एक नवीन मार्ग उन्होंने अपने लिए निश्चित किया है[4]। भास्करराय के मत में, परावाक् न तो परमतत्त्व है, जैसा कि वैयाकरणों ने माना है, न ही यह परम-शक्ति है, जैसा कि त्रिक-दार्शनिकों एवं त्रिपुरादर्शन के प्रारम्भिक आचार्यों ने इसे माना है; किन्तु यह शब्दब्रह्म से अभिन्न है, जो भास्कराय के वर्णन के अनुसार नित्य तत्त्व न होकर एकजन्य पदार्थ है, जिसका आदि भी है और अन्त भी।

किन्तु यह वास्तव में आश्चर्यजनक है कि पाणिनीय सम्प्रदाय के अजेय पक्षधर नागेशभट्ट, जगत् के विकास और वाक् की चतुर्विध अभिव्यक्ति का ठीक उसी रूप में वर्णन करते हैं, जैसा भास्करराय ने किया है। अपनी प्रमुख कृति **वैयाकरणसिद्धान्त-**

---

१. तदिदं कारणबिन्द्वात्मकमभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निस्पन्दं तदेव च परा वागित्युच्यते।—वही।

२. अथ तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन पवनेनाभिव्यक्तं विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपकार्यबिन्दुमयं सत् पश्यन्ती वागुच्यते। अथ तदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमभिव्यज्यमानं निश्चयात्मिकया बुद्ध्या युक्तं विशेषस्पन्दप्रकाशरूपनादमयं सन्मध्यमा वागित्युच्यते। अथ तदेव वदनपर्यन्तं तेनैव वायुना कण्ठादिस्थानेष्वभिव्यज्यमानमकारादिवर्णरूपपरं श्रोत्रग्रहणयोग्यस्पष्टतरप्रकाशरूपबीजात्मकं सद् वैखरी वागुच्यते।
—सौ. भा. पृ. ९९।

३. यो. हृ. पर प्रस्तावनात्मक टिप्पणी, पृ. २।

४. इदं च शाक्तमतं पूर्वदर्शितसकलमतापेक्षया विलक्षणमिति सुधियामतिरोहिततया नात्रोपपादनमपेक्षते। PWSBS १०, पृ. १३२।

लघुमञ्जूषा में वे लिखते हैं कि जगत्प्रलय के दौरान माया परमेश्वर में विलीन रहती है। जब विभिन्न प्राणियों के कर्मों का परिपाक होता है, तो परमसत्ता में विभाजन दिखलाई पड़ता है और माया ईश्वर से पृथक् हो जाती है। परमेश्वर की सिसृक्षा के कारण माया अव्यक्त अथवा कारणबिन्दु की अवस्था ग्रहण कर लेती है, जो त्रिगुणात्मक है और अत्यन्त सूक्ष्म सत्ता है। यह सृष्टि के लिए उपयोगी, ऐसी अवस्था है, जिसमें क्रिया का अंकुर निरन्तर बढ़ता रहता है। कारणबिन्दु अपने आपको तीन रूपों में विभक्त करता है—कार्यबिन्दु, नाद एवं बीज। कारणबिन्दु द्वारा स्वयं को तीन रूपों में विभक्त करते समय एक अव्यक्त ध्वनि उत्पन्न होती है, जिसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। यही शब्दब्रह्म मूलाधार[1] में अभिव्यक्त होने पर परा-वाक् कहलाता है और जब यह नाभि, हृदय और मुख-विवर में प्रकट होता है तो इसे क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहते हैं। नागेश के अनुसार परा और पश्यन्ती दोनों अत्यधिक सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं, जो क्रमशः निर्विकल्पक और सविकल्पक समाधि के माध्यम से योगियों के लिए गम्य हैं। परा और पश्यन्ती, दोनों की अपेक्षा मध्यमा स्थूल है और वैखरी स्थूलतम है[2]।

हम स्वयं देख सकते हैं कि नागेश का वर्णन भास्करराय के वर्णन के समान्तर है; फिर भी गहराई से विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि दोनों के बीच मामूली भेद हैं। उदाहरण के लिए नागेश मानते हैं कि कार्यबिन्दु, नाद और बीज कारणबिन्दु के ही तीन रूप हैं, जबकि भास्करराय कहते हैं कि कारणबिन्दु कार्यबिन्दु में परिणत होता है, जबकि कार्यबिन्दु नाद में और नाद बीज में परिवर्तित होता है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि नागेश की अवधारणा में माया ठीक उसी प्रकार से मिथ्यातत्त्व है, जिस प्रकार हम इसे अद्वैतवेदान्त में पाते हैं। निश्चय ही यह खेद का विषय है कि अपने प्रखर पाण्डित्य और प्रतिभा के बावजूद नागेश भर्तृहरि और उनके उत्तराधिकारियों की स्थापना को समझने व उसका उचित मूल्यांकन करने में असफल रहे हैं और एक ऐसे सिद्धान्त के प्रकाश में वैयाकरण के दृष्टिकोण की व्याख्या का प्रयास करते हैं, जहाँ वाक् की कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति नहीं है। अच्छा होता यदि नागेश भर्तृहरि की कृतियों में वाक् को दी गई सर्वोपरि महत्ता के प्रति सचेत रहते। भर्तृहरि वाक् को परमतत्त्व मानते हैं और इसका स्तर अन्य किसी भी सत्ता के प्रति गौण नहीं है। यह सदैव एवं सर्वत्र अपनी सम्पूर्ण महिमा के साथ प्रकाशित होती है। इसमें कोई भी परिवर्तन नहीं होता और यह किसी भी अवस्था में क्षीण या नष्ट नहीं होती। सच तो यह है कि भर्तृहरि ने वाक् को जैसी उदात्त धारणा हमारे सम्मुख प्रस्तुत की है, वैसी त्रिक और प्राचीन त्रिपुरा-आचार्य भी नहीं दे सके हैं।

---

१. जननेन्द्रियों के ऊपर स्थित एक रहस्यात्मक चक्र।

२. वै. सि. ल. म., पृ. १७५-७७।

उपसंहार—

शब्द और प्रत्यय (विचार) के गहरे सम्बन्ध को 'प्रदत्त' मानकर इसके आधार पर भर्तृहरि तथा शैव और शाक्त दार्शनिकों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। प्रत्ययवादी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में प्रत्यय को चरम तत्त्व माना है, जो सत्ता के व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ प्रकारों को जन्म देता है। विचार और शब्द को अभिन्न माना गया है। नव्य-प्लेटोवाद का **'लॉगॉस'** शब्द और प्रत्यय दोनों को समान रूप से व्यक्त करता है। किन्तु पूर्वोल्लिखित भारतीय दार्शनिकों ने शब्द को सृष्टिक्रम और विकास का उत्स बना दिया है। एक ओर शैव और शाक्त सम्प्रदाय और दूसरी ओर भर्तृहरि के सम्प्रदाय को रखें तो हम इन दोनों में कुछ मामूली भेद पाएँगे, किन्तु इन भेदों के बावजूद उनका सादृश्य बुनियादी है। आगमों में इन मीमांसाओं के बीज हैं और क्रमबद्ध दर्शनों में उनका विकास तार्किक बुद्धि का परिणाम है। इन सम्प्रदायों के कालक्रमिक सम्बन्ध का निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है; फिर भी, भर्तृहरि की कृति स्पष्टतया शैव और शाक्त दर्शनों के प्रतिष्ठित ग्रन्थों से पूर्ववर्ती है और यह स्वाभाविक ही है कि ये दर्शन भर्तृहरि से प्रभावित रहे हैं। शब्द-ब्रह्म की अवधारणा से निष्पन्न विभिन्न सत्तामीमांसीय रूपरेखाओं और उन पर आधारित, या उन्हें जन्म देने वाले, धार्मिक अनुशासनों द्वारा आधुनिक चिन्तक के समक्ष एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए—प्रत्यय और शब्द का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इसे मात्र आकस्मिक कहकर नहीं टाला जा सकता। सम्भव है कि आधुनिक मस्तिष्क को ये मीमांसाएँ पण्डिताऊ और विचित्र-से परिधान में लिपटी हुई प्रतीत हों, किन्तु इनके दार्शनिक आधार को उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर और इस दृढ़विश्वास के साथ कि जो कल की महान् प्रतिभाओं के लिए गम्भीर चिन्तन का विषय था, वह मानवीय चिन्तन के इतिहास के गम्भीर अध्येता के लिए भी रोचक विषय होगा, हमने इस विषय का कुछ विस्तृत विवेचन किया है।



सत्ताओं का व्यावहारिक जगत् : वर्ण, पद और वाक्य

भाषा, **तैत्तिरीय-संहिता** के अनुसार, अपनी आद्यावस्था में अवयवों के रूप में व्याकृत नहीं थी[1]। अतः भाषा के इतिहास में, विश्लेषण की पद्धति को परवर्ती विकास ही मानना चाहिए। पुण्यराज यह बताना नहीं भूलते कि पाणिनि और पतञ्जलि दोनों ने ही वाक्य की अखण्डता को स्वीकार किया है; यह मध्यकालीन या पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों द्वारा अपने क्रमबद्ध चिन्तन में प्रवर्तित नवीन प्रस्थापना नहीं है[2]। पतञ्जलि अखण्ड वाक्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं और पदों को काल्पनिक सत्ताएँ मानते हैं, यह पुण्यराज ने **महाभाष्य** के एक अंश को उद्धृत करके सिद्ध किया है[3]। फिर भी वाक्य की अखण्डता को तार्किक रूप से स्थापित करने का वास्तविक श्रेय तो शब्दब्रह्मवाद के अजेय पक्षधर भर्तृहरि को ही जाता है[4]। वाक्य को अविभाज्य इकाई मानने वाले भर्तृहरि ने अपनी प्रस्थापना को विकसित करते समय मीमांसक (अथवा पदवादी) के मत का विवरण और विश्लेषण किया है, जो पदों को चरम-तत्त्व मानता है और उन्हें काल्पनिक पृथक्करण कहने वाले मत का तीव्र विरोध करता

---

१. वाग्वै पराच्यव्याकृता—तै. सं., ६.४.७।

२. (क) सूत्रकारस्य त्वतिङ्ग्रहणादेकमेवाखण्डं वाक्यमर्थैकत्वादाख्यातभेदेऽप्यभिप्रेतमिति गम्यते।—पु. रा., पृ ७१।

(ख) सूत्रकाराभिप्रायमनुसृत्याखण्डपक्ष एव वाक्यवाक्यार्थयोरभ्युपगम्यत इति दर्शितम्। इदानीं भाष्यकाराभिप्रायेणापि स एवाभ्युपगन्तव्य इत्युपक्रम्यते।—वही, पृ. ९०।

३. तथा च भाष्यम्—'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'। तथा—'यथालक्षणमप्रयुक्त' इति।—वही, पृ. ९१।

पुण्यराज कहते हैं कि पाणिनिसूत्र ६.१.२०७ के भाष्य में पदकार शब्द की संरचना से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य के एक घटक के रूप में पद एक काल्पनिक सृष्टि है, और इसलिये इसे वास्तविक सत्ता नहीं माना जा सकता—अत्र यदि पदानां सत्यता स्यात्तदा तेषां स्वत एव सिद्धत्वात् पदानि कुर्वन्तीति पदकारा इत्येतदसंगतं स्यात्।—पु. रा., पृ. ९१।

तथा— पदाम्नायश्च यद्यन्यः संहितायाः निदर्शकः।
नित्यस्तत्र कथं कार्यं पदं लक्षणदर्शनात्॥ —वा. प., २.६०।

४. यत एवं सूत्रकारस्य भाष्यकारस्य चाखण्डपक्षोऽभिरुचितः। तस्माद्वाक्यवादिभिः स्फोटवादिभिरभेदकल्पनमाश्रितं काल्पनिकः पदवादोऽभ्युपगत इत्यर्थः।—पु. रा., पृ. ९१।

है। प्रारम्भ में ही भर्तृहरि **ऋक्प्रातिशाख्य** के एक अत्यन्त सुपरिचित वक्तव्य[1] का विश्लेषण करके स्पष्ट करते हैं कि दो विरोधी सम्प्रदायों पदवादी तथा वैयाकरण या वाक्यवादी ने वाक्य के स्वरूप का अध्ययन किस प्रकार किया है। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि दोनों पक्षों का विवाद कथित वक्तव्य में आये समस्तपद 'पदप्रकृति' के व्याख्यान को लेकर है[2]। पदों की वास्तविकता में विश्वास रखने वाला और वाक्य को अनेक पदों का समूह मानने वाला पदवादी उक्त शब्द की व्याख्या कुछ इस प्रकार करता है कि पद ही चरम-तत्त्व प्रतीत होता है और वाक्य को चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की अविभाज्य इकाई मानना अत्यन्त कठिन हो जाता है[3]। दूसरी ओर, वैयाकरण वाक्य की अखण्डता पर बल देता हुआ पद को मूलभूत सत्ता मानने का जोरदार खण्डन करता है[4]। उसके मत में, वाक्य का अनेक पदों में विभाजन एक उपाय-मात्र है, जो प्रारम्भिक अध्येता के लिए वाक्य के स्वरूप के अध्ययन में सहायक है[5]। वस्तुतः वैयाकरण की अवधारणा में पद सर्वथा काल्पनिक हैं[6]।

---

१. पदप्रकृतिः संहिता। – ऋ. प्रा., २.१।

२. पदप्रकृतिभावश्च वृत्तिभेदेन वर्ण्यते।
पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया॥—वा. प., २.५९।

यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि 'पदप्रकृतिः' समास षष्ठी-तत्पुरुष या बहुव्रीहि में से किसी का भी उदाहरण माना जा सकता है। यदि यह षष्ठी-तत्पुरुष माना जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि वाक्य ही मूलभूत सत्ता है और इसके अवयव के रूप में पद की केवल कल्पना की गई है। किन्तु यदि इसे बहुव्रीहि मानें तो पद ही मूलभूत सत्ता होगी, वाक्य नहीं।

३. ....पददर्शिनः पदमेव सत्यं ये मन्यन्ते, ते ह्यखण्डं वाक्यं कल्पितमाहुः।
—पु. रा., पृ. ९१।

४. अखण्डपक्षे पदप्रकृतिः संहितेति षष्ठी-समासेन व्याख्यायत इत्यर्थः।—वही, पृ. ९२।

५. तस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि, एकमभिन्नस्वभावं वाक्यम्। तद्बुधबोधनाय पदविभागः कल्पित इति।—पु. रा., पृ. ९१।

६. प्रासंगिक रूप से हम यहाँ यह भी उल्लेख कर दें कि किसी सत्ता को, वह आभ्यन्तर हो या बाह्य, अलग-अलग दार्शनिकों द्वारा अखण्ड अथवा सावयव माना जाना कोई असामान्य बात नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब इसे अखण्ड माना जाता है, तो अवयवयुक्त के रूप में इसका कोई भी उल्लेख इसी अर्थ में लिया जाना चाहिए कि ये अवयव मात्र कल्पित हैं। इसी प्रकार, यदि कोई सत्ता अवयवों में विभाज्य मानी जाती है, तो उन अवयवों की धारणा भी वास्तविक सत्ताओं के रूप में करनी होगी। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। अनेक पदार्थों का एक ही समय में जो ज्ञान होता है, उसकी व्याख्या पृथक्-पृथक् संप्रदायों द्वारा अलग-अलग प्रकार से की जाती है। एक संप्रदाय के अनुसार, विभिन्न पदार्थों को अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में प्रस्तुत करने

आगे बढ़ने से पूर्व हम वाक्य के स्वरूप के विषय में भर्तृहरि द्वारा दर्ज और पुण्यराज की टीका में विश्लेषित विभिन्न मतों का अध्ययन करना चाहेंगे। भर्तृहरि आठ विभिन्न मतों का उल्लेख करते हैं[1]। पुण्यराज बताते हैं कि वाक्य को अखण्ड मानने वाले इसे तीन अलग-अलग दृष्टियों से देखते हैं, जबकि वे लोग, जो इसे अवयवों में विभाज्य मानते हैं, इसका अलग-अलग पाँच प्रकार से वर्णन करते हैं[2]।

एक अखण्ड इकाई के रूप में अवधारित वाक्य को वैयाकरण की भाषा में स्फोट कहा गया है। यह स्फोट बाह्य सत्ता एवं आभ्यन्तर-सत्ता, दोनों रूपों में देखा जाता है[3]। पुनश्च, बाह्य-सत्ता के रूप में इसे व्यक्ति अथवा जाति, दो रूपों में समझा

वाला संज्ञान निःसंदेह अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लिये हुए एक एकात्मक सत्ता है। यह मात्र एक-एक पदार्थ को विषयभूत करने वाले अनेक वैयक्तिक संज्ञानों का योग नहीं है। किन्तु एक अन्य संप्रदाय के अनुसार, ऐसा ज्ञान मात्र अनेक वैयक्तिक संज्ञानों का समाहार है, जिसकी अपनी कोई विशिष्ट वैयक्तिकता नहीं। और भी स्पष्ट रूप में प्रथम संप्रदाय का मत इस प्रकार रखा जा सकता है, जब किसी संज्ञान की अन्तर्वस्तु के रूप में अनेक पदार्थों की प्रतीति होती है, तो उसे अनेक ऐसे संज्ञानों में विघटित करना संभव नहीं, जो योग कर दिये जाने पर परिणामिक संज्ञान को उत्पन्न करेंगे। यदि किसी प्रकार का विश्लेषण किया भी जाता है तो यह नहीं भूलना चाहिए कि इस विश्लेषण का प्रयोजन केवल इतना है कि इस प्रकार के संज्ञान को भलीभाँति समझा जा सके, इसके अतिरिक्त इसका स्वतः कोई महत्त्व नहीं। दूसरे संप्रदाय के अनुसार किसी एकात्मक संज्ञान को मानना निष्प्रयोजन है, क्योंकि जो अनुभव एकात्मक प्रतीत हो रहा है, वह वस्तुतः अनेक विविध अनुभव हैं। संज्ञान जैसी आभ्यन्तर सत्ता के विषय में जो सत्य है, वह किसी बाह्य सत्ता के विषय में भी उतना ही सत्य है। उदाहरण के लिए, शबल वर्ण कुछ दार्शनिकों के अनुसार स्वतः एक जाति है, न कि अनेक वर्णों का संमिश्रण। किन्तु अन्य दार्शनिक मानते हैं कि इसका अपना कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं है, यह कुछ-एक रंगों का समूहमात्र है। तुल०—

यथैक एव सर्वार्थप्रत्ययः प्रविभज्यते।
दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा॥
चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥—वा. प., २.७.८।

१. आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥—वा. प. २.१-२।

२. पु. रा., पृ. ६३।

३. स्फोटश्च द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्च।—वही, पृ. ६४।

जा सकता है[१]। अब यह समझना सरल है कि वाक्य को तीन परिभाषाएँ किस प्रकार बनीं, जिससे स्फोट की व्याख्या आभ्यन्तर-सत्ता के रूप में, बाह्य-सत्ता की हैसियत से व्यक्ति के रूप में और बाह्य-सत्ता की हैसियत से जाति के रूप में की जा सके[२]।

वैयाकरण के मत में वाक्य अपने आप में सम्पूर्ण है। इसका स्वयं अपना व्यक्तित्व है और यह केवल अनेक पदों का समाहार मात्र नहीं है। पुण्यराज इसकी तुलना सुस्वादु पेय से करते हैं, जिसमें विभिन्न तत्त्व अपने-अपने व्यक्तिगत स्वाद का विलय कर एक विशिष्ट रस का निर्माण करते हैं। अथवा यह मयूरी के अण्डे में वर्तमान द्रव के समान है, जहाँ विभिन्न रंग मिलकर एक रंग-बिरंगी छवि को जन्म देते हैं[३]। संक्षेप में, यह नरसिंह की भाँति स्वयं में एक जाति है, जो कुछ अंशों में मनुष्य से और कुछ अंशों में सिंह से सादृश्य रखने पर भी न तो मनुष्य है, न सिंह; अपितु निश्चित रूप से दोनों से भिन्न ही कुछ है। इसी प्रकार वाक्य भी अनेक पदों का समूह प्रतीत होता है, जो व्यवहार की सुविधा के लिए इसके अवयव मान लिये जा सकते हैं; किन्तु वास्तविकता में तो यह एक अविभाज्य इकाई है। जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, वाक्य का पदों में विभाजन सर्वथा एक कृत्रिम उपाय है, जिसका आश्रय लेने का एकमात्र उद्देश्य है अध्येता को वाक्य की अखण्डता को समझने में सहायता देना, जिसे वह अपने अध्ययन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में नहीं समझ पाता[४]। अद्वैत-वेदान्त का यह सुप्रसिद्ध न्याय है कि हम असत्य के माध्यम से सत्य की ओर बढ़ते हैं, इसी प्रकार कल्पित पदों का अध्ययन हमें वाक्य के धरातल पर पहुँचा देता है, जहाँ हम इसकी अखण्डता का दर्शन पाने में सफल हो जाते हैं[५]।

वैयाकरण के मत में वाक्य अखण्ड है; क्योंकि इसके विरोधी मत अर्थात् खण्ड-पक्ष की परिणति अनवस्था-दोष अथवा परमाणुवाद की स्वीकृति में होगी। यदि वाक्य पदों में विभाज्य है और पद अक्षरों में तथा अक्षर वर्णों में, तो इसी अवस्था पर रुक जाने का कोई अनुभव निरपेक्ष कारण नहीं है। अब, यदि इससे भी आगे निरन्तर विभाजन करते जाएँ, तो पद के असीम विभाजन हो जाएँगे; किन्तु इस प्रकार

---

१. बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविधः।—वही।

२. तत्र जातिलक्षणस्य जातिः संघातवर्तिनीति। व्यक्तिलक्षणस्यैकोऽनवयवः शब्द इति। आभ्यन्तरस्य तु बुद्ध्यनुसंहृतिरित्यनेनोद्देशः।—वही, पृ. ६४।

३. वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वं पानकरसमयूराण्डरसचित्ररूपनरसिंहगवयचित्रज्ञानवत् समानमेवे-त्युच्यते।—वही, पृ. ७१।

४. (क) एकस्य निर्विभागस्य वाक्यस्य सर्वतः परिपूर्णस्य वाक्यान्तरगतैः पदान्तरैरन्वाख्यानं तथैव क्रियत इति।—वही, पृ. ७२।

(ख) यथाखण्डमेव पदं प्रकृतिप्रत्ययादिभिः कल्पितैरेव विभज्यते, तथा वाक्येऽप्यसत्य-भूतानामेवाबुधबोधनाय पदानां विभागो द्रष्टव्य इति।—वही।

५. असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।—वा. प., २.२४०।

अनवस्था-दोष उपस्थित हो जाएगा, जो इस मत का विसंगतिप्रदर्शक है। इसके विपरीत, यदि हम वर्णों या उनके सूक्ष्मतर विभागों पर रुकें, तो हमें यह मानना होगा कि चरम-सत्य अविभाज्य है। तो फिर वाक्य को ही अविभाज्य इकाई क्यों न मान लें? इसके अतिरिक्त निरन्तर विभाजन मानने पर परमाणुवाद की विसंगति भी उपस्थित होगी। यदि निरन्तर विभाजन करें, तो वर्णों के परमाणु स्वीकार करने होंगे। प्राक्कल्पनानुसार, परमाणु अविभाज्य और निरवयव हैं और इस स्थिति में अन्य अवयवों से इनका संश्लेष बुद्धिगम्य नहीं है। एक भौतिक परमाणु के साथ दूसरे के संयुक्त होने की कल्पना उस स्थिति में हो सकती थी, जब वह सावयव हो और उसका संयोग अवयवों के विषय में हो, अन्यथा यदि एक परमाणु का दूसरे से संयोग आंशिक न होकर उनकी सम्पूर्ण एकात्मता के विषय में हो, तो इसका अर्थ होगा—दोनों का विलय, और इस प्रकार आकार में कोई वृद्धि नहीं होगी। अब, जो बात भौतिक परमाणुवों के विषय में है, वही शब्द के परमाणुवों के विषय में भी सत्य होगी। इस प्रकार न तो वर्ण होंगे और न ही उनके संयोग से निर्मित पद। इसलिए हमें वाक्य की अखण्डता को अपरिहार्य तार्किक आवश्यकता मानकर स्वीकार करना ही पड़ता है[1]।

वाक्य का पदों और वर्णों में विभाजन उपायमात्र है, यह बात व्याकरणशास्त्र में उनको दिये गये स्तर के अनुसार भी समझी जा सकती है। यह निश्चयात्मक स्वर में कहा गया है कि जिन अवयवों में 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' जैसे संध्यक्षर विश्लेषण हैं, वे इन्हीं से मिलते-जुलते सरल स्वरों से अभिन्न नहीं हैं। इन संध्यक्षरों का विभाजन मात्र इसलिए किया गया है कि प्रारम्भिक अध्येता अपने अध्ययन के विषय को सरलता से समझ सकें। वस्तुतः सभी संध्यक्षर अविभाज्य सत्ताएँ हैं। यदि उनके तथाकथित अवयव वास्तविक और स्वयं में अर्थवान् होते, तो यह कहने का कोई औचित्य नहीं था कि इन अवयवों की अपने समनुरूप सरल स्वरों के साथ भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। ठीक इसी प्रकार, जिन पदों में वाक्य को विभाज्य माना जाता है, वे तत्सदृश रूपों की छायामात्र हैं, उनसे अभिन्न कदापि नहीं हैं[2]। इसलिए वैयाकरण का कथन है कि वाक्य में पद, वर्ण और अक्षर जैसे विभागों की कोई गुंजाइश नहीं। यह संक्षेप में, वाक्य या स्फोट को अपने पृथक् व्यक्तित्व से युक्त एक बाह्यसत्ता मानने वालों का दृष्टिकोण है।

---

१. पदानि वाक्ये तान्येव वर्णास्ते च पदे यदि।
वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात्परमाणुवत् ॥
भागानामनुपश्लेषान्न वर्णो न पदं भवेत्।
तेषामव्यपदेश्यत्वात्किमन्यदपदिश्यताम् ॥—वा. प., २.२८-२९।

२. तत्र वाक्यादपोद्धृतानां पदानां केवलमितरपदसारूप्यमात्रं दृश्यत इति प्रतिपादयितुमाह—
वर्णान्तरसरूपं च वर्णभागेषु दृश्यते।
पदान्तरसरूपश्च पदभागे अवस्थितः ॥—वही, २.११।

अब हम जातिरूप स्फोट की अवधारणा को स्पष्ट करना चाहेंगे। यह सामान्यतः ज्ञात विषय है कि जाति अपने व्यक्तियों में से प्रत्येक में समवाय सम्बन्ध से रहती है। जाति को अखण्ड इकाई माना जाता है, अतः यह भी अवश्य मानना होगा कि यह अपनी कक्षा के प्रत्येक व्यक्ति में अपनी संपूर्णता में रहती है। जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। यदि जाति के क्षेत्र में आने वाले अनेक व्यक्तियों में से किसी भी एक के द्वारा इसको पूर्णतः व्यक्त किया जा सकता है, तो क्या यह मानना अनावश्यक न होगा कि इसकी अभिव्यक्ति समस्त व्यक्तियों द्वारा की जाती है और यदि स्फोट को वाक्य के सभी पदों और वर्णों में अन्तर्भूत एक जाति मानें तो इस प्रश्न का उत्तर अवश्य देना होगा। इसका उत्तर यह दिया गया है कि जिन अनेक व्यक्तियों में जाति समवेत है, उनमें से प्रत्येक इसको व्यक्त करने में इस प्रकार योग देता है कि विभिन्न व्यक्तियों के माध्यम से इसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और स्पष्टतर होती जाती है। एक दृष्टान्त देकर भर्तृहरि इस बात को स्पष्ट करते हैं। चलने की क्रिया के मूल में निहित जाति चलने के प्रत्येक व्यापार के साथ अभिव्यक्त होती है, क्योंकि यह माना जाता है कि अपने अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के माध्यम से जाति अपने आपको व्यक्त करती है। किन्तु यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में इसे व्यक्त करने के लिए आवश्यक क्षमता है, तथापि किसी अकेले व्यक्ति के माध्यम से प्रकाशित होने पर इसका स्पष्ट ग्रहण नहीं हो पाता। जब चलने का कोई प्रयत्न अनेक बार देखा जाता है, तो इस क्रिया में अन्तर्निहित जाति की अवधारणा पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है। यह तर्क दिया जाता है कि चलने की क्रिया में प्रत्येक व्यापार दूसरे से कुछ अर्थों में भिन्न है। तब यह बात स्पष्ट नहीं होती कि प्रत्येक व्यापार जो कुछ विशेष प्रयत्नों का परिणाम है, किस प्रकार इन सभी व्यापारों में समवेत एक ही जाति को व्यक्त कर पाता है? भर्तृहरि के लिए यह तर्क पूर्वप्रत्याशित है और वे इसका उत्तर प्रस्तुत करते हैं। चलने का प्रत्येक व्यापार दूसरे से भिन्न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर उनकी निर्विवाद समनुरूपता उन्हें सदृश बनाती है। इसलिए यदि स्वसमवेत जाति को पृथक्-पृथक् व्यक्ति एक ही प्रकार से व्यक्त करते हैं, तो इसमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार से तर्क करते हुए, स्फोट को जातिरूप मानने वाले कहते हैं कि प्रत्येक ध्वनि जातिरूप स्फोट को प्रकाशित करती है। उच्चारण के स्थान और प्रयत्न के मामले में प्रत्येक ध्वनि की निजी विशेषताएँ होने पर भी इन सभी में एक साम्य है, ये सभी तब उत्पन्न होती हैं जब आभ्यन्तर वायु उच्चारण-स्थानों से टकराती है। स्फोट अथवा वाक्य की जातिरूप बाह्यसत्ता के रूप में वैयाकरण की यह व्याख्या है[1]।

---

१. (क) यथाक्षेपविशेषेऽपि कर्मभेदो न गृह्यते।
आवृत्तौ व्यज्यते जातिः कर्मभिर्भ्रमणादिभिः॥
वर्णवाक्यापदेष्वेवं तुल्योपव्यञ्जना श्रुतिः।
अत्यन्तभेदे तत्त्वस्य सरूपेव प्रतीयते॥—वा. प., २.२०-२१।

इसके बाद हम आभ्यन्तर-सत्ता के रूप में स्फोट का वर्णन करने वाले वैयाकरण मत का अध्ययन करेंगे। वैयाकरण का कहना है कि स्फोट शुद्ध रूप से आध्यात्मिक एक आभ्यन्तर-सत्ता है, जो केवल ध्वनियों द्वारा व्यक्त किये जाने पर बाह्यता धारण करती है[१]। यह आभ्यन्तर-स्फोट अखण्ड और निरवयव है, चैतन्य-रूप है और इसलिए ज्योतिर्मय है। यह शब्द और अर्थ, उभयात्मक है, क्योंकि यह प्रतिमा से उद्भूत है और उससे अविच्छेद्य रूप में संबद्ध है; यह सारतः उसके साथ एकात्म है[२]। आभ्यन्तर-स्फोट और प्रतिभा परस्पर विनिमेय शब्द हैं; वे दो पृथक् सत्ताओं को द्योतित नहीं करते; अपितु एक ही परम शब्दतत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अविवाद्य रूप से एकात्मक और अखण्ड है[३]। जब तक ये अन्तःस्थित रहते हैं और बाह्याभिमुख नहीं होते, तब तक उनके मध्य भेद की प्रतीति नहीं होती। जब वे बाह्य क्षेत्र में आते हैं, केवल तभी वे वाचक और वाच्य के रूप में संबद्ध दो पृथक् सत्ताओं के रूप में प्रतीत होते हैं[४]। इस बात को बल देकर कहा गया है कि मूलतः दोनों पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। जिस परमतत्त्व का वे प्रतिनिधित्व करते हैं, वह उन्हें न केवल वाचक एवं वाच्य, अपितु प्रकाशक एवं प्रकाश्य, भोक्ता एवं भोग्य एवं अन्य सहस्रों रूपों में प्रस्तुत करने की असीम सामर्थ्य रखता है[५]। भर्तृहरि शब्दब्रह्म की इस असीमित सामर्थ्य का बड़ा भावपूर्ण वर्णन करते हैं, जो वाच्य-वाचक-संबन्ध सहित हमारे सभी संव्यवहारों की व्याख्या करने में समर्थ है[६]।

(ख) नित्यत्वे समुदायानां जातेर्वा परिकल्पने।
एकस्यैवार्थतामाहुर्वाक्यास्याव्यभिचारिणीम्॥—वही, २.५७; इस पर पु. रा., भी देखें।

१. यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम्।
तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता॥—वा. प., २.३०।

२. इदानीमन्तरेवानवयवं वोधस्वभावं शब्दार्थमयं निर्विभागं शब्दतत्त्वमिति यद्गीतम्""""।
—पु. रा., पृ. ८१।

३. (क) """"वाग्विकाराणां प्रकृतिं पश्यन्त्याख्यां प्रतिभामुपैति, तस्माच्च सत्तामात्रात्प्रतिभाख्याच्छब्दात्"""" ।—वही, पृ. ८।
(ख) एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ।—वा. प., २.३१।

४. तौ च""""वस्तुतो बहिःस्थितौ भेदाविव प्रतिभासेते इति बोध्यम्।—पु. रा., पृ. ८२।

५. (क) प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥—वा. प., २.३२।
(ख) एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥—वही, १.४।

६. (क) तस्यैवास्तित्वनास्तित्वसामर्थ्ये समवस्थिते।
अक्रमे क्रमनिर्भासे व्यवहारनिबन्धने॥—वही, २.३३।
(ख) तस्य तदेवैकं निर्विभागं परं तत्त्वमाश्रित्यायं सकललोकसंव्यवहारः शक्तिभेदात् प्रतीयते। किं पुनरयं वाच्यवाचकमात्ररूप इति।—पु. रा., पृ. ८२।

वाक्य को अवयवों में विभाज्य मानने वाली कतिपय परिभाषाओं का अध्ययन हम आगे करेंगे; किन्तु उससे पूर्व पिछली तीनों परिभाषाओं में स्वीकृत, वाक्य की अखण्डता के विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि वाक्य को एकात्मक तत्त्व माना गया है, जो अवयवों में विभाज्य नहीं है; किन्तु सामान्य अनुभव में वाक्य की अवधारणा के साथ क्रम की धारणा जुड़ी हुई है। वाक्य की संकल्पना अवयवों में विभाज्य सत्ता के रूप में किये बिना इसके साथ जुड़ी क्रम की धारणा की व्याख्या करना भी प्रायः असम्भव है। किन्तु वैयाकरण यहाँ यह मानता है कि वाक्य की अवधारणा के साथ जुड़ी क्रम और विभाग की धारणाएँ वाक्य को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनियों द्वारा उत्पन्न आभासमात्र हैं। प्रसंगवश यह भी उल्लेख करना उचित है कि वाक्य के एकात्मक स्वरूप की बाधक दीखने वाली सभी धारणाएँ इससे स्वरूपतः सम्बद्ध नहीं हैं; अपितु इसे व्यक्त करने वाले माध्यम से इसमें प्रतिबिम्बित होती हैं। जब हम किसी वाक्य में उन स्थितियों में अन्तर करते हैं, जब वह कुछ-कुछ व्यक्त होता है और जब वही पूर्णतः स्पष्ट रूप में व्यक्त होता है, तो सम्भवतः हम इस तथ्य को भूल जाते हैं कि दोनों वाक्यों की मूल-प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है; प्रतीयमान भेद उन्हें व्यक्त करने वाली ध्वनियों के कारण है, प्रथम स्थिति में ध्वनियाँ हल्की हैं, जबकि दूसरी में वे स्पष्ट और प्रगल्भ हैं[1]। एक दृष्टान्त देकर वैयाकरण की स्थिति का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। ज्ञान एक और निरवयव है, फिर भी हम इसमें दीर्घकालिक और अल्पकालिक जैसे भेद करते हैं। इसके कारणों को समीक्षा करने से यह स्पष्ट होगा कि ज्ञान की अन्तर्वस्तुएँ अनेक होने पर इसका स्थिति-काल उस समय भी तुलना में लम्बा प्रतीत होता है, जब ऐसी अन्तर्वस्तुएँ अपेक्षाकृत कम संख्या में हों[2]; किन्तु इस उदाहरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट नहीं होती। एकात्मक और अखण्ड तत्त्व आखिर भेदयुक्त और साकार प्रतीत होता ही क्यों है? भर्तृहरि के लिए यह समस्या अप्रत्याशित नहीं है। वे इसके समाधान में कहते हैं कि ऐसे एकात्मक और विभागहीन तत्त्वों की यह सहज प्रकृति है कि जिस माध्यम के द्वारा उनका प्रतिबिम्बन किया जाता है, अपनी सहज एवं विशिष्ट शक्ति के कारण वे उसी माध्यम की विशेषताओं का अनुकरण करते से प्रतीत होते हैं[3]।

---

१. (क) अव्यक्तः क्रमवान् शब्द उपांश्वयमधीयते।
अक्रमस्तु वितत्येव बुद्धिर्यत्रावतिष्ठते॥—वा. प., २.१९।

(ख) यस्तु भेदप्रतिभासः सोऽसावुपाधिकृत एवेत्यर्थः। तथोपांशु परमोपांशु व्यक्तो व्यक्ततरश्च, विलम्बितो विलम्बिततरश्च, द्रुतो द्रुततरश्चेत्यादिकाः प्रतिभासा अभिव्यञ्जकध्वनिकृता न पुनः सत्या इति बोद्धव्यम्।—पु. रा., पृ. ७६।

२. चिरं क्षिप्रमिति ज्ञाने कालभेदादृते यथा।
भिन्नकाले प्रकाशेते स धर्मो ह्रस्वदीर्घयोः॥—वा. प., २.२३।

३. (क) नित्येषु तु कुतः पूर्वं परं वा परमार्थतः।
एकस्यैव तु सा शक्तिर्यदेवमवभासते॥—वही, २.२२।

एक अनुच्छेद में यह पहले कहा जा चुका है कि वाक्य को मानने वालों ने इसे पृथक्-पृथक् पाँच रीतियों से परिभाषित किया है। प्रथम परिभाषा में क्रियापद (आख्यात) को वाक्य माना गया है; क्योंकि वह अकेले ही एक निराकाङ्क्ष अर्थ का बोध करा देता है, कर्ता और कर्म जैसे अपेक्षित साधनों का ग्रहण उपलक्षण अथवा आक्षेप से हो जाता है[१]। उदाहरण के लिए, क्रियापद 'दहति' (जलाता है) को वाक्य माना जा सकता है, कर्ता 'अग्नि' और कर्म 'गृह' की उनके घनिष्ठ संबन्ध के आधार पर अध्याहार से प्राप्ति करके उनका अन्वय इस क्रियापद के साथ हो जाएगा। क्रियापद को ही वाक्य मानने वाले इस मत का भाषाविद् के लिए अत्यधिक महत्त्व है। वार्तिककार कात्यायन ने वाक्य के कलेवर में आख्यात-तत्त्व को महत्त्व दिया है[२]। पुण्यराज मीमांसक-मत की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जिसके अनुसार क्रियापद वाक्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। भर्तृहरि एक ऐसे मत की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं, जिसके अनुसार कोई नामपद भी वाक्य माना जा सकता है, यदि वह अपने अभिप्रेत अर्थ के बल पर किसी क्रिया अर्थात् आख्यातार्थ को व्यञ्जित करता हो[३]। इस प्रकार हम पाते हैं कि आख्यात-तत्त्व निश्चय ही वाक्य का विशिष्टतम अंश है। सही तौर पर इसे वाक्य का प्राण कहना चाहिए। अतः क्रियापद को बखूबी वाक्य मान लिया जा सकता है[४]।

एक अन्य मत के अनुसार वाक्य में प्रथम पद को ही वाक्य माना जा सकता है। इस मत के प्रतिपादनकर्ता यह मानते हैं कि दो पृथक् वाक्यों में प्रथम पद भले ही सर्वथा समरूप हो; फिर भी एक वाक्य के प्रथम पद को दूसरे वाक्य के प्रथम पद से भिन्न मानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि आकृति से एक प्रतीत होने वाले दो पद वस्तुतः अभिन्न नहीं हैं, क्योंकि दोनों के अर्थ एक न होकर अलग-अलग हैं। इसका कारण यह है कि वे दूसरे पदों के साथ अन्वित हैं, जो प्रत्येक वाक्य में बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए हम दो वाक्य लेंगे :

१. देवदत्त ! गाय लाओ।
२. देवदत्त ! गाय को बाँध दो।

(ख) भावनासमये त्वेतत् क्रमसामर्थ्यमक्रमम्।
व्यावृत्तभेदो येनार्थो भेदवानुपलभ्यते ॥—वही, २.२७।

(ग) ......अक्रमं स्फोटस्वभावमेकं वाचकं स्वपदार्थभावनावसरे तूपाधिवशात् क्रमसामर्थ्यं क्रमे सामर्थ्यं शक्तिर्यस्य तत् क्रमसामर्थ्यमवगतम्।—पु. रा., पृ. ८०।

१. आख्यातशब्दो नियतं साधनं यत्र गम्यते।
तदप्येकं समासार्थं (समासार्थं) वाक्यमित्यभिधीयते ॥—वा. प., २.३२७-२८।

२. आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।—पा. २.१.१, पर वा. ९।

३. (क) कर्मप्रधानं क्रियापदप्रधानमित्यर्थः।—पु. रा., पृ. ६९।
(ख) वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम्।—वा. प., २.३२६।

४. एकतिङ् वाक्यम्।—पा. २.१.१ पर वा. १०।

प्रथम वाक्य में देवदत्त पद दूसरे वाक्य के देवदत्त से भिन्न अर्थ को बोधित करता है। यद्यपि देखने में दोनों वाक्यों के प्रारम्भिक पद एक ही आकृतिवाले हैं; किन्तु केवल इसी कारण से उन्हें अभिन्न नहीं माना जा सकता। इसका सीधा-सा कारण यह है कि प्रत्येक का अर्थ पृथक्-पृथक् वाक्यों में प्रयुक्त अन्य पदों के अर्थं के साथ अन्वित होने के कारण भिन्न है। इस प्रकार यह माना गया है कि प्रथम पद का अर्थ वाक्य के अन्य पदों के अर्थं से संवद्ध होने के कारण एक संसृष्टि है और इसे बिलकुल विविक्तरूप में नहीं समझा जा सकता। इस स्थिति में समस्त वाक्य के अर्थ का अभिधान करने के कारण, प्रथम पद को ही वाक्य मान लिया गया है[1]।

अन्य एक मत के अनुसार वाक्य में प्रत्येक पद ही वाक्य है। पिछले अनुच्छेद में प्रस्तुत तर्क-पद्धति का ही पूरी तरह आश्रय लेते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रथम पद की भाँति वाक्य के अन्य प्रत्येक पद की भी वाक्यता सिद्ध की जा सकती है। प्रथम पद का अर्थ जिस प्रकार एक संसृष्टि है, वाक्य के अन्य सभी पदों का भी वैसा ही अर्थ है। इस प्रकार एक वाक्य के किसी पदविशेष का अर्थ दूसरे वाक्य के सदृश पद के अर्थ से भिन्न है। अतः यह मानना सर्वथा औचित्यपूर्ण है कि दोनों पद संरचना में एक होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं, एवं इस रूप में गृहीत किसी पद को निश्चय ही वाक्य माना जा सकता है[2]।

एक और मत के अनुसार क्रम ही वाक्य कहा जाता है[3]। मुख्यरूप से क्रम काल का धर्म है[4]। इस मत के प्रतिपादक यह मानते हैं कि वाक्य में प्रत्येक पद एक विशिष्ट क्रम में गृहीत होने पर ही अपने अर्थ को व्यक्त करता है[5]। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि पदों का बोध एक ही निश्चित क्रम में हो और दूसरे किसी क्रम को सर्वथा वर्जित कर दिया जाए, तथापि इतना निर्विवाद है कि जब तक ये पद एक क्रम-विशेष में प्रस्तुत न किये जाएँ, तब तक विवक्षितार्थ की अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती[6]। इन लोगों का तर्क है कि वाक्य कभी भी केवल पदों से नहीं बनता, यह

---

१. (क) विशेषशब्दाः केषाञ्चित् सामान्यप्रतिरूपकाः।
शब्दान्तराभिसम्बन्धाद् व्यज्यन्ते प्रतिपत्तृषु ॥—वा. प., २.१७।

(ख) इह देवदत्त गामभ्याजेत्यत्र देवदत्तपदं (देवदत्त ?) गां बधानेत्यस्माद् विशिष्टमेव वक्त्रा समुदीरितं भ्रमात्तु सकलसाधारणं प्रतिभाति। उत्तरकालं गवादिपदसम्बन्धाद् विशिष्टा प्रतिपत्तिरभिव्यज्यत इति तदेव वाक्यम्।—पु. रा., पृ. ७५।

२. तेषां तु कृत्स्नो वाक्यार्थः प्रतिभेदं समाप्यते।—वा. प., २.१८।

३. क्रमो वाक्यमित्युद्दिष्टम्।—पु. रा., पृ. ८८।

४. क्रमो हि धर्मो कालस्य।—वा. प., २.५१।

५. सन्त एव विशेषा ये पदार्थेषु व्यवस्थिताः।
ते क्रमादनुगम्यन्ते न वाक्यमभिधायकम् ॥—वही, २.५०।

६. अनपेक्षितविशिष्टानुपूर्वीकः क्रमः क्रममात्रम्।—पु. रा., पृ. ८८।

मात्र अनेक पदों का समाहार नहीं है। वाक्य की संरचना में प्रमुख उपादान क्रम-विधान है। इसलिए इस मत के पक्षधर वैयाकरण के विपक्ष में हैं, जो वाक्य अथवा स्फोट को अखण्ड और अक्रम मानता है[१]।

इस प्रसंग में यह अवधेय है कि इस मत के अधिवक्ता पदों के क्रम को तो अर्थाभिधायक वाक्य मानते हैं, किन्तु उनकी अवधारणा में वर्णक्रम अर्थाभिधान की शक्ति नहीं रखता[२]। पद को वर्णों का क्रम कहा जाने पर तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु यह बात वे सुस्पष्ट शब्दों में कह देते हैं कि वे केवल पदों के क्रम को ही वाक्य मानते हैं, क्योंकि अनुभव के आधार पर केवल पदक्रम मात्र ही अर्थाभिव्यक्ति की सामर्थ्य से युक्त पाया गया है[३]। यहाँ यह दलील दी जा सकती है कि जब वर्ण और पद, दोनों का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा किया जाता है, तो तर्कसंगत यही है कि पदक्रम की भाँति वर्णक्रम को भी अर्थाभिधायक माना जाए[४]। इसके उत्तर में कहा गया है कि इस प्रकार की दलीलें निरर्थक हैं, क्योंकि यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट है कि अर्थाभिधायक पदक्रम में ही दिखालाई पड़ता है, वर्णक्रम में नहीं। यह सही है कि वर्ण और पद, दोनों का ग्रहण एक ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा किया जाता है, किन्तु यह इस बात का प्रमाण नहीं कि दोनों का कार्य भी एक हो। हमारा अनुभव हमें बतलाता है कि पद ही अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ हैं, वर्ण नहीं। इस स्थिति में यह प्रश्न निरर्थक हो जाता है कि वाचक का जो स्तर और विशेषाधिकार पदक्रम को मिला है, उससे वर्णक्रम को वञ्चित क्यों रखा जाए ?[५] यहाँ प्रश्न वस्तुस्थिति का है, तर्क का नहीं, और इसलिए अनुभव ही इस विषय में अन्तिम प्रमाण है।

इनके अतिरिक्त एक और मत पदसंघात को वाक्य मानता है। इसके अनुसार प्रत्येक पद अकेले किसी ऐसे अर्थ का बोध नहीं करा सकता, जो स्वतः पूर्ण हो और परस्पर संप्रेषण के लिए पर्याप्त हो। अतः यह मानना आवश्यक है कि वाक्य पदों का संघात है और वाक्यार्थ व्यष्टि पदों के अर्थों के साथ ही इन अर्थों के मध्य संसर्ग का

---

१. तस्मिन्सत्यर्थप्रतीतेर्नान्यस्तद्व्यतिरिक्तः कश्चित् स्फोटादिः शब्दो वाचकोऽभ्युपगन्तुं युक्तः। अपि तु क्रम एवोपलभ्यमानो वाचकः।—पु. रा., पृ. ८८।

२. ये च संभविनो भेदाः पदार्थेष्वविभाविताः।
ते सन्निधाने व्यज्यन्ते न तु वर्णेष्वयं क्रमः॥ —वा. प., २.५२।

३. वर्णक्रमः पदमुच्यतां नाम। वाक्यसंज्ञा पदक्रम एव युक्ता, तथार्थप्रतीतिदर्शनात्।
—पु. रा., पृ. ८९।

४. तयोर्वर्णपदयोः शब्दत्वं श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि वाचकत्वलक्षणं नेष्यते, अपि तु क्रमस्यैव।
—वही।

५. समानेऽपि तु शब्दत्वे दृष्टः संप्रत्ययः पदात्।
प्रतिवर्णं त्वसौ नास्ति पदस्यार्थमतो विदुः॥ —वा. प., २.५४।

भी समावेश करता है।[1]

संक्षेप में वाक्य के स्वरूप के विषय में मुख्य रूप से दो चिन्तन-धाराएँ हैं। इनमें प्रथम वाक्य की अखण्डता में विश्वास रखती है, जबकि दूसरी इसको विभाज्य मानती है। पहले पक्ष को प्रायः वाक्यवादी और दूसरे को पदवादी के नाम से जाना जाता है। अब हम इन दोनों पक्षों द्वारा अपने-अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत तर्कों की समीक्षा करने का प्रयास करेंगे।

पदवादी का कहना है कि वाक्य में प्रत्येक पद अर्थ को एक इकाई को व्यक्त करता है; ऐसी अर्थ-इकाइयों का परस्पर अन्वय होने पर एक अतिरिक्त अर्थ उत्पन्न होता है। अनेक अर्थों के सह-अन्वय से व्यक्त होने वाला यह वाक्यार्थ केवल विभिन्न पदों द्वारा अभिहित अनेक अर्थों का समाहार नहीं है, इसकी अपनी व्यक्तिगत सत्ता है। पद का अर्थ दूसरे पदार्थं के साथ अन्वित होने पर बदल जाता है। अतः अन्वय में, जो वाक्यार्थ का ही अपर नाम है, अनेक पदों के व्यष्टि अर्थों का प्रवेश नहीं होता, अपितु किसी भिन्न अर्थ का प्रवेश होता है। इसलिए, सही अर्थ में, वाक्यगत संसर्ग स्थापित करने के लिए पदों के मूल अर्थ में कुछ परिवर्तन कर देना पड़ता है या उसे सर्वथा छोड़ देना पड़ता है। ऐसी स्थिति में, वाक्यवादी के अनुसार, यह मान्यता व्यर्थ है कि वाक्य में प्रत्येक पद अपना एक व्यक्तिगत अर्थ लिए हुए है। जब यह स्पष्ट हो गया कि पृथक्-पृथक् पदों के अर्थ केवल कल्पना की सृष्टि हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि व्यष्टि पदों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व हो नहीं है, फिर उनके निजी और स्वतन्त्र अर्थ का तो प्रश्न ही कहाँ ? अब यदि वाक्य को एक संघात माना जाए तो यह अर्थवान् नहीं होगा, क्योंकि असत् वस्तुवों या निरर्थक इकाइयों को इकट्ठा रखने पर भी उनकी स्थिति कोई बेहतर नहीं हो सकती। किन्तु वाक्य की अर्थवत्ता को अस्वीकार करना सम्भव नहीं, अतः संघातरूप वाक्य के सिद्धान्त को छोड़ना पड़ेगा[2]।

---

१. (क) केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते।
वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्॥
सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्॥ —वही, २.४१-४२।

(ख) यथा स्वावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित्।
अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते॥ —वही, २.५५।

२. (क) संप्रत्ययप्रमाणत्वात्पदार्थास्तित्वकल्पने।
पदार्थाभ्युच्चये त्यागादानर्थक्यं प्रसज्यते॥ —वा. प., २.३४।

(ख) यदि पदार्थसंप्रत्ययः प्रमाणं पदपदार्थसत्तायामुच्यते, तदा देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेत्यस्मिन् वाक्ये पूर्वपूर्वपदार्थानामुत्तरोत्तरपदार्थाभ्युच्चये स्वार्थत्यागात्तत्तत्पदोपादानस्यानर्थक्यं प्रसज्यते। ततश्चानर्थकस्योच्चारणवैफल्यादुच्चरिताद्वा तस्माच्छब्दमात्रात् पदार्थप्रत्ययस्यानुपपत्तेः किन्निबन्धना वाक्यार्थप्रतीतिः स्यादिति यत्किञ्चिदेतत्। —पु. रा., पृ. ८३।

वाक्यवादी और भी तर्क देकर प्रमाणित करता है कि पदवादी की स्थिति कदापि ठोस और तर्कसंगत नहीं है। सर्वप्रथम वह इस ओर संकेत करता है कि कोई विशेष पद एक विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति अपने रूप-परिवर्तन के बाद भी करता है। 'राजा', 'राजानम्', 'राज्ञा' इत्यादि विभिन्न शब्दरूप 'एक राजा' के अर्थ को ही व्यक्त करते हैं[१]। वाक्यवादी का तर्क है कि यदि पदों में वास्तव में अर्थाभिधायकत्व होता, तो यह स्पष्ट करना असम्भव-सा होता कि पद के रूप में परिवर्तन के बाद भी उसी अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे होती है। यह अपेक्षा करना उपयुक्त ही है कि एक निश्चित रूपवाला पद ही एक अर्थविशेष का अभिधान करे। किन्तु पदवादी ऐसे किसी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सकता। अतः वाक्यवादी का यह आग्रह है कि पद कल्पना से कदापि बेहतर नहीं हैं और इस विश्वास का कोई औचित्य नहीं है कि उनमें अर्थाभिधान का सामर्थ्य है।

वाक्यवादी का दूसरा तर्क यह है कि अनेक समस्त पदों में ऐसे रूप मिलते हैं, जो असमस्त पदों जैसे होने पर उनके अर्थ असमस्त पदों के अर्थों से बहुत भिन्न हैं। उदाहरण के लिए समस्त पद भी राजपुरुष, 'राज' और 'पुरुष' इन दो अवयवों से निर्मित प्रतीत होता है, जिन्हें दो असमस्त पद भी माना जा सकता है। किन्तु यदि हम समास के अर्थ और विग्रह में दोनों शब्दों के अर्थों को देखें, तो पाएँगे कि दोनों में मामूली साम्य भी नहीं है, अभेद तो बात ही क्या? समास का अर्थ है—'राजा का सेवक' जबकि असमस्त पदों का अर्थ है—'हे पुरुष, तुम दीप्तिमान् होओ'। वाक्यवादी का आग्रह है कि जब समरूप पद भी इस प्रकार अलग-अलग अर्थों को व्यक्त करते हैं, तब यह मानना सर्वथा असंगत है कि पद अर्थ के वाचक हैं[२]।

पदवादी के विरुद्ध एक और दलील भी है। पदवादी यह नहीं कह सकता कि पदार्थ की उत्पत्ति पद के घटक माने जाने वाले वर्णों के अर्थ से होती है। इसलिए वाक्यवादी भी यह तर्क दे सकता है कि वाक्यार्थ वाक्य के घटक माने जाने वाले पृथक्-पृथक् पदों से व्युत्पन्न नहीं हो सकता[३]। किन्तु पदवादी इस आपत्ति को उचित नहीं मानता। उसके अनुसार वर्ण निरर्थक नहीं, क्योंकि पदों का अर्थ उन्हीं में संनिहित है; वैसे ही जैसे वाक्यार्थ पदों में संनिहित है[४]। वर्ण पदों के सहवर्ती हैं, वैसे ही जैसे पद वाक्य के सहवर्ती हैं। सम्भवतः हम इतने निपुण नहीं हैं कि किसी

---

१. (क) राजशब्देन राजार्थो भिन्नरूपेण गम्यते। —वा. प., २.३५।
(ख) पु. रा., पृ. ८३ भी देखें।

२. वृत्तावाख्यातसदृशं पदमन्यत्र युज्यते। —वा. प., २.३५।

३. प्रतिवर्णमसंवेद्यः पदार्थप्रत्ययो यथा।
पदेष्वेवमसंवेद्यं वाक्यार्थस्य निरूपणम्॥ —वा. प., २.६१।

४. वाक्यार्थः संनिविशते पदेषु सहवृत्तिषु।
यथा तथैव वर्णेषु पदार्थः सहवृत्तिषु॥ —वही, २.६२।

अकेले वर्ण या पद की अर्थाभिव्यक्ति की क्षमता को पहचान लें। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वर्ण अथवा पद निरर्थक हैं। वस्तुतः हमारी ग्रहणशक्ति इसके लिए अनुपयुक्त है। यह एक सर्वमान्य अनुभव है कि किसी सूक्ष्म वस्तु, जैसे धूलिकण, का हम प्रत्यक्ष नहीं कर पाते, किन्तु जब वही वस्तु अपनी सजातीय अन्य वस्तुओं के साथ संयुक्त हो जाती है अथवा किसी आश्रयविशेष के साथ संबद्ध हो जाती है, तो हम उसकी उपलब्धि कर सकते हैं[1]। ठीक इसी प्रकार, तथ्य होने पर भी हम यह समझने में असफल रहते हैं कि प्रत्येक पद या वर्ण एक अर्थ-इकाई का वाचक है। इसका कारण प्रतिपत्ता की स्वाभाविक क्षमता में ही खोजना चाहिए, जो वर्णों या पदों के अर्थ को तभी ग्रहण कर पाता है, जब वह ऐसे अनेक वर्णों को संयुक्त होकर पद के रूप में या अनेक ऐसे पदों को मिलाकर वाक्य के रूप में देखता है[2]। अन्त में पदवादी कहता है कि पदों की अर्थाभिधान की सामर्थ्य को अस्वीकार करने का अर्थ है अपने सामान्य अनुभव का अस्वीकार। किसी पद को ग्रहण करते ही हमारे मानस में एक प्रत्यय उत्पन्न होता है और दूसरे पदों द्वारा संप्रेषित अन्य प्रत्ययों के साथ मिलकर यह प्रत्यय वाक्य द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, जो इन पदों का समुदायमात्र है[3]।

पदों को वाचक मानने के पक्ष में पदवादी द्वारा दिये गये तर्क का वाक्यवादी ने युक्तिपूर्ण उत्तर दिया है। वाक्यवादी की मान्यतानुसार वाक्य और वाक्यार्थ दोनों अविभाज्य इकाइयाँ हैं। अनुभवमूलक बोध की व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण ये पद और पदार्थ के रूप में विभाग धारण करने-से प्रतीत होते हैं। वाक्य और वाक्यार्थ, दोनों ही मानो क्रमशः पद और पदार्थ के रूप में द्विधा विभक्त होने की क्षमता से युक्त हैं[4]। अतः यह सोचना उचित नहीं कि पद या पदार्थ का कोई वास्तविक महत्त्व है, वे तो केवल शुद्ध व्यावहारिक आवश्यकता को पूर्ति करने वाली अनेकानेक कल्पनाएँ हैं। सामान्य व्यक्ति अपनी सीमित ग्रहणशक्ति के माध्यम से इस सूक्ष्म रहस्य को पकड़ने में असफल रहता है और प्रायः ऐसी धारणा बना लेता है कि पद और पदार्थ का यह विभाग कोई स्थायी महत्त्व रखता है। वैयाकरण के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि वाक्य में पद और वाक्य नामक दो पृथक् सत्ताओं की खोज करना उतना ही हास्यास्पद है, जितना नृसिंह को नर और सिंह जैसी दो जातियों में संविभाजित करना, या सादृश्य के

१. सूक्ष्मं ग्राह्यं यथाऽन्येन संसृष्टं सह गृह्यते।
वर्णोऽप्यन्येन वर्णेन संबद्धो वाचकस्तथा॥ —वही, २.६३।

२. अर्थवन्त एव वर्णाः प्रतिपत्त्रा तु पाटवविरहादेकैकं न तथा गृह्यन्त इति नात्र तेषामपराधः। —पु. रा., पृ. ९३।

३. पदस्योच्चारणादर्थो यथा कश्चिन्निरूप्यते।
वर्णानामपि सान्निध्यात्तथा सोऽर्थः प्रतीयते॥ —वा. प., २.६४।

४. अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते।
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते॥ —वही, २.९०।

कारण गवय हे गौ के जातिगत चरित्र का अनुसंधान करना। पद और वाक्य जैसी दो स्वतन्त्र सत्ताओं का एक ही समय में होना उतना ही असंभव है, जितना दो भिन्न-भिन्न जाति-लक्षणों का एक व्यक्ति में रहना। नृसिंह का नर और सिंह से अथवा नराश्व (centaur) का नर और अश्व से सादृश्य है। किन्तु सादृश्य अवयवों में दो जाति-लक्षणों के युगपत् संपात को मानकर नहीं होता। नृसिंह से जो अर्थ अभिप्रेत है, उसमें न तो मनुष्य की धारणा है, न सिंह की। यह सर्वथा भिन्न कोटि है, कोई संघातात्मक विशिष्टता नहीं। इसी प्रकार जिनकी प्रतीति वाक्य के अवयवभूत पदों के रूप में होती है, वे मात्र रूपसाम्य से उत्पन्न कल्पनाएँ हैं। वास्तविकता से उनका कोई संबन्ध नहीं[1]।

पदवादी वाक्यवादी के दृष्टिकोण को न समझते हुए अपना तर्क जारी रखता है। हम सामान्य व्यवहार में प्रायः देखते हैं कि वाक्य में किसी पदविशेष का अर्थ ज्ञात न होने पर हम उसके बारे में जिज्ञासा करते हैं, ताकि वाक्य का अर्थ भलीभाँति स्पष्ट हो सके। उदाहरण के लिए 'वन से एक कोयल लाओ' इस वाक्य में यदि 'कोयल' पद का अर्थ हमें ज्ञात न हो, तो इसे जाने विना हम वाक्यार्थ को नहीं समझ सकते। ऐसी स्थिति में, स्वभावतः ही प्रत्येक पद को एक अर्थविशेष का वाचक मानना होगा[2]। किन्तु वाक्यवादी इस तर्क का खण्डन यह कहकर करता है कि पूर्वोक्त वाक्य स्वतः एक इकाई है और इसलिए यह अवयवों में विभाज्य नहीं है। अतः इस अखण्ड इकाई का अर्थ भी अखण्ड ही मानना होगा। यदि यह ठीक है तो यह नहीं माना जा सकता कि वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति अंशों में होती है। अतः यह कहना बिल्कुल बेमानी है कि वाक्य का अर्थ पूर्णतः और स्पष्टतः तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक इसके अवयवभूत सभी पद अपने-अपने अर्थ को व्यक्त न कर दें। वाक्यवादी यह मानता है कि 'वन से एक कोयल लाओ' और 'वन से एक लता लाओ' इन दोनों वाक्यों में परस्पर कुछ भी समान नहीं है। यह कहना गलत है कि दोनों में मात्र एक-एक पद का ही भेद है। दोनों वाक्य एक-दूसरे से सम्पूर्ण रूप में भिन्न हैं और उनके अलग-अलग व्यक्तित्व हैं, इसलिए यह ध्यान में रखना होगा कि वाक्यार्थ का बोध या तो सम्पूर्ण होता है, अन्यथा बिल्कुल होता ही नहीं। 'कोयल' पद के अर्थ की जिज्ञासा यही सूचित करती है कि समग्र वाक्यार्थ अनबूझा रह गया है, न कि इसका केवल एक अंश। प्रस्तुत दोनों वाक्यों, अर्थात् 'वन से एक कोयल लाओ' और 'वन से एक लता लाओ' के घटक वही नहीं हैं, वे केवल सदृश हैं।

---

१. गवये नरसिंहे वाप्येकज्ञानावृते यथा।
भागं जात्यन्तरस्यैव सदृशं प्रतिपद्यते ॥ —वा प., २.९२।

२ (क) विज्ञातार्थं पदं यच्च तदर्थे प्रतिपादिते।
पिकादि यदविज्ञातं तत्किमित्यनुयुज्यते ॥ —वही, २.७४।

(ख) पु. रा., पृ. ९७ भी देखें।

सादृश्य को ही यहाँ भ्रमवश अभिन्नता समझ लिया गया है[1]।

पदवादी अभी भी हार नहीं मानता, वह अपने प्रतिपक्षी के मत में कुछ अन्य कठिनाइयों का निर्देश करता है। धर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गई है कि जिस द्रव्य के द्वारा याग सम्पन्न करने का विधान किया गया है, यदि वह उपलब्ध न हो तो उसके स्थान पर किसी अन्य प्रतिनिधि-द्रव्य से यज्ञ सम्पन्न किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, 'व्रीहिभिर्यजेत्' इस वाक्य में व्रीहि द्वारा यज्ञ करने का विधान है। किन्तु व्रीहि के अभाव में नीवार का प्रतिनिधि-द्रव्य के रूप में विधान किया गया है। अर्थात्, यदि व्रीहि उपलब्ध न हो सके, तो नीवार से भी यज्ञ सम्पन्न किया जा सकता है। अब पदवादी का तर्क यह है कि उसका प्रतिपक्षी तो वाक्य को अखण्ड इकाई मानता है और व्रीहि द्वारा याग के अनुष्ठान (व्रीहिकरणिका यजतिक्रिया) को अर्थ की अविभाज्य इकाई के रूप में देखता है। यदि वह व्रीहि के अभाव में उसी यज्ञ को नीवार द्वारा सम्पन्न करे, तो इसका औचित्य सिद्ध करना उसके लिए अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उसके लिए तो व्रीहि द्वारा सम्पन्न याग नीवार द्वारा सम्पन्न किए हुए याग से सर्वथा भिन्न है और इस प्रकार दोनों का फल भी भिन्न होगा। प्रतिनिधि का विधान द्रव्य के प्रसंग में ही नियत है, क्रिया के प्रसंग में प्रतिनिधि का अतिदेश नहीं किया गया है; इसलिए एक प्रकार के द्रव्य से अनुष्ठित याग को दूसरे प्रकार के द्रव्य से अनुष्ठित याग के समकक्ष नहीं माना जा सकता। संक्षेप में पदवादी का यह मत है कि व्यष्टि पदार्थों को मान्यता देने पर ही प्रतिनिधि-द्रव्य के विनियोग की बात बुद्धिगम्य हो सकती है[2]। पदवादी और भी अनेक उदाहरण अथक-भाव से देता है, जहाँ वाक्य से पृथक् सत्ताओं के रूप में पदों के स्तर को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है[3]।

भर्तृहरि ने पदवादी द्वारा उठाए गए सभी प्रश्नों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया है। इन सभी कठिनाइयों को दूर करने का उनका तरीका संक्षेप में इस प्रकार है—यह एक तथ्य है कि व्याकरणशास्त्र पदों का विभाजन करके उसका विवेचन

---

१. (क) तथा पिकादियोगेन वाक्येऽत्यन्तविलक्षणे।
सदृशस्येव संज्ञानमसतोऽर्थस्य मन्यते ॥—वा. प., २.९४।

(ख) तथैव भागे सादृश्यं भागे भेदोऽवसीयते।
भागाभावेऽपि वाक्यानामत्यन्तभिन्नधर्मणाम् ॥ —वही, २. ९६।

२. यजेतेति यदा द्रव्यं प्राप्तं सामर्थ्यलक्षणम्।
व्रीहिश्रुत्या निवर्तेत न स्यात्प्रतिनिधिस्तदा ॥
विशिष्टैव क्रिया येन वाक्यार्थः परिकल्प्यते।
द्रव्याभावे प्रतिनिधौ तस्य तत्स्यात्क्रियान्तरम् ॥ —वा. प., २.६७,७३।

३. इति वाक्येषु ये धर्माः पदार्थोपनिबन्धनाः।
सर्वे ते न प्रकल्पेरन् पदं चेत्स्यादवाचकम् ॥ —वा. प., २. ८९।

करता है और यदि इस विभाजन का स्वतः कोई महत्त्व है ही नहीं, तो यह समझ पाना कठिन है कि वैयाकरण इसके निरूपण में आखिर इतना श्रम क्यों करता है। किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि पदों का विवेचन किसी लक्ष्य की प्राप्ति में साधनमात्र है। जो नए अध्येता वाक्य की अखण्डता को ग्रहण करने के लिए, अपेक्षित क्षमता से सम्पन्न नहीं हैं, उन्हें प्रारम्भ में पदों के विभाजन के माध्यम से अध्ययन कराया जाता है। इस प्रकार, पदों का अध्ययन अल्पप्रज्ञ व्यक्ति को अन्ततः वाक्य के स्वरूप को समझने में सहायक होता है। यही कारण है कि वैयाकरण वाक्य के अवयवों के रूप में पदों को व्यावहारिक महत्त्व देता है; किन्तु वास्तविक सत्ता तो केवल वाक्य की ही है[१]। जहाँ तक शास्त्रों में एक ही फल की प्राप्ति के लिए प्रतिनिधि-द्रव्य के विधान का प्रश्न है, इसका व्याकरणिक समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रुति कहती है कि द्रव्यभेद के कारण संख्यात्मक और गुणात्मक दृष्टि से अलग होने पर भी, दो यज्ञों की सामर्थ्य वही और वैसी ही होगी। व्रीहि और नीवार जैसे पदों का विशेष रूप से निर्देश पदों के एक तात्कालिक अर्थ का ही सूचक है और इस तथ्य से वैयाकरण भी सहमत हैं; किन्तु पदों का यह व्यावहारिक अर्थ उन्हें कोई चरम अर्थ प्रदान नहीं करता। इसलिए यह दलील प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रासंगिक नहीं है।

---

१. यथैवानर्थकैर्वर्णैर्विशिष्टार्थोऽभिधीयते ।
पदैरनर्थकैरेवं विशिष्टार्थोऽभिधीयते ॥
यदन्तराले ज्ञानं तु पदार्थेषूपजायते ।
प्रतिपत्तेरुपायोऽसौ प्रक्रमानवधारणात् ॥ —वा. प., २.४१६-१७।

षष्ठोन्मेष

स्फोटरूप शब्द

पिछले अध्यायों में हमने चरम-सत्ता के स्वरूप से सम्बद्ध विभिन्न समस्याओं और प्रश्नों का विस्तृत विवेचन किया और साथ ही उन व्यावहारिक भावों का भी, जिनमें चरम-सत्ताविधायक तत्त्व के रूप में सन्निविष्ट हैं। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार शब्द एवं चैतन्य एक-दूसरे से अविच्छेद्य हैं और वैयाकरण-दार्शनिक इस तथ्य को आधार-सामग्री बनाकर इससे दोनों की अभिन्नता का निगमन करता है। हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि वैयाकरण अद्वैत का, और वह भी आध्यात्मिक अद्वैत का समर्थक है। भर्तृहरि द्वारा निर्मित सम्पूर्ण अधिरचना इसी बुनियादी अभ्युपगम पर खड़ी है कि शब्द मूलतः एक अखण्ड इकाई है और वाच्य एवं वाचक के रूप में सम्बद्ध वस्तुगत प्रपञ्च तथा भाषारूपों की अनेकता की केवल अस्थायी और व्यावहारिक वैधता है। शायद ऐसा लगे कि "शब्द और चैतन्य एक हैं", यह निष्कर्ष धार्मिक रहस्यवाद की आवश्यकता से प्रेरित है और इसे तर्कसंगत ठहराने के लिए दी गई दलीलें अनुभवनिरपेक्ष रूप से गढ़ ली गई हैं; भाषा-रूपों और भावों का ऐसा मोड़ दिया गया है कि वे एक विशेष संरचना के ढाँचे में ठीक-ठीक बैठ जाएँ, जिससे स्वतन्त्र एवं अनुभवनिरपेक्ष रूप से अवधारित एक रहस्यवादी सिद्धान्त को अवलम्ब दिया जा सके। इस प्रतीति की सम्भाव्यता को सभी पहलुवों से परख लेना अनिवार्य है, जिससे हम जान सकें कि वैयाकरण का तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण तार्किक रूप से प्रामाणिक है या नहीं? ऐसा हमारे दैनन्दिन अनुभव की पहुँच में आने वाले शब्द के स्वरूप की मीमांसा के द्वारा सम्भव हो सकता है। अतः इस अध्याय में हम इसी कार्य पर ध्यान देंगे और इसमें हमारी पद्धति पूर्णतया तर्काश्रित होगी।

शब्द क्या है? यह प्रश्न उठाकर भर्तृहरि ने इसका उत्तर भी दिया है। प्रश्न सार्थक शब्दों के बारे में है, निरर्थक ध्वनियों के बारे में नहीं। किन्तु हमारे अनुभव में आने वाले प्रत्येक अर्थवान् शब्द में दो तत्त्व हैं—ध्वनि-तत्त्व, जो परिवर्तनीय है और स्फोटतत्त्व,[1] जो अपनी निजी प्रत्यायकता और अर्थ से युक्त है[2]। ध्वनि के

१. मूल में स्फोट के लिए logos शब्द का प्रयोग किया गया है। लेखक ने स्पष्ट किया है कि यह शब्द स्फोट के समानार्थक के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है और योरोप के नव-प्लेटोनिक एवं मध्यकालीन दार्शनिक संप्रदायों के logos से इसकी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। —अनु०।

२. द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥ —वा. प., १.४४।

वस्तुनिष्ठ सन्दर्भ का विचार करने पर हम पाते हैं कि इसकी अर्थवत्ता प्रातिनिधिक है। ध्वनि केवल स्फोट अर्थात् वास्तविक शब्द को प्रकाशित करती है और इसकी उत्पत्ति को स्फोट व्यावहारिक स्तर पर अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के लिए प्रेरित करता है। स्फोट मानस में सदैव स्थित रहता है। इस रूप में दूसरे व्यक्ति का मानस इसे तब तक ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक इसे उपयुक्त ध्वनियों द्वारा संप्रेषित न किया जाए। इन ध्वनियों का मुख्य कार्य शब्द को अभिव्यक्त करना है और एक बार ऐसा होते ही शब्द स्वयमेव अर्थ को व्यक्त कर देता है। सोचने-समझने के अपने स्थूल तरीकों के कारण हम शब्द और ध्वनि में भेद नहीं करते और इसलिए ध्वनि को किसी वस्तुनिष्ठ तथ्य की प्रत्यायक मान लेते हैं। भर्तृहरि के अनुसार यह पूर्णतया एक अन्धविश्वास है, चाहे यह कितना ही व्यापक हो। उन्होंने दैनन्दिन अनुभव से अनेक उदाहरण दिये हैं कि किस प्रकार शब्द-ध्वनि का कारण बनता है और ध्वनि शब्द को प्रकाशित करती है। किन्तु इन उदाहरणों से हम अधिक से अधिक इतना ही सिद्ध कर सकते हैं कि उनका सिद्धान्त सर्वथा अविश्वसनीय नहीं है। प्रमाणों के रूप में देखने पर उनका तार्किक मूल्य तब तक असंदिग्ध ही मानना होगा, जब तक यह सिद्ध नहीं कर दिया जाता कि ध्वनियों से विविक्त रूप में शब्द का अस्तित्व मानना एक तार्किक अनिवार्यता है। सौभाग्य से स्फोट-सिद्धान्त का यह तार्किक आधार मण्डन मिश्र द्वारा **स्फोटसिद्धि** में अकाट्य रूप में स्थापित किया गया है। मण्डन मिश्र की प्रस्तुति की सुखद विशेषताएँ हैं—प्रथम, इसकी शुद्ध तार्किकपद्धति, और दूसरी, कुमारिल द्वारा उपस्थापित वैकल्पिक प्राक्कल्पना में निहित आशयों का यथार्थ विश्लेषण। कुमारिल स्फोट अर्थात् निरवयव अविश्लेष्य वाक्य या शब्द के सिद्धान्त के दुर्धर्षतम आलोचक थे। परवर्ती आचार्यों ने केवल कुमारिल के तर्कों का ही निरूपण किया है, स्वयं अपनी ओर से कोई खास बात नहीं जोड़ी है। अतः प्रारम्भ में उठाई गई समस्या का अध्ययन हम मण्डन मिश्र के विश्लेषण और समालोचना के प्रकाश में करेंगे।

महाभाष्य के प्रारम्भ में पतञ्जलि प्रश्न करते हैं—शब्द क्या है? सतही तौर पर देखने वाले व्यक्ति को यह प्रश्न अनावश्यक लगता है। पतञ्जलि की परिभाषा के अनुसार शब्द वह है जो किसी अर्थ से युक्त है। किन्तु कुमारिल इस स्थापना के विरुद्ध गम्भीर आक्षेप प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम तो यह परिभाषा अतिव्याप्त है; क्योंकि धुएँ जैसा कोई तार्किक हेतु अग्नि का प्रत्यायक होने पर भी शब्द नहीं कहला सकता। दूसरे, यह परिभाषा अपर्याप्त और अव्याप्त है। शब्द वह है जो श्रोत्रग्राह्य है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा केवल वर्णसमूह का ग्रहण किया जाता है और इस प्रकार ग्राह्य होने के कारण प्रत्येक वर्ण को शब्द मानना चाहिए, भले ही वह किसी बाह्य तथ्य का प्रत्यय न कराता हो। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा के अनुसार 'गाय' जैसा अर्थवान् सम्पूर्ण शब्द भी अर्थ के ज्ञात होने से पूर्व तक शब्द (अर्थात् अर्थ का प्रत्यायक) नहीं होगा और पुनः अर्थ का बोध हो जाने के उपरान्त शब्द बन जाएगा। इसलिए शब्द की यह अवधारणा त्याज्य है। शब्दार्थसम्बन्ध का

निश्चय लोकव्यवहार से होता है। लोक में शब्द के अन्तर्गत वे ही तत्त्व जाने जाते हैं, जो श्रोत्रग्राह्य हैं। अतः किसी अर्थवान् अभिव्यक्ति के अंगों के रूप में वर्ण भी इसी प्रकार शब्द कहे जाएँगे, जिस प्रकार उनकी अंगीभूत अर्थवान् अभिव्यक्ति। सीधे तौर पर जो कुछ सुना जाता है, उसके अतिरिक्त कोई सत्ता है ही नहीं; और यदि हो भी, तो वह शब्द नहीं कही जाएगी[1]।

मण्डन मिश्र के विचार से कुमारिल की आपत्ति कोरा वाग्जाल है। पतञ्जलि द्वारा उठाए गए प्रश्न का उद्देश्य यह है कि शब्दतत्त्व को एक संश्लिष्ट परिवेश से अलग करके पहचाना जा सके। 'गौः' शब्द के उच्चारण करने पर एक संश्लिष्ट प्रत्यय उत्पन्न होता है, जिसमें शब्द का कर्णगोचर रूप अपने अर्थ के साथ घुल-मिल जाता है। यह अर्थ वस्तुनिष्ठ द्रव्य अर्थात् पशु, उसके गुण, उसकी क्रिया एवं जाति हो सकता है। ये सभी तत्त्व तो शब्द नहीं हैं। शब्द इनमें केवल वही है, जो किसी वस्तु-निष्ठ तथ्य का प्रत्यायक है और उसके लिए प्रयुक्त होता है। अर्थप्रत्यायन की यह क्रिया ही शब्द को उसके सम्बद्ध तत्त्वों से अलग करती है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि शब्द यदि किसी अज्ञ व्यक्ति को अर्थबोध न करा सके, तो वह शब्द नहीं रहेगा। अर्थज्ञान हो या न हो, शब्द में तो अर्थावबोध की सामर्थ्य है ही। और क्योंकि अवयवभूत वर्णों में यह सामर्थ्य नहीं है, अतः शब्द नहीं माना जाता; कम से कम वैयाकरण की दृष्टि से तो कदापि नहीं[2]। अतः कुमारिल के आक्षेप में गम्भीर विचार का अभाव है।

प्रतिपक्षी का कहना है कि अर्थवान् शब्द वर्णों से भिन्न नहीं है और इन वर्णों का एकवचन द्वारा एक शब्द के रूप में निर्देश उपलक्षणमात्र है; क्योंकि हमारे अनुभव के अनुसार वर्णों के पीछे कोई एकात्मक सत्ता नहीं है। किन्तु यह कथन हमारे स्पष्ट अनुभव के और साथ ही, आप्त ग्रन्थों के अधिकृत प्रयोग के सर्वथा प्रतिकूल है, यथा—'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' (हम शब्द से अर्थ का बोध करते हैं), 'भावमाख्यातेनाचष्टे' (आख्यात क्रिया को व्यक्त करता है) इत्यादि। आम आदमी किसी नाम अथवा क्रिया को शब्द मानता है और ऐसा करते हुए वह वर्णों की अनेकता की अपेक्षा नहीं करता, जो कि वस्तुतः काल्पनिक चिन्तन की उत्पत्ति हैं। यह परिभाषा, कि "शब्द वह है जो श्रोत्रग्राह्य है," अनेक गम्भीर दोषों से ग्रस्त है। श्रवणेन्द्रिय तो उदात्तादि और द्रुत-विलम्बित आदि जैसे स्वर और वृत्ति के गुणात्मक भेदों, और शब्दत्व आदि

---

१. अतः श्रवणग्रहणतैव शब्दलक्षणं न्याय्यम्। वर्णा एव चेदं शब्दलक्षणमनुपतन्तीत्यभिधेयधी-हेतुभावमनुपयन्तोऽपि लोकप्रसिद्धेस्त एव शब्दाः; तदतिरिच्यमानशरीरं त्वर्थवस्तु समुपेतसत्त्वाभिधातृभावमपि न शब्द इति व्यपदेशमनुपतितुमर्हति, लोकप्रसिद्धिविरहात्। —स्फो. सि., पृ. १३।

२. उपलक्षणत्वाच्चार्थप्रत्ययस्य संविद्वैकल्यादनुपजनयन्नप्यर्थप्रत्ययं न शब्दतां जहाति, यथा विमुक्तकुण्डलः कठताम्। —स्फो. सि., पृ. १८-१९।

जातियों को भी ग्रहण करती है। श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से ग्रहण किए जाने पर भी ये धर्म शब्द नहीं हैं। इसके अतिरिक्त शब्द का ज्ञान न केवल श्रवणेन्द्रिय द्वारा; अपितु मन द्वारा भी होता है। अतः कुमारिल की परिभाषा सर्वथा भ्रामक है। सीधी-सादी सहज बुद्धि का यह निष्कर्ष, कि गौ एक संपूर्ण अर्थाभिधायक शब्द है, केवल अविवेचनात्मक निष्कर्ष कहकर टालने योग्य नहीं है। अर्थवान् शब्द की एकात्मकता एक अनुभूत तथ्य है और कितनी ही वितण्डा करके भी इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रतिपक्षी का दावा है कि यह एकात्मकता वर्णों के आदर्श विन्यास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किन्तु इस दावे की तर्क अथवा मनोविज्ञान से पुष्टि नहीं होती। वर्ण अलग-अलग अपने आप में अर्थवान् नहीं हैं। वर्णों के समूह की स्थिति भी कोई बेहतर नहीं हो सकती। ऐसा कोई समूह सम्भव ही नहीं है, क्योंकि उच्चरित वर्णों को एक साथ नहीं रखा जा सकता। उत्तरवर्ती वर्ण के सुनाई देने तक पूर्ववर्ती वर्ण नहीं रहता। अतः इनका समुदाय नहीं हो सकता, क्योंकि समुदाय तो सहवर्ती सत्ताओं के बीच ही सम्भव है। अनेक व्यक्तियों द्वारा एक ही समय में पृथक्-पृथक् वर्णों का उच्चारण किये जाने पर सहवर्तिता तो होती है, परन्तु ऐसे वर्णों से किसी भी प्रकार का अर्थबोध नहीं होता। और फिर, क्रमविपर्यय की स्थिति में वे ही वर्ण अर्थ को व्यक्त नहीं कर पाते। अन्वय-व्यतिरेक के युग्मनियम के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि न तो वर्ण अपने आप में अर्थवान् हैं और न ही समूहरूप में, अपितु उनसे अतिरिक्त कुछ है, जो वास्तव में अर्थवान् है[1]। किन्तु कुमारिल यह प्रतितर्क करते हैं कि ये आपत्तियाँ सर्वथा निरर्थक हैं; क्योंकि वे अव्यवस्थित रूप से उच्चरित वर्णों को सार्थक नही मानते, वे तभी अर्थवान् हैं, जब एक विशेष क्रम में उन्हें व्यवस्थित एवं संयोजित किया जाए। यह संयोजन वर्णों को अर्थप्रत्यायन की एक विशेष सामर्थ्य प्रदान करता है। अतः वर्णों से अलग किसी अलौकिक सत्ता की प्रकल्पना निराधार है[2]। किन्तु यह प्रतिवाद वास्तविक समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डालता। विना संघात के वर्णों का संयोजन संभव नहीं और वर्णों का संघात भौतिक रूप से असंभव है, क्योंकि उत्तरवर्ती वर्णों के उच्चारण के समय पूर्ववर्ती वर्ण की सत्ता नहीं रहती। इस तथ्य से भी, कि पूर्ववर्ती वर्ण का संज्ञान उत्तरवर्त्ती वर्ण के संज्ञान की अपेक्षा पहले घटित होता है, कोई फल नहीं निकलता, क्योंकि दोनों संज्ञान समकालिक नहीं हैं। दो संज्ञान—एक, जो पूर्वगत है और अपनी सत्ता खो चुका है तथा दूसरा, जो अभी अनुत्पन्न है—समान धरातल पर हैं। यदि कोई अतीत वर्ण अथवा उसका

---

१. ननु च वर्णा एवाभिधेयाधिगमनिमित्तं स्वाभिधेयावबोधावधिलब्धपरिच्छेदाः पदपरिकल्पनाभाजः। नैतत् सारम्, प्रत्येकमप्रत्यायकत्वात्, साहित्याभावात्, नियतक्रमवर्तिनामयौगपद्येन संभूयकारित्वानुपपत्तेः, नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यश्च प्रत्ययादर्शनात् क्रमविपर्यये यौगपद्ये च।
—स्फो. सि., पृ. २७-२८।

२. यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ —श्लो. वा., पृ. ५२७।

संज्ञान अपने परवर्तियों का सहायक हो पाता, तो अनुच्चरित वर्ण और अनुत्पन्न संज्ञान भी सहायक हो सकते थे। इसलिए संयोजन की परिकल्पना मात्र एक वञ्चना है[1]।

कुमारिल स्वयं इस कठिनाई से परिचित थे और इसीलिए उन्होंने एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत की है। हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न क्षणों में सम्पन्न होने वाली भिन्न-भिन्न क्रियाएँ भी, जिनमें समय या स्थान की दृष्टि से सहवर्तिता सम्भव नहीं, गुणात्मक और संख्यात्मक दृष्टि से भिन्न परिणामों को उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिए, यज्ञ में विभिन्न कृत्यों का अनुष्ठान, किसी पाठ का पुनः पुनः उच्चारण तथा गमन की विभिन्न क्रियाएँ, ये सभी किसी न किसी अभीष्ट फल को उत्पन्न करते हैं, जिसे क्रम-विपर्यय या अनेक व्यक्तियों के युगपत् व्यापारद्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। किसी दूरस्थ लक्ष्य तक उत्तरोत्तर सम्पन्न होने वाली क्रियाओं द्वारा पहुँचा जा सकता है। अनेक क्रमिक उच्चारणों द्वारा पाठ को कंठस्थ किया जाता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि क्रियाएँ काल या स्थान की दृष्टि से सह-घटित या सह-विद्यमान हों। यही बात वर्णों पर भी लागू होती है[2]।

यह प्रतिवाद देखने में युक्तिसंगत लगता है; किन्तु दोनों स्थितियाँ तुल्य नहीं हैं। विभिन्न यागविधियों के क्रमिक सम्पादन द्वारा अभीष्ट फल की उत्पत्ति इसलिए सम्भव हो पाती है कि प्रत्येक पूर्ववर्ती क्रिया अपने पीछे एक स्थायी फल (अपूर्व) को छोड़ती है। इन 'अपूर्वों' के माध्यम से ही विभिन्न वैदिक कृत्य परस्पर सहयोगी होकर फल को उत्पन्न करते हैं। पाठ की बारम्बार आवृत्ति के प्रसंग में, प्रत्येक पूर्व-पूर्व आवृत्ति अपने पीछे एक स्थायी स्मृति-संस्कार छोड़ती है और पाठ का कंठस्थ होना इन्हीं संस्कारों का संचित परिणाम है, जो स्थायी होकर एक साथ विद्यमान रहते हैं। गन्तव्य की ओर प्रस्थान के दौरान गमनक्रियाओं के उदाहरण का वर्णों के उच्चारण के साथ कोई साम्य नहीं है। गमन का प्रत्येक व्यापार गन्तव्य की दिशा में एक कदम आगे पहुँचाता है और गन्तव्य की प्राप्ति गमन-व्यापारों की एक शृङ्खला का परिणाम है। स्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि गमन की पृथक्-पृथक् क्रियाओं ने अन्तराल के पृथक्-पृथक् अंशों को पार करके पृथक्-पृथक् परिणामों को उत्पन्न किया है और इसलिए यहाँ स्थिति संयुक्त-कारणता वाली नहीं है; किन्तु वर्णों के बीच ऐसा कोई स्थायी सूत्र नहीं है, अतः ये सभी उदाहरण प्रस्तुत समस्या के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार प्रासंगिक नहीं हैं[3]।

---

१. नैतत् सारम्; न हि वृत्ता वर्णविशेषोपलब्धिर्विसर्जनीयं भेत्तुमर्हति, असत्त्वात्; न ह्यजातानन्वयप्रध्वस्तयोरतिशयः कश्चित्।—स्फो. सि., पृ. ३२।

२. ननु च यथा दर्शपूर्णमासादयः क्रमवन्तोऽपि संभूयकारिणः, अभ्यासाश्च स्वाध्यायग्रहणादिषु, गमनक्षणाश्चाभिमतदेशप्राप्तौ; यथा च तत्र कैवल्ये यौगपद्ये च क्रमविपर्यये कर्तृभेदे च न फलोत्पादः, केवलादिभ्यश्च विशेषात् फलोत्पादस्तथा वर्णेष्वपि किं नेष्यते?—वही, पृ. ३६।

३. एकार्थकारिणो येऽपि दृश्यन्ते क्रमवर्तिनः।
इष्टं विपश्चितां तत्र कार्यं स्थाय्युपकारकम्॥ —स्फो. सि., ५।

किन्तु कुमारिल का तर्क है कि क्रम में गृहीत वर्ण भी अपने पीछे स्थायी संस्कार छोड़ते हैं, जो अन्तिम वर्ण के साथ मिलकर अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ हैं। इसलिए सहवर्तिता के अभाव का दोष ठीक नहीं है। इस तर्क का परीक्षण करके हम देखेंगे कि यह कहाँ तक एकात्मक शब्दसत्ता के अभ्युपगम का खण्डन कर पाता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वर्णबोध के विभिन्न व्यापार स्मृति-संस्कारों को उत्पन्न नहीं करते, किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि अर्थ का प्रतिपादन किस प्रकार होता है। स्मृति-संस्कार प्रकृत्या उसी वस्तु का स्मरण करा सकता है, जो स्वयं इसे उत्पन्न करने वाले संज्ञान का विषय हो। गाय का प्रत्यक्ष स्मृति-संस्कार के माध्यम से गाय के स्मरण को ही उत्पन्न करता है। ऐसा कभी नहीं होता कि ज्ञान एक वस्तु का हो और उससे उद्भूत संस्कार के माध्यम से स्मृति दूसरी वस्तु की हो। सो, वर्णों के स्मृति-संस्कार वर्णों की ही स्मृति उत्पन्न कर सकते हैं, अर्थ की नहीं[1]।

प्रतिपक्षी इस तर्क के औचित्य से इनकार नहीं करता। वह स्वीकार करता है कि स्मृति-संस्कार सामान्यतः किसी भिन्न वस्तु के संज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। किन्तु कुछ अन्य निमित्तों द्वारा पुष्ट किये जाने पर यह एक भिन्न अन्तर्वस्तु वाले संज्ञान को जन्म दे सकता है—स्थिति इस प्रकार है। कोई भी एक वर्ण अर्थ का प्रत्यायक नहीं हो सकता और न ही वे इस कार्य के लिए संमिलित हो सकते हैं; किन्तु अर्थबोध तो होता ही है और इसका कारण भी होना चाहिए। स्फोटवादी इस तथ्य की व्याख्या के लिए एक स्थायी और अनुभवातीत सत्ता को मानता है। इसमें दुहरी परिकल्पना अपेक्षित है—(क) अखण्ड शब्द की और (ख) अर्थप्रत्यायन में उसके सामर्थ्य की। विभिन्न वर्णों से उद्भूत स्मृति-संस्कारों को इस कार्य में समर्थ मानने वाली मीमांसक की मान्यता विवादास्पद तत्त्व की परिकल्पना से मुक्त है। मीमांसक सिर्फ इतनी परिकल्पना करता है कि यह स्मृति-संस्कार पूर्वानुभूत तथ्य के स्मरण से भिन्न किसी नवीन संज्ञान को भी उत्पन्त कर सकता है। मीमांसक-मत की उत्कृष्टता इस तथ्य में है कि इसमें किसी अज्ञात सत्ता एवं उसकी अज्ञात सामर्थ्य की परिकल्पना नहीं है। उसके स्थान पर यह एक ज्ञात तथ्य, अर्थात् संस्कार, की ही एक असाधारण सामर्थ्य को मान लेता है[2]।

किन्तु यह तर्क अतिसरलीकरण प्रतीत होता है। स्मृति-संस्कार तो स्वयं प्रमाता का गुण या सामर्थ्य है। मीमांसक यह मान रहा है कि यह सामर्थ्य एक अन्य

---

१. (क) संस्काराः खलु यद्वस्तुरूपप्रख्याप्रभाविताः।
विज्ञानहेतवस्तत्र ततोऽर्थे धीर्न कल्पते ॥ —स्फो सि., ६।
(ख) इसी पर गोपालिका भी द्रष्टव्य है।

२. तत्र शब्दः, अनेककल्पनादोषात्; तस्य खल्वात्मा, अर्थाधिगमनिमित्तभावश्चेति द्वयमुपकल्पयितव्यम्। संस्कारं तु वासनाद्वितीयनामानं पटुतरसंवेदनसमनुभूतवस्तुगोचरं सर्व एव संगिरन्ते, स्मरणफलप्रसवोऽक्षीयमानात्मानं प्रवादिनः········। —स्फो. सि. पृ. ४७।

अतिरिक्त सामर्थ्य को अर्जित करती है। हम अपने को यह नहीं समझा पाते कि यह अतिरिक्त सामर्थ्य कौन सी विशेष परिस्थितियों से उद्‌भूत होती है ? वर्णों के संयोजन की बात एक निराधार प्राक्कल्पना सिद्ध हो चुकी है। अतः संयोजन को इस अतिरिक्त सामर्थ्य का कारण नहीं माना जा सकता। और फिर, सामर्थ्य में एक अन्य सामर्थ्य का आरोप एक गुण में दूसरे गुण के आरोप जैसा ही है। यदि ऐसी परिकल्पनाओं में कोई बाधा न हो, तो प्रत्येक सामर्थ्य में अन्य सामर्थ्यों की शक्यता होने के कारण सामर्थ्यों की संख्या असीमित रूप से बढ़ जाएगी[1]। यह कल्पना परस्पर विरुद्ध तो है ही, स्थिति की आवश्यकताओं द्वारा भी प्रमाणित नहीं होती। क्रम बदले या कुछ भी रहे, वर्ण और उनसे उद्‌भूत संस्कार तो वही हैं। यह बात किसी भी व्यक्ति की समझ से परे है कि अभिन्न अथवा सदृश कारणों द्वारा उत्पन्न कार्य भिन्न-भिन्न सामर्थ्य कैसे प्राप्त कर सकता है[2] ? प्रत्येक वर्ण एक संस्कार-विशेष का कारण है। जब वर्णों की सत्ता वही है, तो उनके संस्कार अतिरिक्त सामर्थ्य से युक्त कैसे हो सकते हैं ? हम देख चुके हैं कि संयोजन भी वर्णों को कोई अतिरिक्त क्षमता प्रदान नहीं करता। अतः उनके कार्य (संस्कार) भी किसी अतिरिक्त क्षमता से सम्पन्न नहीं माने जा सकते।

इन तार्किक कठिनाइयों को पहचान कर प्रतिपक्षी को अपने सिद्धान्त में संशोधन करने के लिए विवश होना पड़ा है। अब उसका आग्रह यह है कि यद्यपि संस्कार अर्थ के संज्ञान को जन्म नहीं दे सकते, फिर भी अपने यौगपद्य के बल पर वे एक संज्ञान उत्पन्न कर सकते हैं, जिसमें सभी वर्ण अन्तर्वस्तु के रूप में विद्यमान हैं[3]। अर्थ को सीधे तौर पर उत्पन्न करने वाला यही संज्ञान है, या फिर वे वर्ण, जो इसकी अन्तर्वस्तु के रूप में विद्यमान हैं। अतः अखण्ड शब्द की परिकल्पना सर्वथा अनावश्यक है। अनुभूत एकत्व का कारण समष्टिगत स्मरण है। यह माना जा सकता है कि शब्द का यह संज्ञान पूर्व-पूर्व वर्णों के स्मरण और अन्तिम वर्ण की प्रत्यक्ष उपलब्धि की संसृष्टि है। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि सम्पूर्ण संज्ञान सभी अलग-अलग वर्णों को अन्तर्वस्तु के रूप में लिए हुए एकरूप स्मरण-व्यापार है। सम्पूर्ण संज्ञान एक है, जिसमें सभी वर्ण युगपत् निहित रहते हैं[4]। यह आपत्ति बेमानी है कि क्रमिक प्रत्ययों

---

१. न च सामर्थ्यानां सामर्थ्यान्तरयोगः, अनवस्थापातात्। —वही, पृ. ५४।

२. न खलु क्रमभेदेऽपि प्रत्येकमक्षरोपलम्भप्रभाविताः संस्काराः परस्परमतिशेरते। —वही, पृ. ५६।

३. अपि तु ताभ्यः स्थायित्वेन प्रतिलब्धयौगपद्याभ्यः प्रत्यवमृष्टसकलवर्णरूपात्मा एकः प्रत्यय उदेति। —स्फो. सि., पृ. ५८-५९।

४. स चैष प्रत्ययः स्मरणप्रत्यक्षरूपाभ्यामुभयात्मा सदसद्वर्णरूपावभास्यन्त्यवर्णगोचर इष्यते कैश्चित्। अन्यैस्तु सकलवर्णोपलब्धिनिबन्धननिखिलभावनाबीजजन्मा युगपदखिलवर्णरूप-परामर्शी चरमवर्णप्रत्यक्षोपलब्धिसमनन्तरः स्मरणैकरूपः सञ्ज्ञोर्यते। —स्फो. सि., पृ. ६०-६१।

से युगपत् स्मरण उत्पन्न नहीं हो सकता। बहुवचनात्मक संज्ञाओं जैसे 'बीस', या 'सौ' का संज्ञान क्रमशः गृहीत अनेक तथ्यों का समष्टिगत स्मरण ही तो है। यह संज्ञान अथवा इसमें उपलब्ध समष्टिरूप में विद्यमान वर्ण ही अर्थज्ञान को उत्पन्न करते हैं। अतः 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' ('हम शब्द से अर्थ की प्रतीति करते हैं') इत्यादि वाक्यों में अर्थ का संबन्ध शब्द से जोड़ना असंगत नहीं है।

यह प्रतिवाद भी शब्द के अनुभूत एकत्व की व्याख्या नहीं कर पाता। यह तो माना जा सकता है कि क्रमिक संज्ञान एकात्मक समष्टिगत स्मृति को जन्म दे सकते हैं; किन्तु यह समष्टि तो वर्णों का उच्चारण परिर्वातत क्रम में होने पर भी उत्पन्न हो सकती है। समष्टि के प्रसंग में, वर्णों का उच्चारण एक या दूसरे क्रम में होना महत्त्वहीन है। संचित स्मरण में वर्णों की उपलब्धि एक प्रवाह में होती है। स्मरण-व्यापार एक स्व-अभिन्न संज्ञान है, इसमें कोई क्रम नहीं है[1]। यदि हम मीमांसक के सिद्धान्त को मानें, तो वर्ण नित्य और विभु हैं और इसलिए देश या काल की दृष्टि से एक वर्ण और दूसरे वर्ण के बीच कोई अन्तराल नहीं हो सकता[2]। जो अन्तराल हम अनुभव करते हैं, वह क्रमिक संज्ञानों के भेद के कारण है। स्मरण वर्णों का होता है, उनके संज्ञानों का नहीं। अतः पूर्ववर्ती संज्ञानों का क्रम वर्णों में क्रमभेद की प्रतीति को जन्म नहीं दे सकता। समष्टि का सामूहिक स्मरण एक अकेली क्रिया है और क्योंकि सभी वर्णों का स्मरण एक साथ होता है, अतः संज्ञान का क्रम उनमें कोई भेद नहीं ला सकता। हाँ, एक स्मरण की समग्र अन्तर्वस्तु के रूप में सभी वर्णों की उपस्थिति अनिवार्य है। किन्तु यह स्थिति तो वर्णों का उच्चारण किसी भिन्न क्रम में करने पर भी हो सकती है। अतः शब्द के अनुभूत एकत्व की यथाकथञ्चित व्याख्या करके उसे अवास्तविक कहने का यह प्रयास अपनी समस्त विदग्धता के बावजूद अग्राह्य है।

यह कहना भी उपयुक्त नहीं कि शब्द के एकत्व की प्रतीति पृथक्-पृथक् वर्णों व अक्षरों में समवेत एक समान जाति के कारण होती है। शब्दजाति एक रूपहीन अवधारणा है और ध्वनि-व्यक्तियों के भेद से अप्रभावित रहने के कारण यह किसी भी अर्थ को व्यक्त करने में सक्षम नहीं है। सभी शब्दों में समान रूप से रहने के कारण इसका कोई विशिष्ट अर्थ नहीं हो सकता, जबकि पृथक्-पृथक् शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थ हुआ करते हैं। न ही यह माना जा सकता है कि पृथक्-पृथक् व्यष्टि शब्द इकाइयाँ, जैसे वर्ण, अपनी वैयक्तिकता को छोड़ देती हैं एवं उनकी संकल्पना जाति के साथ अभिन्न रूप में होती है। क्योंकि, शब्द का अनुभूत एकत्व वर्णों के बहुत्व के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, जिनके भेद इतने स्पष्ट हैं कि उनकी न तो उपेक्षा की जा सकती है और न कोई स्पष्टीकरण देकर उन्हें टाला जा सकता है। शब्द का

---

१. एकोपलब्धौ तु यौगपद्यान्नानुपूर्वीको विशेषः। —वही, पृ. ६६।
२. स्वतो वर्णा नित्यतया विभुतया च न देशनिबन्धनं नापि कालनिबन्धनं परापरभावमनुपतन्ति। —वही, पृ. ६६-६७।

घटक वर्णों से अभेदकरण भी सम्भव नहीं, क्योंकि उस स्थिति में अनेकत्व ही रहेगा, एकत्व नहीं। किसी जातिवाचक नाम के अर्थ में सदैव जाति और साथ ही वाच्यार्थ के अतिदेश द्वारा, उसमें संश्लिष्ट व्यक्ति सम्मिलित हैं। अतः न तो अर्थ और न ही वाचक शब्द की प्रकृति के सन्दर्भ में कोई समुदायात्मकता सम्भव है। उदाहरण के लिए, 'गौ' शब्द अपने आप में वर्णसमुदाय के रूप में प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो यहाँ बहुवचन होना चाहिए था। अन्तिम वर्ण को लक्षित करके भी शब्द के एकत्व का कारण स्पष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि पूर्व वर्णों का ज्ञान भी रहता ही है। अतः गौ, अश्व आदि जैसे जाति-नाम जिस विशिष्ट व्याकरणिक रूप, अर्थात् एकवचन, के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं, उसकी व्याख्या वर्ण-व्यक्तियों या वर्णजाति या अन्तिम वर्ण अथवा किसी समुदाय के घटक वर्णों का हवाला देकर नहीं की जा सकती। ये सभी शब्द अपने समुदायचरित्र की जरा भी अपेक्षा किये विना एकात्मक स्व-अभिन्न सत्ता के रूप में अनुभूत होते हैं[1]।

तो फिर पूर्ववर्ती वर्णों के संस्कारों से सहकृत अन्तिम वर्ण को शब्द मानकर उससे अर्थाभिधान मान लें। इसमें उद्भावित दोष, कि संस्कार अपने जनक वर्णों के ही स्मरण को उत्पन्न करेंगे, का परिहार इस आधार पर सरलता से हो सकता है कि प्रस्तुत संस्कार स्मृति-संस्कार नहीं है, अपितु भिन्न सामर्थ्य से युक्त एक भिन्न सत्ता है, जो किसी धार्मिक कृत्य, जैसे यागादि के विभिन्न व्यापारों से उत्पन्न अदृष्ट फल के तुल्य है। ये विभिन्न क्रियाएँ सम्पादित होते ही नष्ट हो जाती हैं और उनका फल (स्वर्गप्राप्ति आदि) उनके अनुष्ठान के तुरन्त बाद प्रकट नहीं होता। शास्त्र की प्रतिज्ञा है कि यागानुष्ठान इस प्रकार के फलों को उत्पन्न करता है। कारणता-संबन्ध की इस अनियमितता की व्याख्या के लिए एक स्थायी प्रभाव ('अपूर्व') को परिकल्पित किया गया है, जो जन्मान्तर में फल की उत्पत्ति तक विद्यमान रहता है। विभिन्न वर्णों द्वारा प्रमाता पर छोड़ा हुआ प्रभाव इस धार्मिक प्रभाव के तुल्य है। नियत कर्ता द्वारा शास्त्रविहित विधि के अनुसार नियत क्रम में किया हुआ अनुष्ठान ही 'अपूर्व' नामक आध्यात्मिक प्रभाव को जन्म देता है। प्रस्तुत संदर्भ में भी नियत कर्ता द्वारा उच्चरित वर्णों का नियत क्रम स्मृति-संस्कार से सर्वथा भिन्न एक असाधारण फल का कारण है। अतः पूर्ववर्ती वर्णों के संस्कार द्वारा पुष्ट अन्तिम वर्ण ही अर्थ को व्यक्त करता है[2]। यह आग्रह किया गया है कि एक ओर एक अदृष्ट बौद्धिक प्रभाव की परिकल्पना और दूसरी ओर उच्चरित वर्णों की अनेकता से अप्रभावित एक समग्र शब्द-सत्ता की परिकल्पना, समान रूप से अदृष्ट तथ्य के अभ्युपगम की दोषी है, फिर भी अखण्ड शब्द की परिकल्पना में यह गुण है कि यह हमारी स्वतःस्फूर्त अन्तःप्रज्ञा से मेल खाती है। किन्तु ऐसी तर्कप्रणाली सर्वथा असंगत है। अखण्ड शब्द-सत्ता के समर्थक को भी यह

१. स्फो. सि., पृ. ७३-८५।
२. अस्तु तर्हि "पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णो वाचकः" इत्येव, मा भूदेष ज्ञानप्रसवः स्मरणनिमित्तं संस्कारः। —स्फो. सि., पृ. ८६।

तो मानना ही पड़ेगा कि इसका प्रकाशन एक नियत क्रम में उच्चरित अनेक वर्णों या ध्वनियों द्वारा होता है। इनमें से कोई भी वर्ण अकेले शब्द को प्रकाशित नहीं कर सकता, अतः यह माना जाता है कि परस्पर संयुक्त होकर वर्ण इसे प्रकाशित करते हैं। प्रत्येक वर्ण द्वारा क्रमशः शब्द के एक अंश का प्रकाशन असम्भव है, क्योंकि प्राक्कल्पनानुसार शब्द एक निरवयव एवं अविभाज्य समग्र इकाई है[१]। यह भी नहीं माना जा सकता कि ये क्षणस्थायी वर्ण कोई समूह बनाकर शब्द को अभिव्यक्त कर सकते हैं; क्योंकि क्रमशः उच्चरित होने के कारण इनको युगपत् उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः अप्रसिद्ध व्यापार की परिकल्पना का अभियोग तो दोनों मतों पर समान रूप से लागू होता है[२]। पूर्वोक्त विरोध के परिहार के लिए स्फोटवादी को भी वर्ण-व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न अदृष्ट और अप्रमाणनीय संस्कार की परिकल्पना करनी होगी[३]। इसका विरोधी भी इस तथ्य की परिकल्पना करता है और इसे अर्थप्रत्यायन का प्रत्यक्ष कारण बताता है। स्फोटवादी दो अनुभवातीत तथ्यों की परिकल्पना का दोषी है, प्रथम, संस्कारगत प्रभाव और दूसरा, अखण्ड स्फोट। इतना ही नहीं, उसके लिये कुछ अन्य परिकल्पनाएँ अनिवार्य हो जाती हैं, प्रथम, कि एक निरवयव शब्द (स्फोट) की सत्ता है; दूसरे, कि यह वर्णों की अनुभूत अनेकता से भिन्न है और तीसरे, कि शब्द के घटक तत्त्वों के रूप में वर्णों की अनुभूति नहीं होती अथवा, कि ऐसी अनुभूति अयथार्थ है[४]।

निरवयव शब्द के सिद्धान्त पर यह उग्रतम प्रहार है—इसकी विश्वसनीयता इतनी स्पष्ट है कि इससे बचना कथमपि सम्भव नहीं लगता। किन्तु विपक्षी द्वारा प्रयुक्त तर्कपद्धति की अकाट्यता इस धारणा पर निर्भर करती है कि दोनों मामलों में अदृष्ट संस्कार, स्वरूप और व्यापार की दृष्टि से एक हैं। उपलब्ध वर्णों अथवा ध्वनियों का अदृष्ट संस्कार केवल स्मृति-संस्कार मात्र है, जो सभी दर्शनों द्वारा एक अपरिहार्य तार्किक आवश्यकता के रूप में स्वीकृत है, जिसके विना स्मृति की बात करने का कोई अर्थ न होगा। दूसरी ओर प्रतिपक्षी संस्कार को 'अपूर्व' के समकक्ष मानता है और इसे अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ मानता है। यह एक अदृष्टपूर्व एवं सर्वथा औचित्यविहीन परिकल्पना है। अपूर्व की परिकल्पना एक विसंगति-प्रदर्शक द्वारा अनिवार्य बन जाती है। नैतिक व्यवस्था और धार्मिक कृत्यों का प्रामाण्य इसी परिकल्पना के द्वारा स्थापित किया जा सकता है। शब्द और अर्थ के बोध के मामले में ऐसी कोई

---

१. यस्याप्यनवयवः शब्दात्मार्थप्रतीतिनिमित्तं ध्वनितो वर्णतो वा प्रतिलब्धाभिव्यक्त्यनुग्रहः प्रकाशते, तस्यापि नानपेक्षितेतरेतरा वर्णा ध्वनयो वा तमवद्योतयन्ति, तस्यार्थस्येवाप्रकाशनात्, अवयवशस्त्वद्योतनमनाशङ्कनीयमेव········ । —वही, पृ. ९१-९२।

२. ········तुल्यः पर्यनुयोगः। —स्फो. सि., पृ ९३।

३. तदनेनापि विशिष्टः संस्कारोऽवश्याभ्युपेयः स्फोटाभिव्यक्तिसिद्धये········ । —वही।

४. सद्भावव्यतिरेकौ च तथावयववर्जनम्।
तवाधिको भवेत्तस्माद्यत्नोऽसावर्थबुद्धिषु ॥ —श्लो. वा., पृ. ५३४।

अनिवार्यता नहीं है। स्फोटवादी वर्णों के अनेकत्व को अस्वीकार नहीं करता। वे शब्द की अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य शर्त हैं। उसका आग्रह केवल इतना है कि निरवयव शब्द की परिकल्पना अनिवार्य है। आगे चलकर यह भी प्रदर्शित किया जाएगा कि निरवयव शब्द कोई परिकल्पना न होकर प्रत्यक्षीकृत तथ्य है। अदृष्ट तथ्यों की परिकल्पना को लेकर प्रतिपक्षी की प्रकट चिन्ता एक दिखावा मात्र है। प्रतिपक्षी यह स्वीकार करता है कि वर्णों का क्रम नियत है और उसे उत्पन्न करने वाले संस्कारों की संख्या वर्णों के बराबर ही है; वक्ता का नियत एकत्व एक अदृष्ट सामर्थ्य से युक्त है; क्रम और फलित-संघात और यह नियम कि संख्या न कम हो न अधिक—ये सब विभिन्न निमित्त अनुभूत न होते हुए भी एक अदृष्ट प्रभाव के प्रयोजक के रूप में कल्पित हैं। यह सब वस्तुतः इस सत्य का निदर्शक है कि अपना औचित्य सिद्ध करने के लिए एक विसंगति को अनगिनत विसंगतियों का सहारा लेना पड़ता है। "मैं शब्द से अर्थ का ग्रहण करता हूँ"—ऐसी सामान्य व्यक्ति की सहज अन्तःप्रज्ञा और "शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध सिद्ध तथ्य हैं, जिनका अस्तित्व किसी व्यक्ति पर निर्भर नहीं"—ऐसी शास्त्र की स्पष्ट उक्ति का निरादरपूर्वक प्रत्याख्यान कर दिया गया है। और भी खराब बात यह है कि इन सीधी-सादी अभिव्यक्तियों को अनुग्रह-मुद्रा में दिया हुआ समर्थन पहले से उनकी स्थिति को और बुरी तरह उलझा देता है। तथाकथित संस्कार, जिसे अर्थ का वाचक बताया गया है—शब्द नहीं है, अन्तिम वर्ण का कोई अर्थ नहीं है, वर्णों का समुदाय, यदि वह सम्भव हो तो, शब्द नहीं है, न ही इसमें अर्थप्रत्यापन की सामर्थ्य है, क्योंकि हम स्पष्ट कर चुके हैं कि वर्णों के क्रम में विपर्यय अथवा भिन्न-भिन्न वक्ताओं द्वारा वर्णों का एक साथ उच्चारण होने पर अर्थ का बोध नहीं होता, यद्यपि वर्णों की संख्यात्मक अभिन्नता को ऐसी स्थितियाँ किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करतीं[1]।

यह मान्यता, कि वर्णों से जन्य संस्कार सामान्य स्मृति-संस्कार से भिन्न एवं अपूर्व के सदृश हैं, सर्वथा औचित्यविहीन पाई गई है। अब यह परिकल्पना भी, कि प्रत्येक परवर्ती वर्ण का संस्कार एक अतिरिक्त सामर्थ्य अर्जित करता है, उतनी ही अनौचित्यपूर्ण सिद्ध होगी। हम नहीं समझ पाते कि समान अथवा सदृश वर्ण भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कारों को क्यों उत्पन्न करेगा। पृथक्-पृथक् कार्यों की उत्पत्ति के लिए प्रकृतितः भिन्न-भिन्न कारणों का होना अथवा सहकारी परिस्थितियों द्वारा उनमें भेद उत्पन्न किया जाना आवश्यक है। वर्णों की अभिन्नता भिन्न-भिन्न क्रम-परिवर्तनों एवं संयोजनों में भी स्पष्ट प्रतीत होती है। मीमांसक मत में, वर्णों के भिन्न-भिन्न क्रमों में घटित होने के बावजूद उनकी अभिन्नता एक प्रतिष्ठित निष्कर्ष है। हाँ, बौद्ध एवं न्याय-वैशेषिक दार्शनिक अवश्य यह मानते हैं कि वर्ण केवल मात्र ध्वनियाँ हैं, जो अपने आविर्भाव के बाद तुरन्त नष्ट हो जाती हैं और इस प्रकार प्रत्येक वर्ण अन्य वर्णों—सदृश या असदृश—से भिन्न होना चाहिए; किन्तु उनके मत में भी भिन्न सामर्थ्य का

---

१. स्फो. सि., पृ. ९४-१००।

आग्रह नहीं किया जा सकता। इन दार्शनिकों को अभिमत वर्णों का भेद केवल सत्तामीमांसीय भेद हैं, जो व्यवहार के स्तर पर अनुभूत नहीं होता। अर्थबोध के प्रसंग में शब्द या उनके घटक वर्ण अर्थप्रत्यायन के योग्य तभी हो सकते हैं, जब इस रूप में उनका संज्ञान हो। शब्द स्वतः कारण नहीं हो सकता, यह केवल संज्ञानात्मक कारण है[1]। जहाँ तक मीमांसक का प्रश्न है, उसके मत में वर्णों का मौलिक भेद है ही नहीं।

एक वर्ण का दूसरे से संसर्ग भी इस अतिरिक्त सामर्थ्य का उपार्जक नहीं माना जा सकता। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्णों के सन्दर्भ में किसी प्रकार का संसर्ग सम्भव ही नहीं है और इसका सीधा-सा कारण यह है कि प्रकृत्या क्षणस्थायी होने के कारण अन्य वर्णों के साथ उनका मिलना सम्भव नहीं है। यदि यह मान लें कि किसी वर्ण के पूर्ववर्ती वर्णों से उत्पन्न संस्कारों के द्वारा संसर्ग को उत्पन्न किया जा सकता है, तो प्रथम वर्ण के लिए उसका कोई उपयोग न होगा, प्रथम वर्ण का तो कोई पूर्ववर्ती वर्ण है ही नहीं, अतः पूर्ववर्ती वर्णों से साहाय्य लेने का प्रश्न ही उसके प्रसंग में नहीं उठता। अतः अतिरिक्त सामर्थ्य की परिकल्पना का कोई आधार नहीं है[2]।

अन्तिम वर्ण स्वतः किसी अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकता; और यदि इसे पूर्ववर्ती वर्णों के संस्कारों से पुष्ट भी मान लिया जाए, तब भी इसकी अर्थप्रत्यायन में सामर्थ्य नहीं है। शब्दार्थसम्बन्ध दो प्रत्यक्ष तथ्यों के सम्बन्ध के रूप में गृहीत होता है। किन्तु संस्कार प्राक्कल्पनानुसार ही अप्रत्यक्ष सत्ताएँ हैं, इसलिए और ऐसे संस्कारों, या फिर इन संस्कारों द्वारा उपकृत अन्तिम वर्ण, के मध्य सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता। दूसरी ओर, निरवयव शब्द का सिद्धान्त इन कठिनाइयों से मुक्त है। यह दलील दी जा सकती है कि निरवयव शब्द का अस्तित्व विवादास्पद होने के कारण यह भी अप्रत्यक्ष है और इस प्रकार इस मत में भी अर्थ और अप्रत्यक्ष शब्द के बीच सम्बन्ध के ग्रहण की वही कठिनाई है, जो पिछले मतों में थी। किन्तु इस समस्या का निराकरण इसी तथ्य से हो जाता है कि निरवयव शब्द प्रत्यक्ष तथ्य है[3]। फिर आप इसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए दुरूह तर्क प्रस्तुत करने का परिश्रम क्यों करते हैं? प्रत्यक्ष तथ्य को प्रमाणित करने के लिए तर्क अनावश्यक है,

---

१. येऽपि स्वरूपभेदमेव वर्णानां प्रतिपदमास्थिषत, तेषामसौ सन्नपि नोपकारकः प्रज्ञानपरामर्शविकलस्य भेदस्य ज्ञापनायोगात्, न हि सत्तामात्रेण श्रुतयोऽर्थप्रत्यायनाङ्गतामुपयन्ति।
—स्फो. सि., पृ. १०३-४ एवं उस पर गोपालिका

२. यद्यपि च पूर्वोपहितात्मनः संस्कारस्य स्थेम्ना तत्सन्निधिरुत्तरमतिशाययेत्; प्राचीनस्य तु नापरसमवधाननिबन्धनः, नाप्यात्मना भेद इति कथमिव सोऽर्थप्रत्ययानुगुणं संस्कारमादधीत। —स्फो. सि., पृ. १०२-३।

३. ....तस्यैन्द्रियकत्वादित्युपपादयिष्यते। —स्फो. सि., पृ. १०९।

जब हाथी स्वयं सामने दिखाई पड़ रहा हो तो कोई भी व्यक्ति उसके पदचिह्नों को देखकर उसकी उपस्थिति का अनुमान नहीं करता। बात बिल्कुल सही है; निरवयव शब्द की सिद्धि के लिए अनुमान की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। किन्तु जब कुछ दार्शनिक पूर्वाग्रहवश सत्य को पहचानने से इनकार कर दें, तो उनके वाग्जाल में फँसे व्यक्तियों की भ्रान्तिपूर्ण धारणा को निरस्त करने के लिए अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है। तर्क का प्रयोग उन भटके हुए व्यक्तियों को मार्ग पर लाने के लिए किया जाता है, जिनमें सुधार की गुञ्जाइश है[1]।

हम देख चुके हैं कि जहाँ तक पूर्ववर्ती वर्णों की उपलब्धि का प्रश्न है, अन्तिम वर्ण के बोध के समय वे अतीत हो चुके हैं, और इसलिए वे इसके विशेषक एवं परिष्कारक नहीं हो सकते। मीमांसक यद्यपि वर्णों को नित्य और विभु मानते हैं, किन्तु मात्र उनकी भौतिक उपस्थिति शब्द एवं अर्थ के बोध को प्रभावित नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसे तो वर्णमाला के सभी वर्ण सर्वत्र अनिवार्य रूप से उपस्थित हैं। वर्णसंघात के सिद्धान्त में निहित कठिनाई एकदम स्पष्ट और अनुपेक्षणीय है और यह मानना होगा कि यह कठिनाई कुमारिल के सम्मुख अवश्य थी। इसीलिए उन्होंने प्रकट रूप में दोषमुक्त लगने वाला एक वैकल्पिक मत प्रस्तुत किया। उनका कहना था कि क्रमिक रूप में उच्चरित सभी अलग-अलग वर्ण किसी बहुवचनात्मक संख्या या शृङ्खला—संज्ञान जैसे एकात्मक संज्ञान को जन्म देते हैं। किन्तु इस मत में एक अन्य गम्भीर आपत्ति की गुञ्जाइश है। संज्ञान एकात्मक होने के कारण स्वतः क्रमवान् नहीं हो सकता, और न ही वे वर्ण, जो एक समग्र प्रभाव के रूप में विद्यमान हैं, क्रमगत भेद से युक्त हो सकते हैं। और कुमारिल के अनुसार क्रम में उपलब्ध वर्ण ही अर्थ के वाहक हो सकते हैं[2]।

इसके अतिरिक्त वर्णवादी के विरुद्ध एक और दलील भी निर्णायक हो सकती है। यह एक सामान्य अनुभव है कि वक्ता के संख्यागत अभेद का ज्ञान हुए विना अर्थ का बोध नहीं हो सकता। अर्थज्ञान के लिए वक्ता के संख्यागत अभेद को अनिवार्य शर्त मानना होगा। कुमारिल का कथन है कि विभिन्न वर्ण अर्थप्रत्यायन में कारण केवल तभी बनते हैं, जब वे संयुक्त होकर एक ही व्यक्ति द्वारा उच्चरित हों। क्रम वक्ता की संख्यागत एकात्मता का अनिवार्य सहपरिणाम है, क्योंकि एक वक्ता सभी वर्णों का उच्चारण एक ही समय में नहीं कर सकता। वर्णों की समकालिकता को आवश्यक शर्त मानने का आग्रह यहाँ नहीं है, क्योंकि एक वक्ता के लिए यह संभव नहीं है।

---

१. यः खलु कुतश्चिद् भ्रमनिबन्धनात् संवेदनमप्यवजानीते, तं प्रत्यनुमानं साक्षिस्थानीय-मुपन्यस्यते। —वही, पृ. १०९-१०।

२. सकलोपलम्भप्रभावितभावनाबीजजन्मनि चरमे प्रत्यये स्यात् सहभावाद्विशेषकत्वम्, तत्र तु क्रमादिभेदप्रत्यस्तमयादस्तमितक्रमादिभेदानां च सामर्थ्याख्यापनात्.......।

—स्फो. सि., पृ. ११३।

समकालिकता तभी संभव है, जब वक्ता भी वर्णों के समसंख्य हों। किन्तु वक्ताओं की अनेकता होने पर वर्णों से किसी भी अर्थ की अभिव्यक्ति न हो सकेगी[1]।

अब, यदि वक्ता का अभेद अर्थ-संप्रेषण का निमित्त हो, तो अन्य निमित्तों की भाँति इसका भी एक निमित्त के रूप में ज्ञान होना चाहिए। किन्तु वक्ता के किसी व्यवधान से छिपा होने या श्रोता के लिये अदृश्य होने की स्थिति में भी अर्थ का बोध देखा जाता है, और आधुनिक युग में तो रेडियो प्रसारण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। यह कोई संतोषजनक तर्क नहीं है कि वर्णों की उच्चारण-शैली और स्वर की एकरूपता वक्ता की अभिन्नता का आभास दे देती है। किसी फुटबाल मैच के प्रसारण में, अनेक व्यक्तियों के कोलाहल के बीच विभिन्न अक्षरों और वर्णों की अविच्छिन्न परम्परा के श्रवण में स्वर एवं उच्चारण भिन्न प्रतीत न होने पर भी शब्दों से अर्थबोध होता है। ऐसी स्थिति में वक्ताओं की पहचान कर पाना असंभव है। यह आवश्यक नहीं कि बीच में सुनाई पड़ने वाली ध्वनियाँ अस्पष्ट ही हों, टूटे-फूटे वाक्यों और शब्दों को भी सावधान श्रोता स्पष्टतया ग्रहण कर लेता है[2]।

इसके अतिरिक्त, ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति को वाक्य का अर्थ पूर्णतः अवगत न हो सकने पर दूसरा व्यक्ति उस अर्थ का प्रतिपादन करता है। जैसे कोई बालक एक ज्येष्ठ व्यक्ति से किसी रेडियो-वार्ता का अर्थ समझाने के लिए आग्रह कर सकता है। व्याख्याकार शब्दों को दुहराते हुए, वक्ता की एकात्मता का जरा भी संकेत दिये विना ही अर्थ को स्पष्ट करता है। बालक भी विना यह पहचाने कि किस व्यक्ति के शब्दों को उद्धृत और व्याख्यात किया जा रहा है, शब्दों के अर्थ को ग्रहण करता है। इन स्थितियों में व्यक्तिगत पहचान के प्रश्न पर ध्यान ही नहीं दिया जाता; क्योंकि उसे जानने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है[3]।

---

१. तेषां तु गुणभूतानामर्थप्रत्यायनं प्रति।
साहित्यमेककर्त्रादि क्रमश्चापि विवक्षितः॥
कर्त्रेकत्वे निमित्ते च क्रमे सति नियामकम्।
प्रयुञ्जानस्य यत्पूर्वं वृद्धेभ्यः क्रमदर्शनम्॥
यौगपद्यं त्वशक्यत्वान्नैव तेषामिहाश्रितम्।
कर्तृभेदश्च तत्र स्यान्न चैवं दृश्यतेऽभिधा॥ —श्लो. वा., पृ. ५२८।

२. अङ्गत्वे तु ज्ञापकानुप्रवेशान्नानवधारितार्थप्रतीतिसिद्धौ हेतुः। दृश्यते च व्यवहिततिरोहितोदीरितेभ्यो वर्णेभ्योऽर्थज्ञानम्। न च व्यवहिततिरोहितयोरकस्मादेकत्वज्ञानं वक्त्रोः संभवति; संभवति हि स्वरसादृश्ये निरन्तरोच्चारणे वक्तृभेदेऽपि कलकलशब्दश्रुतौ चार्थज्ञानम्, कस्तत्र वक्तुरेकत्वनानात्वे विवेक्तुं क्षमः? न च ध्वनिमात्रश्रवणं तत्र, वर्णपदवाक्यपरिच्छेदानामपि केषाञ्चिद् बुद्धावुपारोहादिति।—वही, पृ. ११७-१९।

३. संबन्धज्ञानसमये ज्ञायते न नियोगतः।
तिरोहितव्यवहितप्रयुक्तौ वक्तुरेकता॥ —स्फो. सि., १६।

इससे स्पष्ट है कि वक्ता की व्यक्तिगत पहचान वाक्यार्थ के ज्ञान का अनिवार्य निमित्त नहीं है; किन्तु [शब्दों के उच्चारण में पृथक्-पृथक् वक्ताओं की प्रतीति होने पर अर्थज्ञान में व्याघात तो उत्पन्न होता ही है। अब, विभिन्न व्यक्तिओं द्वारा उच्चारित होने पर भी पृथक्-पृथक् वर्णों के संस्कार तो वही हैं और कुमारिल के विचार में ये संस्कार अर्थ-संप्रेषण में सहायक हैं। किन्तु वक्ताओं के भिन्न होने पर वे अर्थ-प्रत्यायन में असफल रहते हैं। वैसे कुमारिल वक्ता की एकात्मकता को भी अनेक शर्तों में से एक मानते हैं। किन्तु हमने अभी देखा कि यह सार्वत्रिक रूप में अर्थबोध की अनिवार्यतः पूर्ववर्ती शर्त नहीं है। यह सही है कि वक्ताओं का संख्यात्मक भेद अर्थबोध में व्याघात उत्पन्न करता है, किन्तु इससे व्यक्तिगत पहचान के ज्ञान को इसकी आवश्यक शर्त मानने के लिए आधार नहीं मिलता। आवश्यकता वास्तव में शब्दों अथवा वाक्य की एकात्मता के बोध की है, न कि वक्ता की एकात्मता के बोध की। वक्तृभेद द्वारा व्याघात उत्पन्न होने का कारण यही है कि इसके द्वारा शब्दों की एकात्मता को संप्रेषित करना संभव नहीं होता। इस प्रकार शब्दों की एकात्मता निरवयव शब्द-इकाइयों के अस्तित्व की सूचक है। स्फोटवादी की यही स्थापना है[1]।

हमारे लिए अगली विचारणीय समस्या यह है कि शब्द (अर्थात् स्फोट) का ग्रहण, किस प्रकार होता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, शब्द एक अविभाज्य इकाई है। ध्वनि को ही शब्द का व्यञ्जक मानने पर शब्द के एकत्व की संतोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। इसे थोड़ा और स्पष्ट कह दें। भिन्न-भिन्न ध्वनियों को उत्पन्न करने के लिए पृथक्-पृथक् प्रयत्नों की आवश्यकता सर्वस्वीकृत है और यह भी कि विभिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति एक साथ न होकर क्रमिक होती है। अतः शब्द के एकत्व का ग्रहण सहज ही बुद्धिगम्य नहीं होता। एक ठोस उदाहरण देकर स्फोटवादी इस समस्या का विवेचन करता है। निरवयव शब्द (या स्पष्ट कहें कि सम्पूर्ण शब्द) के चिर-प्रचलित उदाहरण, अर्थात् 'गौः' में 'ग्', 'औ' और ' : ' इन तीनों ध्वनियों में से प्रत्येक ध्वनि उसी शब्द को प्रकाशित करती है और यह मानना अनुपयुक्त होगा कि प्रकृतितः परस्पर तीन ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाने वाला शब्द प्रत्येक अवसर पर भिन्न है। वैयाकरण इस बात पर जोर देता है कि तीन क्रमिक ध्वनियों में से प्रत्येक के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला स्फोट एक ही है। वह अपने अभिप्राय को उपयुक्त उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट करता है। किसी वैदिक अनुवाक अथवा श्लोकविशेष को बार-बार पढ़ते समय हमें प्रत्येक बार यह प्रतीति नहीं होती कि हम पूर्वपठित अनुवाक या श्लोक से भिन्न कोई नया अनुवाक या नया श्लोक पढ़ रहे हैं, बल्कि प्रत्येक आवृत्ति के साथ पृथक्त्व की धारणा लुप्त होकर एकत्व का बोध उभरता है। इसी प्रकार, प्रस्तुत प्रसंग में भी प्रत्येक ध्वनि एक ही शब्द को उद्घाटित

---

१. अनङ्गे वक्तुरेकत्वे वक्तृभेदे निरुद्भवा।
संस्कारादावभिन्नेऽपि धीर्हेत्वन्तरसूचनी ॥ —स्फो. सि., १७।

करती है। इसलिए, एकत्व की धारणा के विरुद्ध की गई शंका सर्वथा निर्मूल है[1]।

एक और भी शंका इस संदर्भ में हो सकती है। यह तो सही है कि वास्तविक शब्द-तत्त्व एक विभाज्य इकाई है और यह ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक ध्वनि, चाहे वह अक्षर हो या वर्ण, इस सत्ता को अभिव्यक्त करती है। प्रत्येक ध्वनि द्वारा एक अंश का प्रकाशन तो स्वीकार्य हो नहीं सकता, क्योंकि शब्द-तत्त्व निरंश है और इसीलिए यदि इसको अभिव्यक्त होना है, तो या तो यह अपने सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त होगा, अन्यथा बिलकुल न होगा। किन्तु यदि प्रथम ध्वनि ही इसको सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त कर देती है, तो परवर्ती ध्वनियाँ निरर्थक अनुबन्ध होंगी। स्फोटवादी के विचार से यह आशंका अनावश्यक है। यह सही है कि प्रत्येक ध्वनि सम्पूर्ण शब्द को अभिव्यक्त करती है। किन्तु अभिव्यक्ति के प्रत्येक व्यापार में एक गुणात्मक भेद है। सर्वप्रथम होने वाली अभिव्यक्ति अस्पष्ट है और प्रत्येक परवर्ती अभिव्यक्ति इसे स्पष्ट एवं स्पष्टतर करती है। परवर्ती ध्वनियों की इस अतिरिक्त क्षमता का कारण यह है कि पूर्ववर्ती ध्वनियों में प्रत्येक ध्वनि चित्त पर एक संस्कार छोड़ती है और इन संस्कारों द्वारा पुष्ट होकर चित्त आगे की झलक पाने के लिए अधिकाधिक क्षमता अर्जित करता है। इस प्रक्रिया का समापन अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ होता है, जिसके द्वारा चित्त, जो पूर्ववर्ती ध्वनियों से उत्पन्न संस्कारों के द्वारा अपेक्षित संवेदनशीलता प्राप्त कर चुका है, शब्दतत्त्व को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने के योग्य हो जाता है। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि शब्द-तत्त्व में कोई गुणात्मक या परिणामात्मक भेद न होते हुए भी चित्त द्वारा गृहीत अभिव्यक्तियों में गुणात्मक भेद मानने में कोई तार्किक विसंगति नहीं है। निःसंदेह शब्दतत्त्व, जो पूर्ण एवं समय है और गुणात्मक या परिणामात्मक उपचय अथवा अपचय से सर्वथा रहित है, प्रथम ध्वनि से ही चित्त के समक्ष आ जाता है। किन्तु शब्दतत्त्व की अन्तःप्रज्ञा के लिए प्रमाता के उपकरणभूत इस चित्त की संरचना इस प्रकार की है कि स्फोट की संपूर्ण झलक पाने के लिए यह उत्तरोत्तर परिमार्जन एवं परिष्कार की अपेक्षा रखता है। अपने-अपने क्रम में स्फोट को प्रकाशित करने वाले क्रमिक संज्ञानों की इस धीमी प्रक्रिया में यदि कोई गुणात्मक व परिमाणात्मक भेद माना जाए, तो उसे हमारे मानसिक उपकरण की ही देन मानना होगा। दूसरे शब्दों में, मानव-बुद्धि की नैसर्गिक संरचना के कारण भेद की कोटियाँ सर्वथा व्यक्तिनिष्ठ हैं और वे इस परिकल्पना के लिए आधार प्रस्तुत नहीं करती कि ये भेद-प्रभेद शब्द-तत्त्व के वस्तुगत स्वरूप अथवा मूल-प्रकृति में हैं[2]।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार कुमारिल ने शब्द-तत्त्व के प्रकाशन के निमित्तों को ही अर्थ-संप्रेषण के निमित्तों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यह भी

---

१. प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ —वा. प., १.८५ ।

२. स्फो. सि., पृ. १२९-३३ ।

स्पष्ट हो चुका है कि यह प्रयास तब तक निष्फल है, जब तक हम यह न मानें कि स्मृति-संस्कार धार्मिक कृत्यों से उत्पन्न 'अपूर्व' की तरह एक रहस्यात्मक तत्त्व के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार इन निमित्तों की तथाकथित तुल्यरूपता तार्किक आधार से रहित अभ्युपगम पर टिकी हुई है। शब्द जिसे अपने अर्थ के रूप में व्यक्त करता है, ऐसे अज्ञात तथ्य की उपलब्धि के लिए स्मृति-संस्कार की एक अप्रसिद्ध सामर्थ्य या व्यापार की परिकल्पना अपरिहार्य एवं अकाट्य तो तब होती, जब स्थिति की कोई अधिक सुबोध एवं स्वाभाविक ऐसी व्याख्या सम्भव न होती, जो सहज बुद्धि की प्राकृत अभिव्यक्ति के भी अनुरूप है। अतः अपनी मान्यता को पुष्ट करने के लिए कुमारिल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि निरवयव शब्द-तत्त्व की धारणा मनोवैज्ञानिक साक्ष्य और तार्किक आवश्यकता के आधार पर प्रमाणित नहीं होती।

कुमारिल ने इस कथन पर तीव्र आक्षेप किया है कि शब्द-तत्त्व का बोध प्रारम्भ में अस्पष्ट रूप में होता है और अन्त में यह पूर्णतः विकसित सत्ता के रूप में सामने आता है। हमारे बोध का विषय तो वे वर्ण होते हैं, जो निरवयव समग्र शब्द से सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी अनुभूति कभी नहीं होती कि एक सम्पूर्ण शब्द का एक इकाई के रूप में स्पष्ट या अस्पष्ट बोध हो रहा है। पुनः, यह भी कदापि बुद्धिगम्य नहीं है कि एक निरवयव शब्द-सत्ता कैसे अपने व्यक्तित्व को छिपाकर वर्णों का छद्मवेश धारण कर लेती है। इस सम्भावना की स्वीकृति, कि प्रस्तुतीकरण एक वस्तु का होता है और ग्रहण दूसरी का, संशयवाद की ओर उन्मुख करेगी, क्योंकि तब सत्य के साक्ष्य के रूप में संज्ञानों की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं रह पाएगी। यदि शब्द के अस्तित्व की सम्भावना मान भी लें, तो इतना तो अविवाद्य है कि इसकी प्रतीति वर्णों के रूप में ही होती है, किसी अविभाज्य निरंश सत्ता के रूप में नहीं। अब, वर्णों के बोध से उत्पन्न स्मृति-संस्कार केवल उन्हीं वर्णों के संज्ञान को उत्थापित कर सकता है। वर्णों के स्मृति-संस्कार अपने से पूर्णतः असंबद्ध एक निरवयव शब्द के संज्ञान को कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं। अतः स्फोटवादी के विरुद्ध भी एक नई सामर्थ्य की निराधार परिकल्पना का आरोप उतनी ही प्रबलता से लगाया जा सकता है[1]।

यह दलील दी जा सकती है कि शब्द-तत्त्व का वर्णों के रूप में बोध निश्चित भ्रान्ति का उदाहरण है; किन्तु यह केवल नैराश्यजन्य तर्क है। यह ठीक है कि अन्यथाबोध के रूप में भ्रान्ति सम्भव है। किन्तु वर्णों के क्रमिक संज्ञान को भ्रान्ति का नाम दे देने का कोई भी कारण नहीं है। भ्रान्ति सदैव किसी विकार के कारण होती है। प्रस्तुत स्थिति में भ्रान्ति के लिए कौन सा निमित्त हो सकता है? ध्वनियाँ तो इसका निमित्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे शब्द के बोध का निमित्त मानी जाती हैं।

---

१. ननु शब्दान्तराण्येव वर्णाः प्राक् प्रकाशन्ते, न पदरूपमव्यक्तं व्यक्तं वा। न च तदेव तिरोहितात्मरूपं शब्दान्तरात्मना प्रकाशत इति साम्प्रतम्; कथमन्यप्रकाशेऽन्यः प्रकाशेत्, अतिप्रसङ्गात्। अन्याकारप्रकाशोपहितं च भावनाबीजं कथमन्याकारप्रकाशप्रादुर्भावनिमित्तं स्यात्। —स्फो. सि., पृ. १३४-३५।

किसी सत्ता के बोध का मान्य निमित्त उसके अन्यथाबोध का भी निमित्त हो, यह निश्चय ही सम्भव नहीं। यदि यह अन्यथाबोध का निमित्त हो, तो यथार्थबोध का निमित्त कदापि नहीं हो सकता। इसका फल यह होगा कि ध्वनियाँ, जैसी कि वैयाकरण की मान्यता है, शब्द को प्रकाशित नहीं कर पाएँगी और अन्य निमित्तों के अभाव में यह सदा अनभिव्यक्त ही रहेगा[1]।

यदि ध्वनियों को भ्रान्ति का निमित्त मान भी लें तो कोई कारण नहीं कि भ्रान्ति अनिवार्यतः एवं अपरिवर्तित एकरूपता के साथ एक ही विषय को उपस्थित करे। रस्सी का टुकड़ा अनिवार्य रूप से सर्प की भ्रान्ति उपस्थित नहीं करता। और किसी विशेष 'प्रदत्त' के विषय में सभी व्यक्तियों को एक ही भ्रम हो, यह भी आवश्यक नहीं। ऐसा देखा जाता है कि रस्सी में एक व्यक्ति को सर्प की भ्रान्ति होती है, और दूसरे की उसी में जलधारा का भ्रम होता है। ऐसा भी नहीं कि भ्रान्ति का आविर्भाव किसी अव्यतिक्रमणीय निर्धारित क्रम में ही हो। सम्भव है कि रस्सी के टुकड़े में हमें प्रथम बार में सर्प का और तदनन्तर जलधारा का, अथवा इसके विपरीत क्रम में मिथ्याबोध ही। ये सभी भ्रान्ति की सुप्रसिद्ध विशेषताएँ हैं[2]। देखना होगा कि क्या वर्णों के भ्रमात्मक बोध में भी ये विशेषताएँ हैं। वर्णों की उपलब्धि सार्वजनीन है और यदि इसे भ्रान्ति माना जाए तो स्फोटवादी को आभिमत, सभी व्यक्तियों द्वारा गृहीत अन्तर्वस्तु की अभिन्नता, अनिवार्य एकरूपता और क्रम की अपरावर्तनीयता आदि तथ्य इस प्राक्कल्पना के विरोधी हैं। भ्रान्ति के लिए इन लक्षणों की अनिवार्य उपस्थिति आवश्यक नहीं, बल्कि इसके सर्वथा विपरीत ये सभी यथार्थ ज्ञान के सुनिश्चित मानदण्ड हैं।

कुमारिल की ये दलीलें निश्चित रूप से अत्यन्त सशक्त हैं, किन्तु अकाट्य नहीं। निःसंदेह अखण्ड शब्द-सत्ता में विश्वास रखने वाले दार्शनिकों के मत में शब्द की वर्णों के रूप में प्रतीति एक भ्रान्ति है। कुमारिल की दलील है कि जो वर्ण और ध्वनियाँ निरवयव शब्द के ग्रहण के माध्यम के रूप में स्वीकृत हैं, वे भ्रान्ति के निमित्त नहीं हो सकते। फिर, यह भी कल्पनातीत है कि प्रस्तुति एक पदार्थ की हो रही है और ग्रहण किसी अन्य पदार्थ का हो रहा है। यदि निरवयव शब्द-सत्ता एक तथ्य है और बुद्धि का विषय भी है, तो वर्णबहुत्व के रूप में इसकी प्रतीति अव्याख्येय हो जाती है; किन्तु यह विरोध भ्रान्ति के उदाहरणों के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित है। एक अतिसामान्य उदाहरण में हम पाते हैं कि दूर से देखने पर किसी वृक्षसमूह का ग्रहण हाथी या ऐसे ही किसी पदार्थ के रूप में होता है। एह भी देखा जाता है कि किसी प्रकाशमय स्थान

---

१. विपर्यासप्रकाशनं च निमित्तापेक्षम्; न च तदिहास्ति। न नादाः, तेषां तत्त्वपरिच्छेदहेतुत्वात्; न हि यदेवास्योपलब्धिनिमित्तं तदेव विपर्यासनिमित्तं भवितुमर्हति; विपर्यासनिमित्तत्वे वा न ततस्तद्रूपोपलब्धिरित्यनभिव्यक्तिप्रसङ्गः। —वही, पृ. १३५-३६।

२. इह तु नियतभावी नियतक्रमो नियतरूपश्च विपर्यास इति किमत्र कारणम्।
—स्फो. सि., पृ. १३८।

से अंधेरे कक्ष में प्रवेश करने पर व्यक्ति भ्रान्तिवश रस्सी के टुकड़े को ही सर्प समझ लेता है। इन सभी उदाहरणों में अन्यथाबोध का कारण यही है कि यथार्थ 'प्रदत्त' की उपलब्धि सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य ने नहीं हो पाती। यह नहीं माना जा सकता कि 'प्रदत्त' प्रस्तुत ही नहीं हुए या अलक्षित रह गये हैं; क्योंकि इन्द्रिय का उनके साथ सम्पर्क है। यदि इन्द्रियसंनिकर्ष न होता तो 'प्रदत्त' अन्यथाबोध के निमित्त न होते। इस प्रकार एक वस्तु के प्रस्तुतीकरण पर उसके बदले दूसरी वस्तु के बोध की सम्भावना को निराधार कहने वाली प्रथम विप्रतिपत्ति परीक्षण के बाद पूर्वाग्रहग्रस्त सिद्ध होती है[1]।

दूसरा आरोप अभी अनुत्तरित है। इसमें कहा गया था कि वर्णों का स्मृति-संस्कार अपने से पूर्णतः असम्बद्ध निरवयव शब्द के बोध का निमित्त नहीं हो सकता। हम प्रदर्शित करेंगे कि प्रथम दृष्टि में वर्णबहुत्व के रूप में दीखने पर भी आद्योपान्त निरवयव शब्द-सत्ता ही हमारे समक्ष रहती है। भ्रान्ति के पूर्वोल्लिखित उदाहरणों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। प्रथम क्षण में वृक्षसमूह को भ्रान्तिवश हाथी समझ लेने पर भी परवर्ती क्षणों में हम सूक्ष्मतर एवं सावधानतर निरीक्षण के उपरान्त उसे सही रूप में पहचान लेते हैं। स्पष्ट है कि निरीक्षणों की इस शृङ्खला में प्रत्येक परवर्ती निरीक्षण वास्तविक 'प्रदत्त' के स्पष्टतर दर्शन में सहायक होता है। यह इसीलिये संभव हो पाता है, क्योंकि परवर्ती निरीक्षण पूर्व-पूर्व निरीक्षणों से उत्पन्न संस्कारों द्वारा सशक्त एवं पुष्ट होते हैं। शब्द-सत्ताओं के बोध का भी बिल्कुल यही प्रकार है[2]।

यह कहना अनुचित होगा कि पूर्ववर्ती संज्ञानों के संस्कार अन्तिम ज्ञान को प्रभावित नहीं करते। यदि ऐसा होता तो प्रथम दृष्टि में ही पदार्थ का सकल स्वरूप स्पष्ट हो जाता[3]। यह कहना भी समीचीन नहीं कि सुस्पष्ट उपलब्धि न होने में पदार्थ की दूरी कारण है, क्योंकि एक ही स्थान पर खड़ा रहता हुआ भी वही व्यक्ति अनेक बार ध्यानपूर्वक देखने के उपरान्त पदार्थ को पूर्णतः प्रत्यक्ष कर लेता है[4]। प्रथम दर्शन में ही ठीक प्रकार से प्रत्यक्षीकरण में विफलता के लिए इन्द्रिय-दोष को भी जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि उस व्यक्ति का अन्य वस्तुओं का दर्शन एवं ज्ञान नियमित और सही है[5]। इसलिये यह मानना होगा कि संज्ञानों की

---

१. न च तेषां न प्रथनमिति साम्प्रतम्, इन्द्रियस्य तत्सन्निकर्षात्; न ह्यन्यसन्निकर्षोऽन्यज्ञान-हेतुः; असन्निकर्षजत्वे वा तदपेक्षा न स्यात्।—स्फो. सि., पृ. १४०।

२. तस्मात् पूर्वदर्शनान्येव यथोत्तरोत्कर्षेण संस्कारमादधति व्यक्तवृक्षादिप्रतिपत्तिनिमित्तं भवन्ति।—वही।

३. अन्यथा प्रथमदर्शनेऽपि स्यात्।—स्फो. सि., पृ. १४१।

४. तद्देशावस्थितानामेव च प्रणिधानाभ्यासक्रमेण भावान्न दूरत्वादलब्धजन्मा सामीप्यादुदेतीति युक्तम्।—वही, पृ. १४१-४२।

५. प्रकृतिस्थेन्द्रिया अपि बहिर्वस्त्वन्तरदर्शनादन्यथा प्रतिपद्य यथावदुपलभन्ते।—वही, पृ. १४२।

शृंखला में पूर्ववर्ती संज्ञानों के योगदान से ही 'प्रदत्त' का क्रमशः स्पष्टीकरण होता है, जो अन्तिम यथार्थ उपलब्धि तक पहुँचावा है। हम प्रभाकर की इस मान्यता का प्रतिवाद आवश्यक नहीं समझते कि प्रस्तुत 'प्रदत्त'की यथातथ्य उपलब्धि प्रारम्भ से ही मौजूद है और अप्रस्तुत सामग्री का प्रत्यय सादृश्यजन्य स्मरण के कारण होता है[1]। जो भी हो, यह तो स्पष्ट है ही कि 'प्रदत्त' एक निरवयव इकाई हो, तो भी विभाग व अनेकता की प्रतीति संभव है। यह भी तथ्य है कि विभाग एवं अनेकत्व की प्रतीति यहाँ वास्तविक 'प्रदत्त' अर्थात् एकत्व को आच्छादित करने में सहायक होती है। इसमें चाहे भ्रान्ति की भावात्मक स्थिति कारण हो अथवा भेद न कर पाने की निषेधात्मक स्थिति, किन्तु निरवयव शब्द-सत्ता का अनुभव वर्णबहुत्व के रूप में होना स्वभावतः असंभव नहीं।

कुमारिल की तीसरी दलील यह है कि भ्रान्ति किसी बाह्यनिमित्त से होती है और किसी वस्तु के बोध का स्वीकृत निमित्त उसके अन्यथाबोध का भी निमित्त हो, यह संभव नहीं। यह आरोप भी वस्तुस्थिति के अपर्याप्त अध्ययन पर आधारित है। यह सत्य है कि ध्वनियाँ शब्द-सत्ता के प्रकाशन की निमित्त हैं और ये ध्वनियाँ वागिन्द्रियों के व्यापार में अपेक्षित नियत प्रयत्नों से उत्पन्न होती हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रकाशन जिन ध्वनि-समूहों के माध्यम से होता है, वे भिन्न होते हुए भी कभी-कभी परस्पर व्याप्त होने के कारण सदृश प्रतीत होते हैं। इसलिए कभी-कभी विवक्षित शब्द के स्थान पर अन्य शब्द की भ्रान्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ 'राजपुरुष' एक सर्वथा पृथक् शब्द है, जिसका अर्थ 'राज' अथवा 'पुरुष' के अर्थ से भिन्न है। किन्तु ध्वनि-साम्य संघटक अंशों को पृथक् शब्द मानने का भुलावा भी दे सकता है। ऐसी हालत में वाक्यगत असंगति का बोध ही व्यक्ति को भूल सुधारने के लिये प्रेरित करता है। इसलिये इस दलील में कोई दम नहीं है कि यथार्थबोध का जो निमित्त है वह भ्रान्ति का निमित्त नहीं हो सकता। और फिर अन्यथाबोध भी तो एक प्रकार का बोध है। दोनों स्थितियों में बोध के प्रायिक-निमित्त सक्रिय हों, यह अस्वाभाविक नहीं; यद्यपि कोई अतिरिक्त तथ्य भी उपस्थित 'प्रदत्त' की भ्रान्ति का कारण हो सकता है। प्रायिक निमित्तों के निषेध द्वारा भ्रान्ति की उत्पत्ति मानना सत्य के सर्वथा विपरीत है। किसी दूरस्थ वृक्ष में हाथी की भ्रान्ति होने पर भी वहाँ इन्द्रियसंनिकर्ष का अभाव नहीं। यही इन्द्रिय-पदार्थ-संनिकर्ष सतत अवधान और इन्द्रिय के कुशल व्यापार द्वारा सहकृत होकर यथार्थबोध का कारण बनता है। यह कथन, कि इन्द्रिय-पदार्थ-संनिकर्ष को भ्रान्ति का निमित्त मानने पर वह यथार्थबोध का निमित्त नहीं हो सकेगा, मात्र वाक्छल है, जो तथ्यों के आधार पर मिथ्या सिद्ध हो जाता है[2]।

---

१. स्वरूपमात्रख्याताविन्द्रियाधीनायां वृक्षादिषु सादृश्यनिमित्तं मानसं स्मरणमिति चेत्, शब्दान्तरेष्वपि भागाभिमतेषु तथास्तु। —वही।

२. (क) ध्वनयः सदृशात्मानो विपर्यासस्य हेतवः।
उपलम्भकमेवेष्टं विपर्यासस्य कारणम्॥ —स्फो. सि., २०।

अब हम इस आपत्ति पर विचार करेंगे कि भ्रान्ति के प्रसंग में अन्तर्वस्तुओं को अपरिवर्तित एकरूपता और इसके घटित होने में अचूक नियमितता और सार्वत्रिकता का इसके साथ सामञ्जस्य नहीं वैठता[1]। यह आपत्ति वर्णों के भ्रमात्मक संज्ञान की संभावना के विरुद्ध एक सशक्त धारणा बनाती है। किन्तु यदि यह सिद्ध किया जा सके कि निरवयव शब्द-सत्ताएँ अर्थ की वास्तविक वाहक हैं और अनुभूत एकता का स्पष्टीकरण वर्णों की अनेकता से हो सकता, तो अनेकता को भ्रान्ति मानकर उपेक्षित कर देना हो हमारे समक्ष एकमात्र विकल्प होगा। एकरूपता का कारण तो यह तथ्य है कि निरवयव शब्द की अन्तःप्रज्ञा का निमित्त इस अनेकता से भिन्न नहीं है। निमित्त होने के कारण पहले इसकी उपलब्धि होना अनिवार्य है। इसलिये निरवयव शब्दों का उच्चारण वर्णबहुत्व के माध्यम से ही संभव है। कारणात्मक क्रम की नियमितता भी इसीलिए है कि वर्णों का नियमित क्रम निरवयव शब्द-सत्ता की अभिव्यक्ति में निमित बनता है[2]। कोई कारण नहीं कि भ्रान्ति के एक-से उदाहरण का निमित्त-समूह भी एकरूप न हो, उदाहण के लिए, हम संख्याओं के संज्ञान को ले सकते हैं। एक से प्रारम्भ होकर आगे की सभी संख्याओं में, प्रत्येक अपने आप में पृथक् एवं विशिष्ट है, जैसे एक दो नहीं है, दो तीन नहीं है, इत्यादि। इसके अतिरिक्त संख्या एक आत्मनिष्ठ निर्धारण है और संख्यात्मक दृष्टि से प्रत्येक संख्या का संज्ञान अनिवार्यतः भिन्न होगा। किन्तु उत्तरोत्तर संख्या न्यूनतर संख्याओं के माध्यम से जानी जाती है; विशेषतः बड़ी संख्याएँ सदैव छोटी इकाइयों के द्वारा, और उनके माध्यम से, बोली जाती हैं। प्रत्येक संख्या एक निश्चित मात्रा को मापती है। अतः यह एक भ्रमपूर्ण कल्पना है कि न्यूनतर संख्या उच्चतर संख्या का अवयव है। फिर भी, यह भ्रम ही उत्तरोत्तर संख्याओं का ग्रहण संभव बनाता है। शब्दों की भी ठीक ऐसी ही स्थिति है। नौसिखिया व्यक्ति किसी बड़े शब्द को एक बार में समझ पाने में कठिनाई अनुभव करता है और बड़े प्रयासपूर्वक इसके टुकड़े करके ही वह इसे समझ पाता है। वर्णानुपूर्वी की नियमितता बिल्कुल वैसी ही है, जैसी किसी प्राकृतिक घटना, जैसे किसी बीज के अंकुरित होने या दूध के जमने की प्रक्रिया की नियमितता[3]।

(ख) उपलब्धिनिबन्धनमेव च विपर्यासस्य निमित्तम्, हेत्वन्तरानवसन्धानात्; विपर्यासस्याप्युपलब्धिरूपत्वादनुपलब्ध्युपयोगि कथं तत्रोपयुज्यते। यथा क्वचिद्दूरवर्तिवनस्पताविन्द्रियसन्निकर्ष एव विपर्यासस्य निमित्तम्; उपलब्धेरपि स एव प्रणिधानाभ्यासप्रसूतवासनाक्रमेण......। —वही, पृ. १४७-४९।

१. अत एव च तुल्यरूपः सर्वप्रतिपत्तॄणां विपर्यासः। तन्निमित्तस्य समानत्वात्।
—वही, पृ. १५१-५२।

२. क्रमनियमश्च नियतक्रमत्वात्। —वही, पृ. १५२।

३. यथा चाविद्यमानात्मभूतसंख्यान्तरज्ञानं संख्यान्तरप्रतिपत्तौ निमित्तं तदुपायत्वात्, तथेहापि शब्दान्तरपरिच्छेदः। न हि क्वचित् क्रियायां हि निर्जिज्ञासितसंख्येषु शतादिसंख्यापरिच्छिन्नेषु वस्तुषु पूर्वसंख्यासम्भवः, संख्यायाः परिच्छेदरूपत्वात्, तस्य च तत्रासम्भवात्। यथैव

जो व्यक्ति समग्र शब्द को ग्रहण करने योग्य आध्यात्मिक एवं बौद्धिक क्षमता से मुक्त नहीं हैं, उनके लिए वर्णों की अनेकता ही शब्द-सत्ता के ग्रहण की निमित्त है। उन्हें अन्य व्यक्तियों द्वारा शिक्षित किये जाने की आवश्यकता होती है और शिक्षक द्वारा प्रयुक्त साधन एवं प्रक्रिया अनिवार्य तौर पर अनेकत्व का रूप धारण कर लेते हैं। यदि निमित्त की यह अनेकता परिणाम को भी प्रभावित करती है, तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। निरवयव शब्द की अनेकत्वयुक्त वर्णों के साथ भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वर्णों की अनेकता ही उसकी अभिव्यक्ति का कारण है। किन्तु इससे दार्शनिकों के लिए कोई कठिनाई उपस्थिति नहीं होनी चाहिए। शुद्ध चैतन्य को चरम-सत्य मानने वालों को फिर भी यह मानना पड़ता है कि व्यावहारिक स्तर पर, अन्तर्वस्तु अथवा वस्तुनिष्ठ निर्देश से रहित कोई संज्ञान संभव नहीं। शब्द की यही स्थिति है। स्वयं में यह सर्वथा क्रमनिरपेक्ष है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर यह अनेकत्व से निर्मित प्रतीत होता है। वर्णों की नित्यता में विश्वास रखने वाला मीमांसक उनके स्वर एवं मात्रासम्बन्धी भेदों को नहीं नकार सकता[1]। जिन्हें संध्यक्षर कहा गया है वे निरवयव वर्ण ही हैं, तथापि व्याकरण की दृष्टि से उन्हें दो या दो से अधिक स्वरों से निर्मित माना जाता है। वर्णों के भेदों की व्याख्या में कहा जाता है कि ये भेद उच्चारण के तरीकों की भिन्नता के कारण हैं। कुछ ऐसी ही व्याख्या स्फोटवादी भी प्रस्तुत करता है। यह आधारभूत सत्य कि एकात्मक शब्द अनुभव में आता है और केवल एक समग्र शब्द ही अर्थ को व्यक्त कर सकता है, अविभाज्य शब्द का पर्याप्त प्रमाण है, जिसे स्वीकार न करने पर विसंगतियाँ उत्पन्न होंगी।

यह निर्विवाद है कि हम एकात्मक शब्द को वर्णों की अनेकता के माध्यम में ग्रहण करते हैं। सत्य के सन्दर्भ में एकत्व और नानात्व दोनों का कथन नहीं हो सकता। नानात्व केवल ऊपरी है और एकत्व अविवाद्य प्रत्यभिज्ञा के आधार पर प्रमाणित होता है। जब किसी वैदिक अथवा लौकिक पाठ का उच्चारण अनेक विद्यार्थियों द्वारा किया जाता है, तो वह भिन्न-भिन्न कण्ठस्वरों, भिन्न-भिन्न आरोह-अवरोहों एवं लयों से युक्त सुनाई देता है; किन्तु किसी शिक्षित व्यक्ति को पाठ के एकत्व को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती। इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नानात्व केवल आनुषंगिक है और एकत्व ही सत्य है[2]।

चोत्पत्तौ क्षीरबीजादिकार्याणामानुपूर्वीनियमस्तथोपलब्धावपि। तस्मात् परोपदर्शितशब्द-तत्त्वग्राहिणामनन्योपायतया विपर्यासनियमः। —स्फो. सि., पृ. १५२-५४।

१. यथा च ज्ञानस्यासद्ग्राह्याकारानुकारविपर्यासोपप्लवो नियतः, तथा वागात्मनोऽपि सदृश-व्यञ्जकध्वनिभेदानुकारात् क्रमभावी विपर्यासोपप्लवः। तथा हि, येषामपि वाक्तत्त्वमविद्य-मानभागावच्छेदमित्यभ्युपगमः, तेऽपि भागक्रमसंसर्गलक्षणमन्यं चोदात्तदीर्घत्वादिरूपमुपप्लवं नियतं न तस्यावजानते।—स्फो. सि., पृ. १५९-६१।

२. तथा दीर्घादिभेदानुगमेऽपि वर्णात्मा प्रत्यभिज्ञाबलेन विधूतभेद एकोऽवगम्यते, तथा पदमपि स्वप्रत्ययावगम्यमानैकस्वभावं किञ्चिद्भेदपरामर्शेऽप्यभिन्नं निश्चीयते।—स्फो.सि., पृ.१६७।

किन्तु प्रतिपक्षी फिर शंका करता है कि निरवयव शब्द की प्रतिष्ठा के लिये प्रयुक्त प्रक्रिया को सीधे अर्थबोध पर क्यों न लागू कर दिया जाए। आखिर निरवयव स्फोट-सत्ता की स्थापना का प्रयास अर्थ-संप्रेषण की व्याख्या के लिये ही तो है; यह अपने आप में तो लक्ष्य है नहीं। यदि स्फोट-सत्ता की सिद्धि में अपेक्षित सभी सोपान अर्थ-संप्रेषण के निमित्त के रूप में उपलब्ध हों, तो यह एक स्पष्ट उपलब्धि होगी। यह प्रस्थापना जटिलतायुक्त है कि वर्ण अथवा ध्वनियाँ पहले एक स्फोट-सत्ता को प्रकाशित करती हैं और फिर यह स्फोट अर्थ को व्यक्त करता है। प्रतिपक्षी का आग्रह केवल इतना है कि स्फोट की अभिव्यक्ति के निमित्त अर्थ-संप्रेषण में स्वतः समर्थ हैं। इस प्रकार वह अनायास ही एक मध्यवर्ती अवस्था से मुक्ति पा लेता है। उत्तर में स्फोटवादी का कथन है कि यदि ज्ञान के स्वीकृत कारणों से निरपेक्ष तार्किक लाघव ही प्रमाण के निर्णय में एकमात्र मापदण्ड होता, तो प्रतिपक्षी की स्थिति सर्वस्वीकृत हो सकती थी। लेकिन दुर्भाग्य से या सौभाग्य से, सत्य के अन्वेषक को विभिन्न दिशाओं से समस्या पर पड़ने वाले समस्त आलोक को ध्यान में रखना होता है, तथ्य यह है कि स्फोट-सिद्धान्त मनोविज्ञान के साक्ष्य के अनुरूप है। किसी अवसर पर हमें शब्द की धुंधली-सी अन्तःप्रज्ञा होती है, जबकि किसी अन्य अवसर पर यह अन्तःप्रज्ञा बिल्कुल स्पष्ट होती है। अब पर्यायशः आने वाला शब्द का यह अस्पष्ट एवं स्पष्ट प्रस्तुतीकरण एक ऐसी सत्ता के अस्तित्व का सूचक है, जो प्रत्यक्ष का विषय है। केवल प्रत्यक्ष ही अन्तर्वस्तु को स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत कर सकता है[1]। यदि केवल ध्वनियाँ या वर्ण ही अर्थ-संप्रेषण के लिए पर्याप्त होते, तो अन्तर्वस्तु के विषय में स्पष्ट या अस्पष्ट जैसा कोई गुणात्मक परिवर्तन संभव नहीं था। यही तथ्य निरवयव शब्दसत्ता को अर्थ-बोध का निमित्त मानने के लिए बाध्य करता है।

निरवयव शब्द अन्तःप्रज्ञा का विषय है और इसलिए यह कभी स्पष्टतया और कभी अस्पष्ट रूप में उपलब्ध होता है। ध्वनियों के माध्यम से शब्द की अन्तःप्रज्ञा की उपलब्धि सर्वथा असंदिग्ध है। 'गौ' शब्द अर्थ को व्यक्त करता है, ऐसा बोध निश्चय ही निराधार कहकर नहीं टाला जा सकता। इस ज्ञान की कोई अन्तर्वस्तु निश्चित रूप से होनी चाहिए। यह अन्तर्वस्तु पृथक्-पृथक् वर्ण नहीं हो सकते, क्योंकि इसकी अनुभूति एकात्मक है, अनेकात्मक नहीं। यह अन्तःप्रज्ञात्मक एकात्मक सत्ता बहुविध वर्णों से भिन्न होने के कारण एक पृथक् सत्ता है, जिसे वैयाकरणों ने शब्द की संज्ञा दी है।

किन्तु कुमारिल इस स्थिति के विरोध में गम्भीर आपत्तियाँ उठाते हैं। उनके मत में 'गौः' आदि जैसा तथाकथित शब्द एक निरवयव सत्ता नहीं है। यह एक संग्रथित पदार्थ है और विभिन्न वर्ण इसके अवयव हैं। यदि यह वर्णों से भिन्न होता, तो वर्णों से निरपेक्ष, एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में इसकी प्रतीति होनी चाहिए थी; किन्तु अनुभूति केवल वर्णों की ही होती है, उनसे विजातीय किसी पदार्थ की नहीं। अन्तर मात्र इतना है कि जहाँ पूर्ववर्ती संज्ञानों में प्रत्येक का विषय एक-एक वर्ण है,

---

१. प्रत्यक्षज्ञाननियता व्यक्ताव्यक्तावभासिता। —स्फो. सि., पृ. १६९।

वहीं अन्तिम संज्ञान उन सभी को एक साथ विषय बनाता है। किन्तु मात्र इस भेद से इस विश्वास को समर्थन नहीं मिलता कि अर्थवान् शब्द संख्यात्मक एवं गुणात्मक दृष्टि से एक भिन्न सत्ता है। स्फोटवादी कितना ही तर्क करे, उसे यह तथ्य दृष्टि में रखना होगा कि तथाकथित स्फोट का पृथक्-पृथक् वर्णों से स्वतन्त्र रूप में ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार अर्थवान् शब्द एक नानात्मक सत्ता है। इस नानात्मक सत्ता का संज्ञान एक अवश्य है; किन्तु इस संज्ञान की अन्तर्वस्तु वैसी नहीं है। संज्ञान का एकत्व ही अन्तर्वस्तु की एकात्मकता का भ्रम उपस्थित करता है। अन्तर्वस्तु यद्यपि वर्णों का नानात्व है; तथापि एक अविभाज्य संज्ञान में गृहीत होने के कारण यह एक सत्ता के रूप में अनुभूत होती है। छोटे-छोटे शब्दों के प्रसंग में यह भ्रम स्वाभाविक भी है, किन्तु किसी भी बड़े शब्द में अन्तर्वस्तु की भेदात्मकता स्पष्टतया प्रतीत होती है। इस प्रकार अन्तर्वस्तु का एकत्व वास्तविक न होकर संज्ञान के स्वरूप का अन्तर्वस्तु में अविचारित अतिदेश-मात्र है[1]।

इसके उत्तर में मण्डन मिश्र का कहना है कि प्रतिपक्षी इस भ्रम में है कि वर्णों की दृष्ट अनेकता शब्द के एकत्व से मेल नहीं खाती। यह सही है कि शब्द की प्रतीति वर्णों की अनेकता के साथ होती है, उनके असंसक्त रूप में नहीं। हमारी बुद्धि अपनी सीमाओं के कारण वर्णों से पृथक् एवं स्वतन्त्र रूप में अखण्ड शब्द का ग्रहण नहीं कर पाती; किन्तु इससे एकत्व की अन्तःप्रज्ञा निराकृत नहीं होती। एकत्व का पृथक्तया ग्रहण न हो पाना और अनेकत्व के बोध के साथ इसका घुल-मिल जाना यह सिद्ध नहीं करता कि एकत्व भ्रम है। यों जाति का बोध भी कभी पृथक् से नहीं होता। यह व्यक्ति से संयुक्त रूप में ही गृहीत होती है। अवयवी का ग्रहण कभी भी अपने अवयवों से अलग होकर नहीं होता। विविधवर्णी अवयवों वाले चित्र के अनेकात्मक वर्ण का नानाविध वर्णों से अभेद स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में समग्र का अपना कोई रूप नहीं होगा और इस प्रकार उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष असंभव हो जाएगा। बल्कि नानाविध वर्णों से विविक्त रूप में प्रतीत न होने के बावजूद इस अनेकात्मक वर्ण को अनिवार्य तौर पर विविध वर्णों से भिन्न एक स्व-अभिन्न सत्ता मानना होगा। एक और उदाहरण देखें। किसी भी पदार्थ का चाक्षुष-प्रत्यक्ष सदैव प्रकाश के ग्रहण पर अवलम्बित है; किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह पदार्थ (जैसे लेखनी या घट) प्रकाश से इतर कुछ है ही नहीं। यह तर्क दिया गया है कि उक्त स्थलों में पदार्थ का अपने अनुषंगों से अलग एक विशिष्ट बोध होता है, जो हमें इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के लिए बाध्य करता है; किन्तु यही स्थिति तो शब्द की भी है। उसकी भी एकात्मक तत्त्व के रूप में अनुभूति होती है और इसलिये वही बाध्यता यहाँ भी है[2]।

१. ज्ञेये तु तद्ग्राह्यतयैकार्थकारितया वैकत्वभ्रमः, एकत्वोपचारो वा वनादिवत्।
—स्फो. सि., पृ. १७५।

२. अन्यानुविद्धबोधेऽपि नान्यत्वमुपरुध्यते।
एकरूपपरिच्छेदे कथमन्याप्रकाशनम्॥ —स्फो. सि., २४।

यह कहना एक आत्मघाती तर्क है कि 'शब्द का अनुभूत एकत्व केवल प्रतिनिधिक अतिदेश का उदाहरण है, क्योंकि इसका ग्रहण एक अकेले संज्ञान द्वारा होता है'। इससे तो एकत्व का ज्ञान सर्वथा संदिग्ध और अविश्वसनीय हो जाएगा। समग्र को संज्ञान की एकात्मता पर आधारित मिथ्या एकात्मता का उदाहरण कहकर टाला जा सकता है। अब यदि यही प्रक्रिया अपने चरम बिन्दु तक बढ़ाई जाए, तो केवल परमाणु को ही एकात्मक सत्ता माना जा सकेगा। बल्कि वह भी संभव न होगा; क्योंकि परमाणु के एकत्व का कारण भी संज्ञान के एकत्व को बताया जा सकेगा। यहाँ तक कि स्वयं संज्ञान का एकत्व भी निर्विवाद नहीं रह पाएगा, क्योंकि संज्ञान की अनुभूत एकात्मकता के विषय में भी यह संदेह किया जा सकता है कि यह पदार्थ की एकात्मता के फलस्वरूप प्रतीत होती है। इस प्रकार कहीं भी एकत्व की निश्चितता न होगी। यह संशयवाद की पराकाष्ठा है।

इसके अलावा, आगामी विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि शब्द का संज्ञान हुए बिना अर्थ का संज्ञान कदापि संभव नहीं है। एक शब्द अनेक पदों में विभाज्य हो सकता है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी का gortune शब्द ले लें। यदि इसको gort एवं une, इन दो विभागों में विभक्त कर दिया जाए, तो प्रथम शब्द सर्वथा भिन्न अर्थ को प्रकट करता है। अथवा हम 'कुमार' शब्द को ले सकते हैं। 'कु' शब्द का अर्थ है 'कुत्सित' एवं 'मार' का अर्थ है 'कामदेव'। किन्तु सम्पूर्ण शब्द एक अलग ही अर्थ का अभिधान करता है। अतः अर्थ का बोध शब्द की सीमा के निर्धारण पर निर्भर है। वर्णों की अनेकता स्वतः अर्थ से संबद्ध नहीं हो सकती। अब, यदि शब्द के एकत्व का निर्धारण अर्थैकत्व द्वारा हो, तो यहाँ इतरेतराश्रय तर्कदोष (circular argument) प्रसक्त होगा। अर्थ के अवधारण की सामर्थ्य एकात्मक शब्द में है और यदि शब्द का अवधारण अर्थ के माध्यम से होने लगे, तो गतिरोध उत्पन्न हो जाएगा[1]।

इस प्रकार शब्द का एकत्व एक अविवाद्य 'प्रदत्त' है। यदि एकत्व वास्तविक न हो और वर्ण-समुदाय ही सत्य हो, तो घटक वर्ण वही होने पर भी शब्दों व उनके अर्थों में भेद क्यों आ जाता है, यह स्पष्ट करना असंभव हो जाएगा। उदाहरण के तौर पर नदी, दीन, जरा और राज जैसे शब्द ले लें। ये पृथक्-पृथक् अर्थ लिए हुए सर्वथा पृथक् शब्द हैं। यदि शब्द को केवल वर्णों का समूह मानें, तो यह भेद अव्याख्येय ही रहेगा; क्योंकि प्रत्येक युग्म में संघटक वर्ण तो समान हैं। क्रमभेद समूह में कोई भेद उत्पन्न नहीं करता। यदि शब्द अवयवों से निर्मित अवयवी होता, तो क्रमभेद से शब्द के बोध में कोई अन्तर नहीं आता। हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न तन्तुवों से निर्मित पट को किसी भी छोर से देखें, उसका ज्ञान वही रहता है। वन का ग्रहण चाहे इस सिरे से करें या दूसरे सिरे से, उसका बोध वन के रूप में ही होता है। इस प्रकार समूह या संघात अनेक इकाइयों का समुच्चय है और परिप्रेक्ष्य के परिवर्तित

---

१. अर्थस्याधिगमो नर्ते पदरूपावधारणात्।
तदर्थबोधाद्यदि च व्यक्तमन्योऽन्यसंभवः॥ —स्फो. सि., २६।

होने पर भी उन इकाइयों के विन्यास का क्रम इस समूह के स्वरूप में न कुछ बढ़ाता है, न घटाता है। यदि शब्द भी ऐसे समूहों की भाँति होते, तो केवल घटक वर्णों की अभिन्नता ही महत्त्वपूर्ण होती और विन्यास के क्रम का भेद सर्वथा महत्त्वहीन होता; किन्तु पूर्वोदाहृत पदों के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि वे वर्णों की अभिन्नता से निरपेक्ष सर्वथा भिन्न सत्ताएँ हैं। इससे सिद्ध होता है कि शब्द का एकत्व वर्णों के अनेकत्व के बावजूद एक प्रत्यक्षतः अनुभूत तथ्य है, जिसके निराकरण का प्रयास विसंगतियों को जन्म दिये बिना नहीं रह सकता[1]।

इसके अतिरिक्त, यदि पृथक् सत्ता के रूप में शब्दों या वाक्यों का ज्ञान पूर्व शर्त न हो, तो उनकी संख्यात्मक एकता अथवा भिन्नता का निर्धारण असम्भव है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार विभिन्न वर्ण शब्द के अनुभूत एकत्व का स्पष्टीकरण देने में असफल रहते हैं। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि वही अथवा सदृश वर्ण किस प्रकार सर्वथा भिन्न शब्दों को व्यक्त करते हैं। शब्द के एकत्व या अनेकत्व का कारण स्पष्ट करने में वर्णों (वे चाहे भिन्न हों या सदृश) की यह असफलता एक ऐसी विसंगति है, जो अविभाज्य सत्ताओं के रूप में शब्दों का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रमाणित करती है। यह आपत्ति निरर्थक सिद्ध हो चुकी है कि वर्णों या ध्वनियों के अनेकत्व से अलग एकत्व की प्रतीति नहीं होती, जब एक सत्ता का बोध दूसरी के बोध का निमित्त होगा, तो विभिन्न सत्ताओं का एक साथ ग्रहण अवश्यम्भावी है। प्रकाश अथवा रंगों जैसे अनेक उदाहरणों द्वारा इस नियम का मिथ्यात्व सिद्ध हो चुका है कि किसी वस्तु का पृथक्तया ग्रहण न हो पाना, उसके भ्रम होने का प्रमाण है। स्फोटवादी किसी भी शब्द या वाक्य को अवयवनिर्मित सत्ता नहीं कहता, इसलिए अवयव-अवयवी-सम्बन्ध की तथाकथित तार्किक अशक्यता पर आधारित आपत्तियाँ[2] उसकी स्थिति को कथमपि प्रभावित नहीं करतीं। यह खूब स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द को निरवयव मानने पर भी उसके क्रमशः प्रकाशन में कोई तार्किक बाधा नहीं है। इसके अतिरिक्त वर्णों को उत्पाद्य एवं तुरन्त विनाश्य मानने पर इनके संख्यात्मक भेद का कथन भी उचित होगा; किन्तु यदि वर्ण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित होने के कारण प्रत्येक अवसर पर भिन्न हो, तो उससे अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकेगी? वास्तविकता में यह देखा जाता है कि पृथक्-पृथक् व्यक्तियों द्वारा उच्चरित समरूप वर्ण एक समान अर्थ का अभिधान करते हैं। अतः यह स्वीकार करना होगा कि वर्ण केवल अपनी समरूपता की दृष्टि से ही सार्थक हैं, बल्कि और साफ तौर पर कहें कि जब ऐसी प्रतीति हो कि ये वही वर्ण हैं; किन्तु वर्णों में 'वही' अथवा 'सदृश' की प्रतीति कौन सा तत्त्व कराता है? यदि यह मानें कि प्रत्येक वर्ण में एक वर्णजाति है, जो उसे अभिन्नता प्रदान करती है, तो इससे उन मामलों में तो शब्दार्थ-सम्बन्ध को

---

१. भिन्नक्रमेऽपि विज्ञाने समूहिषु न भेदवान्।
समूहः पदरूपं तु स्पष्टभेदं प्रतीयते ॥ —स्फो. सि., २७।

२. स्फो. सि., पृ. २१३-१६।

व्याख्यायित किया जा सकता है, जहाँ वे एक ही शब्द के घटक हैं; किन्तु जाति की अभिन्नता के कारण वर्ण भी अभिन्न ही प्रतीत होंगे। अब, चूँकि प्रतिपक्षी शब्दों को इन वर्णों द्वारा निर्मित मानता है, अतः शब्दों एवं अर्थों की विविधता का कारण स्पष्ट करना असम्भव हो जायगा। जब विभिन्न शब्दों की वर्णों से बाह्य एवं उनसे स्वतन्त्र रूप से कोई वस्तुसत्ता ही नहीं है और विभिन्न प्रकार के सभी वर्ण प्राक्कल्पनानुसार एक अभिन्न जाति के कारण अभिन्न हैं, तो एक वर्ण एवं दूसरे वर्ण, और इसलिये एक शब्द और दूसरे शब्द, के बीच कोई भेद न होगा। वर्णों के क्रम और संयोजन को भेदकारक निमित्त माना जा सकता है; किन्तु इस प्राक्कल्पना की निरर्थकता हम पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि क्रम-परिवर्तन शब्दों के 'सत्' में किसी भेद का आधान नहीं करता और, कि किस प्रकार अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित होने पर वही वर्णानुपूर्वी अर्थप्रत्यायन की सामर्थ्य खो देती है।

बौद्धों ने वर्णों के क्रम और संयोजन की व्याख्या वक्ता के मन में विभिन्न प्रत्ययों की उत्पत्ति के रूप में की है। उनके अनुसार कोई भी वर्ण केवल एक प्रत्यय है, जो किसी पूर्ववर्ती प्रत्यय से उत्पन्न हुआ है और पृथक्-पृथक् प्रत्ययों के पृथक्-पृथक् कारण हैं। 'सरः' और 'रसः' जैसे शब्दों में भेद इसी कारण है; क्योंकि प्रत्ययों के रूप में वर्णों को सदृश या अभिन्न भले ही मान लिया जाए; किन्तु काल-क्रम के भेद के कारण उन्हें उत्पन्न करने वाले कारणों में भेद है और यह भेद दोनों वर्णसमूहों को अभिन्न नहीं होने देता। इस प्राक्कल्पना में क्षणस्थायी सत्ताओं के संघात की शक्यता के विरुद्ध उठने वाली आपत्तियाँ तो हैं ही, उनके अतिरिक्त भी यह अन्य अनेक गम्भीर आपत्तियों से ग्रस्त है। शब्दभेद को कारणों अथवा उनके कालिक भेद के आधार पर व्याख्यात करने का प्रयास किया गया है। यदि यह सही हो, तो शब्दों के भेद की प्रतीति केवल तभी होगी, जब कारणों के भेद का ग्रहण हो सके और यदि कारणों का भेद भिन्न-भिन्न अर्थों के बोध का निमित्त हो, तो भी इस भेद का ग्रहण पहले होना अनिवार्य है, जबकि यह असंभव है। अन्य व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं का भेद सीधे तौर पर ज्ञेय नहीं, यह शब्दैकत्व की उपलब्धि के द्वारा अनुमेय है; किन्तु यदि शब्द का एकत्व वक्ता के एकत्व पर अवलम्बित हो, तो इसकी उपलब्धि सम्भव न होगी। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वक्ता जब किसी व्यवधान से छिपा हो, अथवा, जब वह एक साथ नारे लगाने वाली किसी भीड़ का हिस्सा हो, तो उसके एकत्व की अनुभूति नहीं हो सकती। ये सभी हेतु अर्थ की वाहक एक निरवयव शब्द-सत्ता को स्वीकारने के लिए बाध्य करते हैं। इसके नित्यत्व की सिद्धि इस तथ्य से होती है कि काल, देश या वक्ता के भेद से निरपेक्ष यह सभी स्थितियों में अर्थ को व्यक्त करती है। यदि शब्द नश्वर और इस कारण प्रत्येक अवसर पर संख्यात्मक रूप से भिन्न होता, तो शब्दार्थ-संबन्ध का बोध संभव न होता।

स्फोट-सिद्धान्त की श्रेष्ठता इस तथ्य में निहित है कि सहज बोध के निर्णय को विकृत करने का प्रयास नहीं करता। हम सभी निर्विवाद रूप से यह महसूस करते हैं

कि शब्द अर्थ को व्यक्त करता है और अलग-अलग मौकों पर घटित होने के बावजूद एक और वही रहता है। एकत्व के इस अनुभव में वस्तु का एकत्व अपेक्षित है, बशर्ते इसे भ्रम कहकर तिरस्कृत ही न कर दिया जाए। यह सर्वथा उचित है कि वैयाकरण-दार्शनिक हमारे ज्ञान के इस आधारभूत वैशिष्ट्य पर बल देता है। उसने यह दिखलाया है कि अन्य सम्प्रदायों से संबद्ध दार्शनिक शब्द के अनुभूत एकत्व का कारण स्पष्ट करने में असफल रहे हैं और समस्त वैदग्ध्य-सम्पदा के प्रदर्शन के बावजूद उनके दार्शनिक-व्यायाम-दर्शन के किसी भी सीधे-सादे और पूर्वाग्रहमुक्त अध्येता को आश्वस्त करने में सक्षम नहीं हैं। हमारा कार्य भर्तृहरि और उनके अनुयायियों के दर्शन का यथातथ्य निरूपण करना रहा है। इस प्रसंग में प्रतिपक्षी सम्प्रदायों के मतों और उनके तर्कों का विवेचन और मूल्यांकन अपरिहार्य हो गया। इससे आधुनिक अध्येता को अपनी स्वतन्त्र धारणा बनाने के लिए प्रचुर आधार-सामग्री मिलेगी।



सप्तमोन्मेष

शब्दार्थ

यह भली-भाँति स्पष्ट किया जा चुका है कि विचाराभिव्यक्ति के रूप में वाक्य की अविभाज्यता में दृढ़-विश्वास रखते हुए भी वैयाकरण किसी विशेष अभिप्राय या अर्थ के वाहक पद के व्यावहारिक महत्त्व को मान्यता देता है। शब्दार्थ के स्वरूप पर वैयाकरण मत की समीक्षा करने से पूर्व इसी विषय पर भारतीय-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के मतों का सर्वेक्षण काफी रोचक अध्ययन होगा। शब्द के वाच्यार्थ के सम्बन्ध में असंख्य मतों के अस्तित्व की सूचना कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में दी है[1]। हम इनमें कतिपय विशेष महत्त्वपूर्ण मतों का परीक्षण करेंगे।

आकृतिवाद—

प्रारम्भ में ही आकृतिवादी की चर्चा आवश्यक है। आकृतिवादी के अनुसार शब्दार्थ का निश्चय यह जानने के उपरान्त ही होता है कि शब्द का प्रयोग कैसे हुआ है और किस प्रकार वह समझा गया है। और भी स्पष्टतया कहें कि किसी पदविशेष के वाच्यार्थ का निर्णय इस आधार पर होता है कि वक्ता क्या संप्रेषित करना चाहता है और संबोधित व्यक्ति उसे सुनने पर क्या समझता है। सो, शब्द के अभिप्राय को समझ पाना कठिन नहीं है। 'गौ' शब्द अयाल, तीखे पंजे और दाँत एवं ऐसे ही अन्य शारीरिक आकारों से युक्त पशुओं के लिए कभी भी प्रयुक्त नहीं होता, इसके विपरीत वह गलकम्बल, सींग और ऐसे अन्य लक्षणों से युक्त प्राणी का संकेत करता है। इसी तथ्य से हम 'गो' शब्द के अर्थ को समझ पाते हैं। यह अर्थ है आकृति, और इसलिए आकृति ही शब्दार्थ है।

आकृतिवादी यह भी याद दिलाता है कि प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य पदार्थ आकृति ही है और यदि शब्द के प्रयोग का उद्देश्य प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयीभूत पदार्थों को व्यञ्जित करना है, तो आकृति को शब्दार्थ मानना ही सर्वथा युक्तियुक्त है। वस्तुतः गौ का अवयवसंस्थान ही भैंस से उसके पार्थक्य को स्पष्ट करता है और इस बात की सत्यता प्रत्यक्षसिद्ध है[2]।

विभिन्न सम्प्रदायों के चिन्तकों द्वारा आकृतिवादी के मत पर गम्भीर ध्यान न दिया जाना ही इसकी स्वाभाविक सदोषता को भलीभाँति प्रमाणित करता है। आकृति का सम्पूर्ण प्रश्न वस्तुसत्ता के स्वरूप के लगभग सतही अवलोकन पर ही

---

१. त. वा., पृ. २९३।

२. अतः प्रत्यक्षविषये पदं प्रवर्तमानमाकृतावेव वर्तितुमर्हति।—न्या. मं., १, पृ. २९।

आधारित है। पशु एवं वनस्पति जगत् की कुछ विशेष किस्मों के मामले में तो इस प्रश्न की कुछ प्रासंगिकता हो सकती है; किन्तु भौतिक पदार्थों तक के सन्दर्भ में, यदि उनका कोई निश्चित संस्थान अथवा आकृतिमूलक वैशिष्ट्य नहीं है तो, यह प्रश्न सर्वथा असंगत हो जाता है। फिर अमूर्त भावों के सम्बन्ध में तो यह असंगति और भी बढ़ जाती है[1]। इसके अतिरिक्त अवयवों का विन्यास होने के नाते आकृति प्रत्येक मामले में भिन्न होगी, क्योंकि अवयव और परिणामतः उनका संस्थान, अनिवार्यतः संख्यात्मक रूप से भिन्न होंगे ही। अतः आकृति भी व्यक्ति जितनी ही विशेषात्मक है और इसलिए उसे शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। शब्दार्थ तो ऐसा होना चाहिए, जो किसी वर्ग के सभी सदस्यों के सन्दर्भ में समान हो।

व्यक्तिवाद एवं जातिवाद—

इसके उपरान्त व्यक्तिवादी एवं जातिवादी, दोनों मतों का अध्ययन कर लिया जाए, जिनके अनुसार क्रमशः व्यक्ति एवं जाति शब्द वाच्यार्थ हैं। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि व्यवहार में सभी प्रयोजनों के लिये सदैव व्यक्ति को हो उद्दिष्ट किया जाता है, जाति को नहीं। यह तथ्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता कि व्यक्ति ही प्रबुद्ध-क्रिया से युक्त है, कि यही किसी कार्य को करने अथवा उससे विमुख होने में समर्थ है और, कि केवल यही किसी व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति करता है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करें—जब हमें किसी गौ को लाने के लिए कहा जाता है, तो यह बिल्कुल साफ होता है कि गो-व्यक्ति को ही लाना है, न कि अतीत, अनागत, एवं वर्तमान— हमारे आस-पास दीखने वाली और हमसे बहुत दूर स्थित—गौओं के सम्पूर्ण वर्ग में विद्यमान गो-जाति को। व्यक्तिवादी का यह भी आग्रह है कि अमूर्त जाति प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय नहीं हो सकती, व्यक्ति ही प्रत्यक्ष का विषय बन सकता है। अब चूंकि इस विषय में आम सहमति है कि शब्द का वाच्यार्थ प्रत्यक्षग्राह्य वस्तु ही है, अतः व्यक्ति को पदार्थ कहना सर्वथा उपयुक्त है[2]। और फिर व्यक्तिवादी की दलील है, निरपेक्ष जाति को पदार्थ मानने वाला जातिवादी भी यह मानने के लिए बाध्य है कि कई बार पद का अर्थ अपने क्षेत्र में व्यक्ति को भी समेटता है। इस कारण व्यक्तिवादी व्यक्ति को ही पदार्थ के रूप में स्वीकार करने पर बल देता है।

किन्तु जातिवादी अपने प्रतिपक्षी के मत की तीव्र आलोचना करता है। उसका कहना है कि इस लोक में और अन्य लोकों में भी असंख्य गाएँ हैं और व्यक्तियों के रूप में इन गायों में परस्पर आयु, आकृति और रूप इत्यादि की दृष्टि से व्यापक

---

१. अनाकृतिव्यङ्ग्यं जातौ मृत्सुवर्णं रजतमित्येवमादिष्वाकृतिर्निवर्तते जहाति पदार्थत्वमिति।
—न्या. भा., न्या. सू., २.२.६८ पर।

२. प्रत्यक्षविषये वृत्तिः पदस्येष्टा परैरपि।
निष्कृष्टं न च सामान्यमात्रं प्रत्यक्षगोचरः॥
व्यक्तेरेव पदार्थत्वं तस्मादभ्युपगम्यताम्। —न्या. मं., पृ. २९२।

अन्तर है। और यदि 'गौ' शब्द का अर्थ कोई विशेष गो-व्यक्ति हो, जैसे इस उदाहरण में कि "वह गौ जो मैंने वाराणसी में देखी थी," तो किसी अन्य विशेष गौ को सूचित करने के लिये इस शब्द का प्रयोग न हो सकेगा। उदाहरणार्थ फिर हम ऐसा कुछ नहीं कह सकेंगे कि "वह गौ जिसे मैंने दिल्ली में देखा था"। दोनों गौएँ अनेक अर्थों में एक-दूसरी से भिन्न हैं। तथ्य तो यह है कि कोई भी दो पदार्थ पूर्णतया अभिन्न नहीं हो सकते। इसलिये यदि 'गौ' शब्द का अर्थ कोई विशेष गाय हो, तो उससे इतना अधिक भिन्न प्रतीत होने वाली किसी अन्य गाय के बोध के लिये हमें कोई दूसरा शब्द खोजना होगा। किन्तु प्रत्येक गो-व्यक्ति के लिए एक पृथक् शब्द गढ़ने का सुझाव व्यावहारिक असुविधा के कारण विचारणीय नहीं है। यही कारण है कि जैमिनि एवं उनके अनुयायी व्यक्तिवादी के सिद्धान्त से असहमत हैं। एक बच्चे को बताया जाता है कि उसके सम्मुख खड़ा हुआ पशु अश्व है। बाद में संयोगवश वह दूसरा कोई अश्व देखता है और उसे भी वह अश्व ही कहता है। वह क्या है जो बालक को ऐसा कहने के लिये प्रेरित करता है? यदि उसके द्वारा पहले देखा हुआ अश्वविशेष 'अश्व' शब्द का अर्थ होता, तो दूसरे अश्व को भी उसके द्वारा वही नाम दिया जाना सर्वथा अनुपपन्न होता; किन्तु हमें मानना पड़ेगा कि उसका प्रयोग बिल्कुल सही है। इस गुत्थी को कैसे सुलझाया जाए? जातिवादी का उत्तर होगा कि असंख्य अश्वों में कुछ चरित्रगत साम्य है, जिसके आधार पर हम उनमें से प्रत्येक के लिये 'अश्व' शब्द का प्रयोग कर पाते हैं। जातिवादी के मत में, यही साम्य, जिसे हम जाति या सामान्य कहते हैं, पद का अर्थ है। प्रसंगवश, यह भी बता दिया जाए कि व्यक्तिवादी ने अपने प्रतिपक्षी द्वारा की गई आलोचनाओं के प्रकाश में अपने सिद्धान्त को पुनः गढ़ने का प्रयास किया है और वह स्वीकार करता है कि शब्द का अर्थ जाति को भी व्यञ्जित करता है। किन्तु वह मानता है कि शब्द द्वारा व्यञ्जित होने पर भी उसके अर्थ में जाति का समावेश नहीं होता। जिस प्रकार कारणता का निर्धारक (कारणतावच्छेदक) स्वयं कारण नहीं माना जाता, उसी प्रकार किसी शब्द द्वारा व्यञ्जित जाति को शब्दार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार, व्यक्तिवादी के अनुसार शब्द का अर्थ केवल व्यक्ति है, जबकि जाति उस शब्दार्थ की निर्धारक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गौ' शब्द क्यों 'घोड़ा' या 'भैंस' के नाम से ज्ञात प्राणी का अभिधान नहीं करता।

हमने व्यक्तिवादी के दृष्टिकोण को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है और इसके उपरान्त हम जातिवादी का सिद्धान्त सामने रखेंगे। जातिवादी का प्रश्न है: व्यक्तिवादी के मत में शब्दार्थ कोई भी व्यक्ति है या कोई विशेष-व्यक्ति? स्पष्ट है कि प्रथम विकल्प तो स्वीकार्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, 'गौ' शब्द का अर्थ मनुष्य या सिंह कभी नहीं होता। दूसरे विकल्प के सूक्ष्म विश्लेषण से स्पष्ट होगा कि शब्द जिस किसी भी निरपेक्ष व्यक्ति का अभिधान न करके जाति द्वारा निर्धारित या विशिष्ट व्यक्ति का अभिधान करता है। जातिवादी का कहना है कि तार्किक मितव्ययिता (लाघव) के नियमों के अनुसार जातिविशिष्ट व्यक्ति को शब्दार्थ न

मानकर जाति को ही शब्दार्थ मानना वांछनीय है। वह प्रश्न करता है—व्यक्ति के निर्धारक के रूप में जाति का ग्रहण होना आवश्यक है या नहीं[1] ? यदि जाति का ज्ञान आवश्यक मानें तो इस ज्ञान के स्रोत का अन्वेषण होना चाहिए। क्या स्वयं शब्द ही जाति का ज्ञान देता है या यह ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से होता है ? इस प्रसंग में कोई और प्रमाण सक्रिय न होने के कारण यह स्वीकार करना होगा कि जाति का ज्ञान शब्द, और केवल शब्द, के कारण होता है। अब केवल यह निश्चय करना शेष है कि दो संज्ञानों—जाति और व्यक्ति—में कौन सा संज्ञान पूर्ववर्ती है। व्यक्तिवादी ने यह माना है कि शब्दार्थ के प्रसंग में व्यक्ति विशेष्य है, जबकि जाति इसकी निर्धारक अथवा विशेषण है। किन्तु जातिवादी यह दलील देता है कि चूँकि विशिष्ट संज्ञान में विशेषण का ज्ञान विशेष्य के ज्ञान से पूर्व घटित होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि प्रस्तुत प्रसंग में भी व्यक्ति का संज्ञान स्वयं जाति के संज्ञान से पूर्व घटित नहीं हो सकता[2]। इसलिए जातिवादी का आग्रह है कि जाति को ही शब्दार्थ मानना सर्वथा उपयुक्त है। व्यक्तिवादी की इस दलील को अस्वीकार नहीं किया जा रहा है कि कारकों का वाक्य में क्रिया से अन्वय व्यक्ति के संदर्भ में ही बुद्धिगम्य होता है। किन्तु जातिवादी का मत है कि यह तथ्य व्यक्ति को मुख्यार्थ मानने वाली प्राक्कल्पना की अनिवार्यता को सिद्ध नहीं करता। मुख्यार्थ तो जाति ही है और व्यक्ति की धारणा, जो वाक्यगत अन्वय के लिए आवश्यक है, तार्किक उपलक्षण द्वारा या गौण अर्थ के रूप में प्राप्त हो जाती है[3]। यह दलील भी ठीक नहीं है कि व्यक्ति को मुख्यार्थ मान लें और जाति का ज्ञान उपलक्षण से प्राप्त मान लें, क्योंकि जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि विशेषण का ज्ञान विशेष्य के ज्ञान की पूर्व शर्त है और इसलिए विशेष्य से पूर्व विशेषण का ही ज्ञान होना चाहिए, सो इस नियम के अनुसार, संज्ञान में, व्यक्ति पर जाति को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

जात्याकृतिव्यक्तिवाद—

भारतीय न्यायशास्त्र के प्रवर्तक गौतम के विचार में पूर्वोल्लिखितवादों में कोई भी एक सम्पूर्ण सत्य को उद्घाटित नहीं करता। वे निस्संकोच कहते हैं

---

१. गोत्वमिति नियामकमिति चेदायुष्मन्साधु बुध्यसे, किं तु तद्गोत्वमवगतमनवगतं वेति।

—न्या. मं, १, पृ. २९२।

२. शब्दाच्चेत्तर्हि शब्दः प्रथमतरं गोत्वे वर्त्तितुमर्हति नागृहीतविशेषणा विशिष्टे बुद्धिरिति न्यायात्। —न्या. मं., १, पृ. २९२।

यह बता देना आवश्यक है कि 'विशेष्य के ज्ञान से पूर्व विशेषण का ज्ञान आवश्यक है', ऐसा नियम केवल जातिवादी की सृष्टि नहीं है; कणाद और उनके अनुयायी भी इस सत्य को स्वीकार करते हैं; क्योंकि उनका कथन है कि श्वेत पदार्थ का बोध श्वेतता के बोध पर निर्भर करता है।

३. विशेष्ये वर्तमानो विशेषणे प्रमाणान्तरमपेक्षते, विशेषणे तु वर्तमानस्तदवगमाय विशेष्यमाक्षिपतीति न कश्चिद्दोषः। न्या. मं., १, पृ. २९३।

कि आकृति, व्यक्ति और जाति, इन तीनों सत्ताओं में से कोई भी एक अपने आप में शब्द का अर्थ नहीं हो सकती, वे यह मानते हैं कि ये तीनों ही संयुक्त रूप में शब्दार्थ हैं, न कि पृथक्-पृथक् रूप में। व्यक्ति अनेक हैं और परस्पर एक-दूसरे से भिन्न हैं और कोई यह नहीं जानता कि शब्द द्वारा अन्य सभी को छोड़कर किस व्यक्तिविशेष का अभिधान किया जा रहा है। इस आधार पर गौतम ने सिद्ध किया है कि व्यक्ति स्वतः शब्दार्थ नहीं हो सकता। आकृति भी अकेले शब्दार्थ नहीं हो सकती; क्योंकि गौ की आकृति, जिसे हम यहाँ उदाहरण के तौर पर ले रहे हैं, मृत्तिकानिर्मित गौ में भी देखी जा सकती है, और यदि आकृति को शब्दार्थ मानें तो गौ-शब्द मृत्तिकानिर्मित मूर्ति का भी अभिधान करेगा। किन्तु हम जानते हैं कि मृत्तिकानिर्मित मूर्ति गौ-शब्द का अर्थ कभी भी नहीं होती। गौतम आगे कहते हैं कि जाति भी अकेले शब्द का वाच्यार्थ नहीं हो सकतो। उनके मत में निरपेक्ष जाति कुछ ऐसी वस्तु है कि इसे समझने के हमारे सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। जाति का ग्रहण हम केवल व्यक्ति और आकृति के संदर्भ में ही कर सकते हैं।

गौतम का आग्रह है कि इन परिस्थितियों में आकृति, व्यक्ति और जाति—इन तीनों को सामूहिकरूप से शब्द का अर्थ मानना आवश्यक है। अपनी **तात्पर्यटीका** में वाचस्पति ने कहा है कि 'गौ' शब्द के उच्चारण के साथ ही इसकी अभिधायक शक्ति से परिचित कोई भी व्यक्ति गो-व्यक्ति, गोत्व-जाति और प्राणी की आकृति को एक साथ ही ग्रहण करता है।

जातिविशिष्ट-व्यक्तिवाद—

नव्यनैयायिक का इस विषय पर अपना अलग योगदान है। उसके अनुसार केवल जाति को शब्दार्थ मानना कदापि उपयुक्त नहीं है। वह इस ओर संकेत करता है कि कोई शब्द या पद दो अंशों से निर्मित होता है। ये अंश हैं—प्रकृति (प्रातिपदिक या धातु) और प्रत्यय। नैयायिक के अनुसार प्रत्यय कारक, लिङ्ग एवं संख्या का प्रत्यायन करता है। इसलिए, उसका कहना है कि यदि जाति को प्रकृति का अर्थ माना जाए, जैसा कि जातिवादी मानता है, तो इसके अर्थ का प्रत्ययार्थ से अन्वय किसी भी प्रकार सम्भव न होगा; क्योंकि, केवल व्यक्ति में ही संख्या एवं लिङ्ग द्वारा विशेषित होने की क्षमता है और कर्तृत्व, कर्मत्व इत्यादि भी व्यक्ति पर ही आरोपित किये जा सकते हैं। हम कभी भो जाति को कारक के रूप में व्यापारवान् मानकर या लिङ्ग एवं संख्या से संबद्ध करके नहीं देखते। इसलिए व्यक्ति को पदार्थ मानना ही सर्वथा उपयुक्त है। किन्तु व्यक्तियों की असंख्यता के कारण यह आवश्यक है कि किसी शब्द द्वारा अभिधेय व्यक्ति नियत या निर्धारित हों और नियमन या निर्धारण इन सभी व्यक्तियों में अन्तर्निहित जाति को लेकर हो हो सकता है। इसलिए नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति को पदार्थ कहता है।

अपोहवाद—

बौद्धों ने इस समस्या पर एक नवीन दृष्टि प्रस्तुत की है। बौद्ध-दार्शनिक के अनुसार जाति एक बौद्धिक कल्पना है और इसलिए इसे शब्दार्थ नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति स्वलक्षण है और किसी दूसरे सदृश या असदृश व्यक्ति से इसका कोई सरोकार नहीं है, इसलिए यह शाब्द-संकेत का विषय नहीं हो सकता। किन्तु फिर वह क्या है जिसका शब्द अभिधान करता है? यह तो अविवाद्य है कि शब्द किसी अर्थ की अभिव्यक्ति करता है और इसका एक वस्तुनिष्ठ बाह्य संदर्भ भी है। अब, यदि शब्द केवल मानस में अवस्थित किसी व्यक्तिनिष्ठ प्रत्यय को ही सूचित करता है, तो हम इससे जुड़े हुए वस्तुनिष्ठ संदर्भ की व्याख्या किस प्रकार करेंगे? इस प्रश्न के उत्तर में बौद्ध-दार्शनिक यह मानता है कि शब्द का अर्थ न तो व्यक्तिनिष्ठ प्रत्यय है और न वस्तुनिष्ठ सत्ता, अपितु यह एक कल्पना है। वक्ता समझता है कि वह श्रोता के लिए कोई वस्तुसत् उपस्थित कर रहा है, जबकि श्रोता भ्रमवश यह समझ लेता है कि अर्थ कोई वस्तुसत्ता है। अतः शब्द का अर्थ एक मानसिक विकल्प है, जिसका तत्त्वीकरण एक ऐसी वस्तु-सत्ता के रूप में कर दिया जाता है, जो चिन्तन-शील मन से स्वतन्त्र, अपने आप से विद्यमान है। और यह मानसिक विकल्प स्वयं में अनूठा है, इसे ऐसे अन्य मानसिक बिम्बों से पृथक् लक्षित किया जा सकता है। इसकी एक निषेधात्मक विवक्षा है, जिसे यथार्थ जाति मान लिया जाता है। उदारणार्थ 'गौ' शब्द अ-गौ के निषेध को ध्वनित करता है। वास्तविक गौ अश्व, भैंस या किसी भी उस पदार्थ से भिन्न है, जो गौ नहीं है। विपरीत का निषेध शब्द के अर्थ में समान तत्त्व है और इसे भावात्मक (positive) जाति के रूप में मिथ्या ही प्रतिपादित एवं तत्त्वीकृत कर दिया जाता है। यह एक लोकोत्तर भ्रान्ति (transcentental illusion) के कारण सम्भव हो पाता है, जो अपरिहार्य है, किन्तु जिसे आलोचनात्मक विवेचन के द्वारा प्रभावहीन किया जा सकता है। बौद्ध-दार्शनिक इससे इनकार नहीं करता कि शब्दार्थ का अनुभव एक भावात्मक सत्ता के रूप में होता है, जो मूलतः निषेध है और वस्तुगत आधार से रहित अवधारणा है। यथार्थवादी ने इस वाद की कठोर आलोचना की है। यह विवाद अन्तहीन प्रतीत होता है और चूँकि यहाँ हमारा उद्देश्य बौद्ध मत की स्थापना या खण्डन नहीं है, अतः इस विवाद में न पड़ना ही हमारे लिए उचित होगा।

वैयाकरण का मत—

वैयाकरण का योगदान इस विषय के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती का विचार है कि पतञ्जलि के मत में शब्द के अर्थ में पाँच तत्त्वों का समावेश है। ये तत्त्व हैं—जाति (स्वार्थ), व्यक्ति (द्रव्य), लिङ्ग, संख्या एवं कारक[1]। जाति को शब्दार्थ मानने वाला मत सम्भवतः वाजप्यायन

१. त. बो., पृ. १२७।

द्वारा प्रवर्तित है। पतञ्जलि से हमें ज्ञात होता है कि वाजप्यायन के मत में जाति एक है और शब्द की वाचक शक्ति द्वारा इसको अभिव्यक्त किया जाता है[1]। उदाहरणार्थ, जब हम 'गौ' शब्द का उच्चारण करते हैं तो उसका तात्पर्य किसी काली गाय या लाल गाय से नहीं है, न ही इससे कि वह हमारी गाय है या पड़ोसियों की, अपितु कोई भी व्यक्ति-गौ यहाँ अर्थरूप में लक्षित होती है। बहुविध गायों की विवक्षा में एक ही शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि एक वर्ग में अन्तर्भूत सभी व्यक्तियों का एक सामान्य स्वरूप है, जिसे 'जाति' या 'सामान्य' का नाम दिया जाता है[2]। कहा जा सकता है कि जाति के प्रसंग में एकत्व की धारणा तो सही हो सकती है; किन्तु उससे यह अर्थ नहीं निकलता कि शब्द का अर्थ केवल जाति है और कुछ नहीं[3]। वस्तुतः कारक-सम्बन्ध का अन्वय तो व्यक्ति के साथ ही हो सकता है, जाति के साथ वाक्य में अन्वित होने की योग्यता इसमें नहीं है[4]। इसके उत्तर में कहा गया है कि व्यक्ति को शब्द का वाच्यार्थ नहीं माना जा सकता। प्रथमतः व्यवहार में व्यक्तियों की संख्या असीम है और शब्द द्वारा उन सभी का अभिधान सम्भव नहीं[5]। दूसरे, यदि एक शब्द एक व्यक्ति-विशेष का अभिधान करे तो वह अन्य व्यक्तियों का अभिधान कभी न कर सकेगा और इस कारण व्यक्तियों की संख्या के अनुसार ही असंख्य शब्दों की परिकल्पना करनी होगी, जो कि असंगत होगा[6]। तीसरे, शब्द कभी भी व्यक्ति का अभिधान उसकी सभी विशिष्टताओं के साथ नहीं करता। व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण वैयक्तिकता के साथ केवल अन्तःप्रज्ञा के माध्यम से ही जाना जाता है। शब्द तो केवल एक धुंधली-सी रूपरेखा प्रस्तुत करता है, जो किसी भी व्यक्ति का प्रतिरूप न होने पर भी सभी व्यक्तियों पर सही बैठ जाती है। जातिवादी इस विषय में निर्णायक तर्क देकर कहता है कि जब बालक को गौ-शब्द का अर्थ वह पशु बतलाया जाता है, जिसे वह अपने सामने देख रहा है, तो किसी अन्य स्थान पर किसी अन्य गौ को देखकर आयु, कद और

---

१. एका आकृतिः, सा चाभिधीयते। —म भा., २, पृ. ९०।

२. गौरित्येतेन शब्देनोक्ते प्रत्यायिते सामान्यलक्षणेऽर्थे विशेषानवधारणादैक्यं सामान्यस्यावसीयते। —म. भा. प्र. २, पृ. ९०-९१।

३. यद्यपि प्रख्याविशेषाद् ज्ञायते—एका आकृतिरिति, कुतस्त्वेतत्—साभिधीयते इति।
—म. भा. २, पृ. ९१।

४. भवतु सामान्यमेकं तस्य तु वाहदोहादिकायामर्थक्रियायामयोग्यत्वाद् द्रव्यस्यैव योग्यत्वादभिधानं न्याय्यमिति मत्वा प्रश्नः। —म. भा. प्र. उ., २ पृ. ९३।

५. व्यक्तीनां त्वानन्त्यात्तासु न शक्तिग्रहः, नापि शुद्धानां तासां बोधस्तासां विशेषरूपत्वेन विशेषावगतिप्रसंगात्। —वही।

६. जात्युपलक्षितस्य द्रव्यस्य शब्देनाभिधाने सत्यभिधेयानेकत्वेनानेकशब्दत्वप्रसङ्गात्।
—म.भा प्र., २, पृ० ९३।

आकारगत भेदों पर ध्यान दिये विना वह उसे उसी शब्द से संज्ञित कर देता है[1]। यदि कोई विशेष गौ शब्द का वाच्यार्थ होती, तो बालक उस वर्ग के किसी भी अन्य व्यक्ति के लिए उसी शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता था।

इस प्रकार जातिवादी का पक्ष उसके प्रतिपक्षी की तुलना में प्रबलतर प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्तिवादी भी इतनी जल्दी झुकने वाला नहीं हैं। उसका तर्क है कि विपक्षी के मत में जाति एक है, अतः इसे एक ही समय में एक से अधिक आश्रय, अर्थात् व्यक्ति, में अवस्थित मानना ठीक न होगा। यह समझ से परे की बात है कि एक मनुष्य एक ही क्षण में दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर कैसे रह सकता है? हाँ, यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि वही एक वस्तु वस्तुतः ही एक समय में अनेकों के साथ सम्बद्ध हो सकती है, तो इस आपत्ति का उत्तर दिया जा सकता है[2]। अवयवी इसे निर्मित करने वाले सभी अवयवों में से प्रत्येक के साथ संबद्ध होता हे। इसी प्रकार जाति का अपने अन्तर्गत आने वाले सभी व्यक्तियों से सम्बन्ध रहता हैं; किन्तु पतञ्जलि ने सम्भवतः इस विचार से इस उपमिति का सहारा नहीं लिया कि नामवादी (Nominalist) अवयवों से पृथक् अवयवी के बोध की कोई धारणा स्वीकार नहीं करेगा[3]। अतः वे कहते हैं कि जैसे आकाश में चमकने वाला सूर्य अनेक स्थानों पर एक साथ उपलब्ध होता है, उसी प्रकार जाति भी अपने में सम्मिलित विभिन्न व्यक्तियों में उपलब्ध होती है[4]। किन्तु आलोचकों ने इस उपमितिमूलक तर्क में दोष की उद्भावना की है। पूर्वोल्लिखित उदाहरण से यह सिद्ध नहीं होता कि वही व्यक्ति विभिन्न स्थानों पर एक साथ सूर्य का ग्रहण करता है, जबकि जातिवादी उसी मनुष्य द्वारा विभिन्न व्यक्तियों में जाति का ग्रहण मानता है। ऐसा लगता है कि पतञ्जलि इस कठिनाई से अवगत थे और इसीलिए उन्होंने एक अन्य उदाहरण के माध्यम से इस पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। देवराज इन्द्र का एक ही समय में विभिन्न यज्ञों में एक साथ आह्वान किया जाता है और वे एक काल में ही उन सब में उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार जाति भी सभी व्यक्तियों से एक साथ सम्बद्ध हो जाती है[5]। पतञ्जलि आगे भी कहते हैं कि यदि अनेक व्यक्तियों से एक सत्ता का सम्बन्ध असम्भव होता, तो एक शब्द भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को अभिव्यक्त न कर पाता। किन्तु, तथ्य

---

१. गौरस्य कदाचिदुपदिष्टो भवति। स तमन्यस्मिन्देशेऽन्यस्मिन्कालेऽन्यस्यां च वयोऽवस्थायां दृष्ट्वा जानाति—अयं गौरिति। —म.भा., २, पृ० ९१।

२. अस्ति चैकमनेकाधिकरणस्थं युगपत्। —म.भा., २, पृ० ९२।

३. अवयवी यद्यप्यनेकावयवस्थस्तथापि तद्भावे विवादान्नासौ दृष्टान्तत्वेनोपात्तः।
—म.भा.प्र., २, पृ० ९२।

४. तद्यथा एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपदुपलभ्यते। —म.भा, २, पृ० ९२।

५. तद्यथा एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशत आहूतो युगपत्सर्वत्र न भवति। एवमाकृतिर्युगपत्सर्वत्र भविष्यति। —वही।

यह है कि 'एकशेष' में अवशिष्ट एक शब्द अनेकों व्यक्तियों का अभिधान करता है[1]। पतञ्जलि यह भी कहते हैं कि यदि कोई निश्चित व्यक्ति शब्द का वाच्यार्थ हो, तो शब्दों के अपरिमित और अप्रतिबन्धित संकेत का कारण स्पष्ट करना कठिन होगा। यह आवश्यक नहीं कि शब्द का अर्थ किसी व्यक्तिविशेष तक सीमित हो। विशेषतः धर्मशास्त्र के ऐसे वचनों में, जैसे—"ब्राह्मणो न हन्तव्यः (ब्राह्मण वध्य नहीं है)", या "अश्वो मेध्यः (अश्व की बलि दी जाए)", 'ब्राह्मण' या 'अश्व' शब्द का अर्थ कोई निर्धारित व्यक्ति नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो, तो एक विशेष ब्राह्मण को छोड़कर, अन्य अनेकों ब्राह्मणों को मारकर भी दण्डमुक्त रहा जा सकता है। यज्ञ में, यजमान वाक्य द्वारा प्रत्यायित किसी अश्वविशेष की ही बलि दे सकता है और फिर दूसरे यज्ञ में किसी अन्य अश्व की बलि नहीं दे सकता। इतना ही नहीं, यदि अश्व शब्द का कोई अर्थ एक विशेष अश्व हो, तो किसी भी अन्य अश्व का अन्य किसी भी व्यक्ति द्वारा कृत बलिदान फलदायक न होगा। अतः यह मानना होगा कि इन सभी वाक्यों में शब्द अधिक व्यापक अर्थ को लिए हुए हैं और उस अर्थ में वर्ग के सभी व्यक्ति समाविष्ट हैं[2]। इसके विपरीत, व्यक्तिवादी की स्थापना सभी जातिवाचक संज्ञाओं को एकवचन और व्यक्तिवाचक संज्ञाओं तक सीमित कर देगी। इसके बड़े अनर्गल परिणाम होंगे जिनकी ओर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' जैसे वाक्य से हमें किसी विशेष ब्राह्मण का बोध नहीं होता, अपितु सामान्य रूप में किसी भी ब्राह्मण का ग्रहण होता है, दूसरे शब्दों में, वे सभी ब्राह्मण, जिनसे वर्ग की रचना होती है, इस वाक्य के उद्देश्यरूप में गृहीत होते हैं। इसी प्रकार सभी व्यक्ति-अश्व, 'अश्व की बलि दी जाए' इस वाक्य के अर्थ में अन्तर्भुक्त होते हैं। किन्तु प्रतिपक्षी का आग्रह है कि जाति को शब्दार्थ मानने पर भी शाब्दबोध की कठिनाइयाँ हल नहीं होतीं। किसी वर्ग के सभी संभाव्य व्यक्तियों का समावेश कर सके ऐसी जाति ही यदि शब्द का अर्थ हो, तो 'अश्व की बलि दी जाए' जैसी विधि का पालन केवल तभी सम्भव हो पाएगा, जब भूत, वर्तमान और भावी, सभी अश्वों का बलिदान किया जाए, जो कि मनुष्य के लिए असम्भव है। कारण यह कि जाति अपने विस्तार-क्षेत्र में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति में अवस्थित है और इसलिए जाति के विषय में कही हुई किसी भी बात को तब तक पूर्णरूपेण नहीं समझा जा सकता, जब तक इसका प्रतिनिधित्व करने वाले सभी व्यक्तियों को दृष्टिगत न रखा जाए। पतञ्जलि इस आपत्ति का खण्डन इस प्रकार करते हैं—इसमें सन्देह नहीं कि जाति उन सभी व्यक्तियों से सम्बद्ध है, जिनमें यह वर्तमान है; किन्तु जाति का किसी एक व्यक्तिविशेष से भी वही

---

१. यो हि मन्यते—'नैकमनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ्यत' इति। एकशेषे तस्य दोषः स्यात्। —वही।

२. एवं च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवृत्तं, "ब्राह्मणो न हन्तव्यः", "सुरा न पेये"ति, ब्राह्मणमात्रं च न हन्यते, सुरामात्रं च न पीयते। यदि द्रव्यं पदार्थः स्यादेकं ब्राह्मणमहत्वा एकां च सुरामपीत्वान्यत्र कामचारः स्यात्। —म.भा., २, पृ० ९२।

सम्बन्ध है, जो अन्य व्यक्तियों से है। इसलिए यह देखा जाता है कि यदि किसी भी एक व्यक्ति और उसमें समवेत जाति के सम्बन्ध का यथातथ्य निर्धारण हो जाए, तो जाति और उसमें अन्तर्भुक्त अन्य विभिन्न व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध भी अपने सभी पहलुओं में तुरन्त गृहीत हो जाती है। इसलिए शब्द का अर्थ किसी भी व्यक्ति से सम्बद्ध जाति है। यह आवश्यक नहीं कि जाति के आश्रय के रूप में असंख्य व्यक्तियों का बोध हो। वस्तुतः जाति न तो व्यक्तियों का समुच्चय है और न ही यह उनमें सामूहिक रूप से समवेत है। यह एक तथ्य है कि जाति व्यक्तियों में अस्तित्ववान् है और अर्थरूप में अवबुद्ध होने पर यह अपने आश्रय के रूप में व्यक्ति को अन्तर्भुक्त करती है। जाति का आघटन प्रत्येक व्यक्ति में स्वतन्त्र और स्वतःपूर्ण है। अतः जाति के आघटन को समझने के लिए सभी व्यक्तियों का बोध होना आवश्यक नहीं। इसलिए गाय को लाने का आदेश दिए जाने पर किसी भी मनुष्य को समस्त गौएँ लाने की आवश्यकता नहीं होती। किसी भी गो-व्यक्ति को लाने पर आदेश का पालन हो जाता है[1]।

अभी भी आपत्तियाँ पूर्णरूपेण समाप्त नहीं होतीं। दोनों मतों के गुण-दोषों पर **महाभाष्य** में लम्बा संवाद मिलता है। हमने वाजप्यायन के दृष्टिकोण की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत कर दी है और अब हम दूसरे प्राचीन आचार्य व्याडि द्वारा प्रवर्तित मत का अध्ययन करेंगे, जिन्हें व्यक्तिवादियों का शिरोमणि कहा गया है।

व्याडि के पक्ष में पतञ्जलि ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। प्रथमतः, लिङ्ग और संख्या का अन्वय केवल व्यक्ति के साथ होता है और इसलिए इसे ही शब्दार्थ मानना चाहिए[2]। दूसरे, क्रियाओं का सहज और स्वाभाविक सम्बन्ध केवल व्यक्ति के ही साथ होता है[3]। तीसरे, हमारी जानकारी में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है, जहाँ एक सत्ता एक ही समय में विभिन्न माध्यमों में उपलब्ध होती हो[4]। यदि ऐसा होता तो हम अनेक व्यक्तियों में रहने वाली एक स्वतो-अभिन्न जाति को मान सकते थे। इसके अलावा, "कुत्ते की मृत्यु हो गई" या 'गो का जन्म हुआ' जैसे वाक्यों में यदि 'कुत्ता' या 'गौ' शब्द का अर्थ जाति—अर्थात् वे असंख्य व्यक्ति जिनमें जाति समवेत है—मानें, तो ये वाक्य कभी भी सत्य अथवा बुद्धिगम्य नहीं हो सकते। फिर तो, 'कुत्ते की मृत्यु हो गई' का अर्थ होगा कि सभी कुत्ते मर चुके हैं। इसी प्रकार, 'गौ का जन्म हुआ है', यह कहने का अर्थ होगा कि सभी गौएँ अभी ही पैदा हुई हैं। स्पष्ट है कि यह सही नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि एक कुत्ते की मृत्यु होने पर भी दूसरा जीवित

---

१. सर्वाभिर्व्यक्तिभिः सम्बन्धस्य तुल्यत्वात्सर्वत्रैवाभिन्नबुद्धयुत्पादनात्प्रत्येकं परिसमाप्तत्वादेकस्मिन्नपि द्रव्ये तत्कर्म क्रियमाणं जातौ कृतमेव भवति।—म.भा.प्र., २ पृ० ९३।

२. एवं च कृत्वा लिङ्गवचनानि सिद्धानि भवन्ति। —म. भा., २ पृ. ९४-९५।

३. चोदनासु च तस्यारम्भान्मन्यामहे द्रव्यमभिधीयत इति। —वही।

४. न खल्वप्येकामनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ्यते। न ह्येको देवदत्तो युगपत् स्रुघ्ने भवति, मथुरायां च। —वही।

है। एक गौ जन्म लेती है जबकि अन्य गौएँ पहले ही विद्यमान होती हैं, और कुछ अन्य की मृत्यु हो चुकती है। यह तभी बुद्धिगम्य हो सकता है, जब केवल एक व्यक्ति को शब्द का अर्थ माना जाए, न कि उन सभी व्यक्तियों को, जो जाति द्वारा उपलक्षित हैं[१]।

नागेशभट्ट ने अत्यन्त यत्नपूर्वक व्याडि के मत के तार्किक आधार को स्पष्ट किया है। जाति का व्यक्ति से सम्बन्ध इस समस्या का मूल-विन्दु है। जाति प्रत्येक व्यक्ति में समवेत मानी जाती है। क्या यह एक-एक व्यक्ति में अपने सम्पूर्ण रूप में समवेत है अथवा समस्त व्यक्तियों में सामूहिक रूप से समवेत है। यदि जाति संपूर्ण रूप से किसी व्यक्ति में लक्षित हो, तो यह अन्य व्यक्तियों में समवेत नहीं होगी और यह व्यक्तिवाद की अति होगी; क्योंकि उस स्थिति में केवल एक अकेला व्यक्ति ही शब्द का अर्थ होगा। जहाँ तक दूसरे विकल्प का प्रश्न है, परीक्षण करने पर इसके विसंगतिपूर्ण परिणाम स्पष्ट हो जाएँगे। यदि जाति समस्त व्यक्तियों में सामूहिक रूप में समवेत हो, तो इसका ज्ञान केवल तभी हो सकेगा जब इसको आकार देने वाले समस्त व्यक्तियों का पहले से ज्ञान हो। इसी बात को दूसरी तरह से रखें तो जाति का एक व्यक्ति में ज्ञान होने का अर्थ होगा—समस्त व्यक्तियों का ज्ञान। लेकिन हमारा वास्तविक ज्ञान बिल्कुल भिन्न है और इसलिए यह प्राक्कल्पना सही नहीं हो सकती। और फिर जाति को सामूहिक रूप से समवेत मानने का अर्थ होगा नितान्त अनर्गल परिणामों को निमन्त्रण देना। दो और उससे आगे की संख्याओं को ले लें, द्वित्व एक गुण है, जो दो व्यक्तियों में अलग-अलग नहीं, अपितु सामूहिक रूप से विद्यमान है। इनमें से किसी एक की अनुपलब्धि 'दो' की संख्या के बोध को असंभव बना देगी। इसी प्रकार किसी एक के विनाश का अर्थ होगा 'दो' की संख्या का भी विनाश। यदि जाति का आचरण संख्याओं की भाँति हो तो, जैसा पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, इसके अवगम के पूर्व असंख्य व्यक्तियों का अवगम आवश्यक होगा और इसके विस्तार-क्षेत्र में संमिलित एक घटक व्यक्ति के नाश में जाति का विनाश अथवा यदि इसे नित्य माना जाए, तो इसका विलय, निहित होगा[२]।

और फिर एक से दूसरे व्यक्ति के बीच विविधता पाई जाती है। उदाहरण के लिए, एक गाय सींग वाली हो सकती है, जबकि दूसरी सींगविहीन हो सकती है। यदि एक जाति शब्द का अर्थ हो और सभी व्यक्ति उसमें समाविष्ट माने जाएँ, तो यह स्वीकार करना होगा कि एक में विद्यमान जाति दूसरे में भी विद्यमान होने के कारण अभिन्न और भिन्न दोनों ही होगी, क्योंकि जाति का व्यक्ति से सम्बन्ध केवल

---

१. 'श्वा मृतः' इति श्वा नाम लोके न प्रचरेत्। 'गौर्जात' इति सर्वं गोभूतमनवकाशं स्यात्।
—म. भा, २, पृ. ९४-९५।

२. जातिर्न तावद् द्रव्येषु व्यासज्यवृत्तिः, एकाश्रयनाशेऽप्रतीत्यापत्तेः। किं च गामालभेतेत्यादिनोदनासु सर्वद्रव्यालम्भापत्तिः। प्रत्येकसमाप्तौ तु द्रव्यान्तरे तदनापत्तिस्तत्रापि सत्त्वे एकाकृतिरिति प्रतिज्ञाहानिरित्यर्थः। —म. भा. प्र. उ., २ पृ. ९४।

अभेद सम्बन्ध ही हो सकता है, जबकि इसके आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। एक ही वस्तु भिन्न भी हो और अभिन्न भी, यह विसंगतिपूर्ण है[1]। उस स्थिति में, जब 'गावौ' जैसो द्विवचनात्मक अभिव्यक्ति का प्रयोग दो गो-व्यक्तियों के अभिधान के लिए किया जाए और एकात्मक जाति द्वारा दोनों को जोड़ने के कारण अर्थ को अभिन्न माना जाए, इसके अर्थ का एक गौ और दूसरी गौ (गौश्च गौश्च), इस प्रकार का विग्रह तर्कसंगत न होगा। 'गौ और 'गौ' (गौश्च गौश्च) ये दोनों पद निश्चित रूप से दो पृथक्-पृथक् सत्ताओं को सूचित करते हैं। यदि दोनों का अर्थ एक स्वतो-अभिन्न सत्ता होती, तो एक ही पद का प्रयोग पर्याप्त था।

इसके अतिरिक्त एक जाति को शब्दार्थ मानने का एक लाभ यह बतलाया गया था कि वैसी स्थिति में अनेक सरूप शब्दों के लोप के लिए पाणिनि द्वारा सूत्रित सूत्र के विना भी काम चल सकता है। उदाहरण के लिए 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', इस वाक्य में ब्राह्मण-शब्द संख्यागत एकत्व से युक्त होने पर भी अनिर्दिष्ट संख्या का अभिधान करता है और एक निश्चित सूत्र के प्रतिपादन द्वारा पाणिनि यह सूचित करते हैं कि यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार एक पद द्वारा एक व्यक्ति का प्रत्यायन होना चाहिए, फिर भी अनेक व्यक्तियों के अभिधान के लिए ध्वन्यात्मक रूप में अभिन्न शब्दों की आवृत्ति आवश्यक नहीं। स्पष्ट है कि यदि शब्द जाति और, सहज तार्किक अनिवार्यता के कारण, इसके आश्रयभूत व्यक्तियों के अनियत बहुत्व का प्रत्यायक हो, तो यह सूत्र अनावश्यक होगा। जातिवादी के विचार में इस सूत्र का प्रत्याख्यान उत्कर्षकारक है; किन्तु व्याडि के मत में यह उपाय न सिर्फ पाणिनि के प्रति अनिष्ठा सूचित करता है, अपितु ऐसे उदाहरणों में ध्वस्त भी हो जाता है, जहाँ एक शब्द अनेक विजातीय व्यक्तियों का अभिधान करता है। उदाहरण के लिए, 'अक्ष' शब्द के 'पासे', 'ज्ञानेन्द्रिय' और 'धुरी' इत्यादि अनेक अर्थ हैं। निश्चय ही इन असमान सत्ताओं में एक जाति मानने की मूर्खता कोई नहीं करेगा। एक जाति को शब्दार्थ मानने वाले मत का किञ्चित् सत्याभास उन उदाहरणों में हो सकता है, जहाँ अभिहित अनेकों व्यक्ति सजातीय हों और इस प्रकार एक वर्ग के अन्तर्गत आते हों। किन्तु ऊपर दिए हुए उदाहरण में यह मत बुरी तरह ध्वस्त हो जाता है[2]। जहाँ तक व्यक्तिवादी का प्रश्न है, उसके अनुसार प्रत्येक उदाहरण में व्यक्ति ही अर्थरूप में व्यक्त होता है। अतः उसका मत इन कठिनाइयों से मुक्त है। अनेक व्यक्तियों के अर्थरूप में विवक्षित होने पर भी जब हम ध्वन्यात्मक रूप से सदृश शब्दों की आवृत्ति का लोप करते हैं, तो वह तर्क से नहीं; अपितु रूढ़ि से समर्थित है। अतः इस प्रयोग को विसंगति के अभियोग से बचाने के लिए पाणिनि ने एक सूत्र का प्रतिपादन किया है।

---

१. न ह्येकस्य भेदाभेदौ विरुद्धौ उपपद्येते। —म. भा. प्र., २, पृ. ९६।

२. यदर्थं आकृतिपक्षपरिग्रहस्तदेव न सिध्यति, न हि शकटाक्षदेवनाक्षादिष्वेकाकृतिसद्भावः।
—म. भा. प्र., २ पृ. ९६।

जातिशब्दार्थवादी वाजप्यायन के विरुद्ध व्याडि की आपत्तियाँ इसी प्रकार की हैं। उनकी पहली आपत्ति है कि लिङ्ग और वचन के भेदों का जाति के साथ अन्वय नहीं हो सकता। किन्तु यह आपत्ति जाति और व्यक्ति के संबन्ध के बारे में एक भ्रान्त धारणा से उद्भूत होती है। जाति व्यक्तियों में लक्षित होती है और साहचर्य के कारण व्यक्तियों के लिङ्ग और वचन का प्रकथन जाति के लिए कर दिया जाता है; किन्तु साहचर्य परिवर्तित होता रहता है और तदनुसार लिङ्ग और वचन में भी परिवर्तन देखा जाता है। लिङ्ग और वचन के साथ जाति का सम्बन्ध सीधे नहीं है; अपितु एक तीसरे संसर्गी अर्थात् व्यक्तिसत्ता के अस्तित्व पर अवलम्बित है, जिसमें ये धर्म एवं जाति एकत्र समवेत रहते हैं। यदि सूत्ररूप में कहें तो यह सम्बन्ध एक आश्रय में सहवर्तिता का सम्बन्ध है।

इस प्रकार की दलील दी गई है कि प्रतिनिधिक अतिदेश का यह सिद्धान्त लिङ्गान्वय के प्रसंग में तो ठीक हो सकता है; किन्तु वचन के अन्वय की व्याख्या इस विधि से नहीं हो सकती। जातिवादी की स्थापना के अनुसार जाति एक स्वतो-अभिन्न तत्त्व है और इसलिए इसके सम्बन्ध में द्विवचन और बहुवचन का प्रकथन सर्वथा मूर्खतापूर्ण होगा, भले ही इस सम्बन्ध की व्याख्या किसी भी प्रकार से की जाए। इसको समंजस बनाने के लिए एकात्मक जाति की परिकल्पना को त्यागना होगा और इसमें अनेकत्व की शक्यता को स्वीकार करना व्यक्तिवादी के पक्ष का ही अनुमोदन होगा। जातिपक्ष में एकशेष सूत्र (पा० १-२-६४) का आश्रय लिए विना ही आवृत्ति के लोप का जो उत्कर्ष बताया गया था, उसकी भ्रान्तिजन्यता भी अब प्रकट हो जाती है। थोड़ा गहराई से परीक्षण करने पर भिन्न-भिन्न लिङ्गों का प्रकथन भी अव्याख्येय सिद्ध होगा[1]। भिन्न-भिन्न लिङ्गों के साथ जाति के संसर्ग की व्याख्या भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में लिंग की परिवर्तनीयता के आधार पर करने का प्रयास किया गया था; किन्तु पुंस्त्व और स्त्रीत्व का लिंगभेद और उसका निर्धारण परिवर्तनीय न होकर स्थिर है। अतः यह बात सर्वथा अव्याख्येय रहती है कि किस प्रकार वह जाति भिन्न-भिन्न शब्दरूपों में भिन्न-भिन्न लिंगों से संबद्ध होती है, जबकि उन शब्दरूपों द्वारा अभिहित वस्तु-सत्ता एक एवं स्वतो-अभिन्न पदार्थ है[2]।

इसके उत्तर में जातिवादी यह मान्यता प्रस्तुत करता है कि शब्द में लिङ्ग (gender) का भेद वास्तविक जगत में लिङ्ग (sex) के भेद पर आधारित नहीं है।

---

१. गुणाश्चात्र द्वित्वस्त्रीत्वादयो विवक्षिताः। तैश्चाकृतेरेवार्थसमवायलक्षणः सम्बन्ध इत्याकृतावपि लिङ्गसंख्यासिद्धिरित्यर्थः। —म. भा. प्र., २ पृ. ९६।

२. भवेल्लिङ्गपरिहार उपपन्नः, वचनपरिहारस्तु नोपपद्यते। यदि हि कदाचिदाकृतिरेकत्वेन युज्यते, कदाचिद् द्वित्वेन, कदाचिद् बहुत्वेन, एका आकृतिरिति च प्रतिज्ञा हीयेत। यच्चास्य पक्षस्योपादाने प्रयोजनमुक्तम् 'एकशेषो न वक्तव्य' इति, स च इदानीं वक्तव्यो भवति। लिङ्गपरिहारश्चापि नोपपद्यते। किं कारणम् ? आविष्टलिङ्गा जातिर्यल्लिङ्ग-मुपादाय प्रवर्तते उत्पत्तिप्रभृत्यविनाशात्तल्लिङ्गं न जहाति। —म. भा., २ पृ. ९७।

जो भी हो, लैङ्गिक विशेषताओं का सामान्य भेद लिङ्ग का वस्तुगत आधार नहीं, वस्तुगत आधार तो इससे गहनतर कुछ है। यह तो ठीक है कि शब्दों में लिङ्ग भेद वस्तुगत आधार से रहित होकर पूर्णतया स्वैच्छिक अथवा रूढ़िगत ही नहीं है। आत्मतत्त्व तो लिङ्गातीत है। ये भेद भौतिक अङ्गरचना पर आधारित हैं। व्याकरण-दर्शन में इन्द्रियग्राह्य गुणों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—का अपचय स्त्रीलिङ्ग का आधार है और इसका उपचय पुल्लिङ्ग का। प्रत्येक पदार्थ भौतिक रूप से परिवर्तन का विषय है, यह या तो वृद्धि को व्यक्त करता है अथवा ह्रास को। वास्तव में उपचय एवं अपचय, वृद्धि एवं क्षय, विकास एवं ह्रास की ये दो प्रक्रियाएँ सर्वत्र साथ-साथ घटित होती रहती हैं। यद्यपि आत्मा स्वयं में वृद्धि अथवा क्षय का विषय नहीं है, तथापि शरीर से इसका व्यावहारिक तादात्म्य इसे लिङ्गभेद के योग्य बना देता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि वृद्धि एवं ह्रास समवर्ती हैं, तो लिङ्ग-भेद का मानदण्ड क्या है? इसका उत्तर यह है कि यह भेद वक्ता की रुचि और विवक्षा के कारण है। वक्ता किसी पहलू पर दूसरे की अपेक्षा बल देना चाहता है। यदि क्षय अथवा ह्रास के पक्ष पर जोर दिया जाता है, तो स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग उपयुक्त है, और वृद्धि एवं विकास के पहलू पर जोर देने के लिए पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया जाता है। जब किसी पर भी बल नहीं है, तो नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग होता है[1]।

जहाँ तक संख्याभेद का प्रश्न है, इसका समाधान तो स्वयं व्यक्तिवादी द्वारा प्रस्तुत रीति से भी किया जा सकता है। व्यक्तिवादी मानता है कि एक शब्द का अर्थ एक व्यक्ति है। द्विवचन और बहुवचन के प्रसंग में उसे विशेष तौर पर कहना होगा कि एक व्यक्ति को अभिहित करने के लिए एकवचन का, दो के लिए द्विवचन का, और दो से अधिक के लिए बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। निश्चय ही द्विवचन और बहुवचन के प्रयोग की स्वीकृति शब्दों के स्वाभाविक सामर्थ्य के आधार पर न होकर पाणिनि के सूत्र से प्राप्त की जाती है। और फिर, संस्कृत में ऐसे भी शब्द हैं, जो एक व्यक्ति को अभिहित करने पर भी द्विवचन या बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। इन उदाहरणों में द्विवचन और बहुवचन को केवल लोक-प्रयोग के आधार पर न्याय्य ठहराया जा सकता है और पाणिनि के सूत्र लोक-प्रयोग पर ही आधारित हैं। वैसे, इस प्रकार के उदाहरण प्रायः अपवाद-स्वरूप ही हैं।

अब, अभिधेय व्यक्तियों की संख्या पर आधारित वचनप्रयोग के लिए जाति-वादी भी यही व्याख्या प्रस्तुत करेगा। जब जाति का संबन्ध एक व्यक्ति के साथ होता है, तो एकवचन प्रयुक्त होता है। दो या दो से अधिक व्यक्तियों के साथ जाति के जुड़ने पर क्रमशः द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। यहाँ यह कहना ठीक नहीं कि जातिवादी के अनुसार तो शब्द का अर्थ केवल जाति है जिसके साथ द्विवचन और बहुवचन की कोई संगति नहीं है और इसलिए वह व्यक्तियों के

---

१. संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, उभयोरप्यविवक्षायां नपुंसकम्।
—म० भा०, २ पृ० ९८।

भेद को दृष्टि में नहीं रख सकता। जातिवादी की स्थिति को या तो प्रतिपक्षी गलत समझ रहा है या जानबूझ कर विकृत कर रहा है। जब जातिवादी जाति को शब्दार्थ मानता है, तो उसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति का अवगम बिल्कुल होता ही नहीं। इसी प्रकार, व्यक्ति को पदार्थ मानने वाला व्यक्तिवादी जाति का भी बोध किये विना नहीं रह सकता। इन दोनों ही अंशों को अर्थ का घटक मानने तक तो दोनों मतों में कोई भेद नहीं है। शब्द का अर्थ सरल नहीं; अपितु संसृष्ट है; क्योंकि दोनों में से किसी भी एक अंश का नकार इसे उन आपत्तियों के संमुख अनावृत कर देगा, जो दोनों पक्षों द्वारा बारी-बारी से एक-दूसरे के विरुद्ध उठायी गयी हैं। दोनों मतों का भेद गुणप्रधान भाव को लेकर है। जातिवादी के अनुसार जातिप्रधान अर्थ है और व्यक्ति विशेषणात्मक उपाधि है। व्यक्तिवादी व्यक्ति को प्रधान और जाति को विशेषणात्मक अनुबन्ध मानता है[1]।

लिङ्ग-वचनभेद की समस्या को लेकर जातिवादी ने एक अन्य वैकल्पिक समाधान भी प्रस्तुत किया है। गुणवाची शब्दों के लिङ्ग एवं वचन उनके द्वारा विशिष्ट द्रव्यों के लिङ्ग-वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं। 'शुक्ला पटी', 'शुक्लं वस्त्रम्' और 'द्वे शुक्ले कम्बले' जैसे प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जाति भी जिस द्रव्य में समवेत होती है, उसके लिङ्ग और वचन को विधिवत् अपना सकती है। यदि गुणवाची शब्दों में लिङ्ग-वचनभेद की तार्किक व्याख्या के लिए द्रव्य और गुण के अभेद-सम्बन्ध की परिकल्पना की जाती है, तो उसी रीति से जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध को भी अभेद-सम्बन्ध माना जा सकता है। दोनों स्थितियाँ पूर्णतया तुल्य हैं[2]। यदि इसके विपरीत शब्दप्रयोग के क्षेत्र में एक नियम का प्रतिपादन किया जाए कि विशेषण-पदों के लिङ्ग और वचन उनके विशेष्य द्रव्यों के अनुसार होंगे, तो इसी के सदृश यह नियम भी बनाया जा सकता है कि जाति जिस द्रव्य में समवेत है, उसी के लिङ्ग और वचन ग्रहण करेगी।

अब इस आपत्ति पर विचार करें कि जाति के साथ क्रियाओं की संगति नहीं बैठती। इसका परिहार सरल है। यदि हम यह ध्यान रखें कि क्रिया का अनिवार्य सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ है, जिनके साथ जाति सम्बद्ध होती है। यह वाक्य की तार्किक सामर्थ्य से सिद्ध है और कैयट ने इसे एक उपयुक्त उदाहरण के माध्यम से

---

१. न ह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः द्रव्यपदार्थकस्य वाऽऽकृतिर्न पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः। कस्य किञ्चित् प्रधानभूतं किञ्चिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थकस्य आकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता।
—म० भा०, २, पृ० ९८-९९।

२. यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तद् गुणस्यापि भवति। एवमिहापि यदसौ द्रव्यं श्रिता आकृतिस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तदाकृतेरपि भविष्यति।
—म० भा०, २ पृ० ९९।

स्पष्ट किया है। किसी व्यक्ति को अग्नि लाने का आदेश दिये जाने पर वह अग्नि को पात्र में रखकर लाता है। इसी प्रकार जब जाति के प्रसंग में किसी क्रिया का विधान किया जाता है, तो इसका सन्दर्भ व्यक्ति के साथ भी अवश्यमेव जुड़ता है, जिससे यह तार्किक सामर्थ्य के कारण सहज ही संबद्ध है[1]।

यह भी आपत्ति उठाई गई थी कि एक सत्ता एक से अधिक आश्रयों में विद्यमान नहीं रह सकती। पतञ्जलि ने सूर्य एवं इन्द्र के उदाहरण देकर एक के अनेकों में एक साथ घटित होने की संभावना को प्रदर्शित किया है। पतञ्जलि के कथन में निहित अर्थ को कैयट ने सुदृढ़ युक्ति से स्पष्ट किया है। निश्चित रूप से, जातियों में देश और काल की कोई सीमा नहीं है और इस प्रकार वे विभु और नित्य हैं। किन्तु इससे अवधारणाओं का सांकर्य उपस्थित नहीं होता। उदाहरण के लिये, यद्यपि गो-जाति व्यक्ति-गौओं में अन्य जातियों के साथ रहती है, फिर भी ऐसी कोई संभावना नहीं कि गौ को भ्रान्तिवश अश्व इत्यादि समझ लिया जाए। पदार्थों में अथाह शक्तियाँ हैं, जिनका अनुभवपूर्व ज्ञान संभव नहीं। गो-जाति को अभिव्यक्त करने में गो-व्यक्ति ही समर्थ है, अन्य नहीं। इसी बात को दूसरे कोण से देखें तो कहा जाएगा कि गो-व्यक्ति के साथ कारगर सम्बन्ध गो-जाति का ही है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अन्य जातियाँ गो-व्यक्ति में सम्बद्ध नहीं हैं। व्यक्ति के उत्पाद और विनाश से इसमें समवेत जाति के उत्पाद ओर विनाश फलित नहीं होते; क्योंकि जाति अपने अस्तित्व के लिये व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। जाति का व्यक्ति से वास्तविक अभेद नहीं है, यद्यपि हमारे व्यावहारिक ज्ञान में दोनों मिले-जुले प्रतीत होते हैं[2]।

जाति को शब्दार्थ मानने पर उसमें भिन्नता और अभिन्नता की प्रसक्ति का दोष भी उसी तर्कपद्धति द्वारा सरलता से दूर किया जा सकता है, जिसका आश्रय हम पहले ले चुके हैं। भिन्नता का सम्बन्ध व्यक्तियों से है और व्यक्ति के साथ अपने प्रतीयमान अभेद-सम्बन्ध के कारण जाति भी भिन्नता का लिबास ओढ़े प्रतीत होती है।

व्याडि द्वारा उद्भावित अन्तिम दोष यह था कि अनेक विजातीय व्यक्तियों में कोई एक जाति सम्भव नहीं है। इसके उत्तर में जातिवादी के पक्ष से पतञ्जलि

---

१. यथाऽग्निरानीयतामित्युक्ते केवलस्याग्नेरानयनासंभवन्नान्तरीयकत्वादचोदितमपि पात्रमानीयते, एतदेवाग्नेरानयनं यत्पात्रस्थस्य, तथा आकृतावारम्भणादीनि चोद्यमानानि सामर्थ्यात्साहचर्याद् द्रव्यमभिनिविशन्ते। —म. भा. प्र., २, पृ. ९९।

२. (क) सर्वगतत्वेऽपि पदार्थानां विचित्रशक्तियोगात्कश्चित्पदार्थः काञ्चिदेवाकृतिमभिव्यनक्ति, न तु सर्वां सर्वः। — म. भा. प्र., २, पृ. ९६।

(ख) द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाशः। कुतः ? अनाश्रिता आकृतिर्द्रव्यम्।

—म. भा., २, पृ. १००।

दिखलाते हैं कि ऐसे उदाहरणों में भी एक जाति का अभिज्ञान असंभव नहीं है। उदाहरण के लिए, यद्यपि 'अक्ष' शब्द अनेकों वर्गों से सम्बद्ध विविधरूप सत्ताओं को अभिहित करता है, तथापि इसमें एक अंश समान है, व्याप्ति की क्रिया, जो अश् धातु (जिससे ये सभी 'अक्ष' शब्द व्युत्पन्न हुए हैं) का अर्थ है, सभी विविध अर्थों में समान है। इस प्रकार नानार्थक शब्दों के मामले में अनेक अभिप्रायों के मूल में सामान्य व्युत्पत्तिपरक अर्थ है, जो अनेक अर्थों को व्यक्त करने के लिए ऐसे एक से अधिक शब्द की आवृत्ति को अनावश्यक बना देता है[1]।

हमने क्रमशः जाति और व्यक्ति को शब्द का वाच्यार्थ मानने वाले वाजप्यायन एवं व्याडि के मतों का पतञ्जलिकृत विवेचन विस्तार से प्रस्तुत कर दिया है। परम्परा यह मानती है कि पतञ्जलि के मत में न केवल जाति और व्यक्ति; अपितु लिङ्ग, संख्या और कारक भी शब्द के वाच्यार्थ के घटक हैं। नागेशभट्ट यह भी कहते हैं कि पतञ्जलि का मत इस विषय पर उपलब्ध मतों में निश्चितरूप से सर्वश्रेष्ठ है[2]। जाति और व्यक्ति को शब्दार्थ मानने के दावों की तुलना हम कर चुके हैं। अब हम लिङ्ग के प्रश्न पर विचार करेंगे।

संस्कृत में लिङ्ग पूर्णरूपेण स्वाभाविक नहीं है; अपितु लोकप्रयोग के द्वारा निर्धारित होता है, जिसमें विवक्षित सत्ता को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए 'पुरुष' और 'स्त्री' शब्द तो क्रमशः पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में हैं, किन्तु 'तट' शब्द को वैयाकरणों ने तीनों लिङ्गों—पुल्लिङ्ग (तटः), स्त्रीलिङ्ग (तटी), और नपुंसकलिङ्ग (तटम्) में माना है। इसी प्रकार 'पत्नी' का वाचक 'कलत्र' शब्द नपुंसकलिङ्ग में है, जबकि व्यक्ति-शब्द स्त्रीलिंग में रखा जाता है। मूल प्रश्न पर आते हुए, हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि पाणिनि के विचार में लिङ्ग वाच्यार्थ में सम्मिलित नहीं है; यदि लिङ्ग की धारणा वाचक-शक्ति द्वारा अभिधेय होती, तो पाणिनि अपने सूत्र 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पा० २.३.४६) में लिङ्ग शब्द का विशेष रूप से प्रयोग न करते। भट्टोजिदीक्षित 'प्रातिपदिकार्थ' शब्द की व्याख्या में कहते हैं कि जो अभिधान की शक्ति के द्वारा अनिवार्यतया प्रस्तुत किया जाए, वह 'प्रातिपदिकार्थ' है। इस प्रकार वे इस समस्या में नहीं उलझते कि क्या शब्द लिङ्ग की धारणा को अपनी वाचक-शक्ति के माध्यम से प्रस्तुत करता है; किन्तु पा० सू० ४.१.४ की व्याख्या में भट्टोजि स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि लिङ्ग की धारणा शब्द द्वारा ही अभिधेय है और लिङ्गवाची प्रत्यय इसके द्योतक-मात्र हैं। नागेश ने भी यही मत व्यक्त किया है कि लिङ्ग की धारणा प्रत्यय नहीं, अपितु प्रकृति के द्वारा वाच्य है। वैयाकरण मानता है कि प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ के मध्य विशेषण और

---

१. विभिन्नार्थेषु च सामान्यात्सिद्धम्। सर्वत्र अश्नोतेरक्षः, पद्यतेः पादः, मिमीतेः माषः। तत्र क्रियासामान्यात्सिद्धम्। —वही, पृ. १०१।

२. तत्र पञ्चकं प्रातिपदिकार्थं इत्येव ज्यायः। —वै. सि. ल. म., पृ. ११५०-५१।

विशेष्य का सम्बन्ध है। इस कारण लिङ्ग की धारणा को प्रत्यय द्वारा वाच्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि उस स्थिति में लिङ्ग की प्रतीति विशेष्य के रूप में होनी चाहिए, जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इसके अतिरिक्त जब हम देखते हैं कि प्रत्यय के योग के विना भी शब्द किसी लिङ्गविशेष की धारणा को संप्रेषित करता है, तो फिर प्रत्यय को लिङ्ग का वाचक कैसे कह सकते हैं? उदाहरणार्थ, 'वाक्' शब्द स्त्रीलिंग में है; किन्तु लिङ्ग-विशेष को सूचित करने वाला कोई प्रत्यय इसमें नहीं है। पाणिनि के सूत्र भी इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि लिङ्ग की धारणा वास्तव में प्रकृति से सम्बद्ध है, प्रत्यय से नहीं। और फिर, यदि यह मानें कि 'घटः' इस पद में पुल्लिङ्ग को व्यक्त करने वाला 'सु' प्रत्यय (प्रथमा-एकवचन) है, तो यह स्पष्ट करना असंभव हो जाता है कि वही लिङ्ग 'घटेन' पद द्वारा भी कैसे वाच्य होता है। यदि किसी अन्य कारण से नहीं, तो कम से कम लाघव की दृष्टि से ही, यह मानना उचित न होगा कि प्रत्येक विभक्ति लिङ्ग की धारणा को अभिव्यक्त करती है। लिङ्ग को वाच्यार्थ में सम्मिलित मानने के पक्ष में दिए गए ये ही तर्क उस स्थिति में भी दिए जा सकते हैं, जब वचन और कारक-सम्बन्ध की धारणाएँ वाच्यार्थ में समाविष्ट मानी जाएँ[1]।

शब्द के वाच्यार्थ के विषय में वैयाकरण के दृष्टिकोण का सही मूल्याङ्कन भट्टोजि के वक्तव्यों के अध्ययन से संभव होगा। अन्य सभी चिन्तकों की भाँति भट्टोजि प्रारम्भ में ही समस्या को सुलझाने के लिए द्वन्द्वन्याय का सहारा लेते हुए विभिन्न मतों के गुणावगुण को तोलते हैं। उनका कहना है कि जातिवादी तार्किक-मितव्ययिता (लाघव) का श्रेय ले सकता है, जबकि व्यक्तिवादी का मत अनुभव के साक्ष्य पर अधिक अवलम्बित है। 'त्व' प्रत्यय (जो किसी पदार्थ के स्वरूप का द्योतक है) वाले कुछ बहुत थोड़े से उदाहरणों को छोड़कर हम ऐसे किसी भी विशेष उदाहरण की कल्पना नहीं कर सकते, जहाँ जाति शब्दार्थ की अन्तर्वस्तु में विशेष्य के रूप में प्रस्तुत होती हो। वे बतलाते हैं कि अर्थ के घटक के रूप में जाति का समावेश करना व्यक्तिवादी के लिए आवश्यक नहीं; क्योंकि व्यक्ति के साथ जाति अपरिहार्यतया उसके निर्धारक के रूप में सम्बद्ध होगी। निर्धारक के लिए अर्थ का अंग होना आवश्यक नहीं; क्योंकि तथ्यात्मक सम्बन्ध की अनिवार्यता इसे उससे सम्बद्ध करती है। यह स्थिति कारणात्मक सम्बन्ध के तुल्य है। धूम अग्नि का कार्य है और विश्लेषण के उपरान्त इसे हम दो तत्त्वों से युक्त पाते हैं—धूम-जाति और व्यक्ति-सत्ता। जाति कार्य नहीं हो सकती; क्योंकि यह शाश्वत सत्य है। व्यक्ति ही कार्य है और यद्यपि जाति को व्यक्ति से पृथक् करना संभव नहीं; तथापि कारणता-सम्बन्ध में इसका समावेश नहीं हो सकता। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि किसी भावात्मक कार्य का निर्धारक नित्य जाति होने के कारण कार्य का अंग नहीं हो सकता, और इसी

१. वै. सि. ल. म., पृ. ११५०।

प्रकार वाच्य अर्थ का निर्धारक अर्थ का अंग नहीं हो सकता, यद्यपि व्यक्ति के साथ इसका सम्बन्ध एक सत्तामूलक अनिवार्यता है।

इतना कहने के बाद भट्टोजि बतलाते हैं कि सिद्धान्त रूप में परस्पर विरुद्ध होने पर भी दोनों मतों को वैयाकरण ने स्वीकार किया है। वे इनके समन्वय की सम्भावना को निम्नलिखित रीति से स्पष्ट करते हैं। दोनों ही मतों को साधनों के रूप में लेना चाहिए। जो हमारे शब्द-प्रयोगों को समझने और विश्लेषित करने में सहायक हैं, वे मानों एक ही लक्ष्य पर पहुँचाने वाले अनेक मार्ग हैं और उनको व्यावहारिक उपयोगिता विवाद से परे है। अलग-अलग होने पर भी ये रास्ते हमें लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ बनाते हैं। इसलिए भट्टोजि का आग्रह है कि वैयाकरण के लिए जाति और व्यक्ति दोनों ही को शब्द का वाच्य अर्थ मानने में कोई बाधा नहीं है[1]। अपने कथनों की पुष्टि के लिए भट्टोजि पाणिनि के सूत्रों का उल्लेख करते हैं। यदि केवल मात्र जाति ही वाच्यार्थ होती तो पाणिनिसूत्र १.२.५८ का विधान नहीं हो सकता था और केवल व्यक्ति को वाच्यार्थ के अन्तर्गत मानने पर पाणिनिसूत्र १.२.६४ सर्वथा निरर्थक सिद्ध होगा[2]।

वाच्यार्थ की इस समस्या पर कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार में विशिष्ट योगदान किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थापनाओं को पूर्णतया विकसित किया है और उनका योगदान वास्तव में असाधारण महत्त्व का है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय से प्रेरणा ग्रहण करते हुए उन्होंने सुझाया है कि वाच्यार्थ को निर्मित करने वाले तत्त्व केवल पाँच नहीं हैं, इनके अतिरिक्त भी एक तत्त्व है। जैसा हम अन्यत्र देख चुके हैं, शब्द उपादान-कारण की हैसियत से विभिन्न पदार्थों के रूप में प्रतीयमान अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों या परिणामों में विद्यमान रहता है। इसलिये शब्द के वाच्यार्थ में दो तत्त्व, अर्थांश और शब्दांश, शामिल हैं। व्याकरणिक प्रक्रियाओं के लिये शब्दांश को विशेष्य माना जाता है और अर्थांश इसके प्रति गौण है, जबकि अन्य स्थलों पर अर्थांश की भूमिका ही मुख्य है। किन्तु दोनों ही अंश के वाच्यार्थ को निर्मित करते हैं। कौण्डभट्ट कहते हैं कि 'विष्णु का उच्चारण करो' (विष्णुमुच्चारय) जैसे वाक्य में 'विष्णु' शब्द के अर्थ के तौर पर हमें शब्दस्वरूप का ही बोध होता है। इसलिये कौण्डभट्ट के विचार में पञ्चविध अर्थांश, अर्थात् जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, संख्या और कारक-सम्बन्ध, के अतिरिक्त शब्दांश को भी शब्द के वाच्यार्थ में सम्मिलित किया जाना चाहिये[3]।

---

१. यद्यपि जातिव्यक्तिपक्षयोरन्यतरस्य न्यायेन बाध आवश्यकस्तथापि शास्त्रे संज्ञापरिभाषादिवल्लक्ष्यसिद्ध्युपायतया उभयाश्रयणे किमपि बाधकं नास्ति।—श. कौ, पृ. २८।

२. यदि हि व्यक्तिरेव........तर्हि जात्याख्यायामिति सूत्रं नारभेत। यदि च जातिरेव........तर्हि सरूपसूत्रं नारभेत्। —श. कौ., पृ. २९।

३. वै. भू. सा., पृ. ३२७-२८।

भर्तृहरि का मत —

यह एक रोचक तथ्य है कि भर्तृहरि ने शब्दार्थ के विषय में कम-से-कम एक दर्जन मतों की चर्चा की है। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्वयं अपनी टिप्पणियाँ भी जोड़ी हैं और ये टिप्पणियाँ प्रस्तुत प्रश्न के प्रति उनके दृष्टिकोण को भलीभाँति स्पष्ट करती हैं।

कुछ आचार्यों के अनुसार शब्द द्वारा वाच्य अर्थ शुद्ध और निर्विशेष अस्तित्व (अस्त्यर्थ) है, किसी विशिष्टता का निर्धारण नहीं। उदाहरण के तौर पर 'मनुष्य' शब्द यही सूचित करता है कि कुछ है, जिसे मनुष्य का नाम दिया गया है। इसलिए प्रत्येक उदाहरण में वाच्यार्थ की अन्तर्वस्तु सर्वथा सामान्यरूप है, कोई विशिष्ट पदार्थ नहीं[1]। इसके विरोध में यह कहा गया है कि कुछ शब्द तो ऐसे हो सकते हैं जो विशुद्ध रूप से अस्तित्वात्मक सन्दर्भ को संप्रेषित करते हों; किन्तु इनके साथ ही ऐसे बहुसंख्यक शब्द हैं, जो निश्चित अर्थों को व्यक्त करते हैं। यह ठीक है कि स्वर्ग, पुण्य, देवता और ऐसे अन्य शब्दों की कोई सुनिश्चित अन्तर्वस्तु नहीं है, लेकिन यह मान्यता कदापि तर्कसंगत नहीं कि मनुष्य, गौ और अश्व जैसे शब्द अपने वाच्यार्थ में कुछ निश्चित आकारों को संनिविष्ट नहीं करते। किन्तु ये आचार्य फिर भी यही मानते हैं कि ऊपर उदाहृत दो प्रकार के शब्द परस्पर तुल्य ही हैं और दोनों दशाओं में वाच्यार्थ मात्र एक अनिर्धारित अस्तित्वात्मक संकेत है। स्थिति इस प्रकार है—दृश्य पदार्थों का संकेत करने वाले शब्द एक निर्विशेष अस्तित्व का अभिधान करते हैं। आकारविशेष की धारणाएँ, जो उनके द्वारा व्यक्त की गई प्रतीत होती हैं, वस्तुतः वाच्यार्थ में समाविष्ट नहीं होतीं, किन्तु वाच्यार्थ से अपने अन्तरंग और अविच्छेद्य सम्बन्ध के कारण वे उसके साथ ही गृहीत होती हैं। अपने अनुभव से हम देखते हैं कि गौ शब्द सदैव एक विशेष आकार से युक्त पदार्थ की ओर संकेत करता है। हम सामान्यतः इस आकार को शब्द के वाच्यार्थ में समाविष्ट मानने लगते हैं। इसीलिए यह सुझाया गया है कि किसी भी शब्द के वाच्यार्थ के साथ खड़े हुए आकार-विशेष को स्वयं वाच्यार्थ मानने की भूल नहीं करनी चाहिए[2]।

यह मानना पड़ेगा कि इस मत के विरोध में जबर्दस्त आपत्तियाँ उठ सकती हैं। यदि यह मान लिया जाए कि शब्द किसी निश्चित अर्थ को प्रस्तुत न कर केवल विशुद्ध अस्तित्व को ही व्यक्त करते हैं, तो शब्दों के माध्यम से चलने वाले हमारे समस्त सामाजिक संव्यवहार निरर्थक होंगे। क्योंकि, ऐसी स्थिति में हम अलग-अलग शब्दों

---

१. अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
   अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥—वा० प० २.१२१।

२. (क) प्रयोगदर्शनाभ्यासादाकारावग्रहस्तु यः।
   न स शब्दस्य विषयः स हि यत्नान्तराश्रयः ॥—वही, १२२।
   (ख) इसी पर टीका भी देखें।

के वाच्यों में भेद नहीं कर सकेंगे। किन्तु यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि वे किसी वस्तुनिष्ठ व्यक्ति या किसी मूर्त जाति का निर्देश करते हैं, तो फिर इस मत को न्याय एवं मीमांसा-दर्शनों के प्रसिद्ध मतों से पृथक् मानने का कोई औचित्य नहीं रह जाता। यह कहा जा सकता है कि यद्यपि 'गौ' शब्द का वाच्यार्थ 'गौ' शब्द या गोत्व जाति द्वारा लक्षित होने के कारण निर्विशेष अस्तित्व मात्र नहीं है, फिर भी व्यक्तिगत विशेषताओं का निर्देश न होने के कारण शब्द केवल सत्तामात्र का अभिधान करता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। वस्तुतः 'गो-शब्द' या गो-जाति तो वाच्यार्थ की अन्तर्वस्तु को सीमाबद्ध करते हैं[1]। किन्तु यह व्याख्या भी पूर्वोल्लिखित कठिनाइयों का समाधान प्रस्तुत नहीं करती। सूक्ष्मतया देखने पर स्पष्ट हो जाएगा कि यह व्यवहारतः नैयायिक के सिद्धान्तों को ही दुहराती है कि जिसके अनुसार जातिविशिष्ट व्यक्ति शब्द का वाच्यार्थ है। यदि तर्क के लिए यह भी माना जाए कि कुछ शब्दों का वाच्यार्थ किसी विशिष्टता का निर्धारण है, जबकि अन्य का वाच्यार्थ शुद्ध और निर्विशेष अस्तित्व है, तो स्थिति में कोई सुधार नहीं आता। यह मानना कि वाच्यार्थ का कोई निश्चितस्वरूप नहीं है और यह पृथक्-पृथक् शब्दों के प्रसंग में बदलता रहता है, अनावश्यक बोझिलता (गौरव) में उलझना है। संक्षेप में इतना पूछना उपयुक्त होगा कि क्या वाच्यार्थ हमारी बुद्धि के समक्ष कोई निश्चयात्मक अन्तर्वस्तु प्रस्तुत करता है या केवल अनिश्चित अस्तित्वात्मक संदर्भ को सम्प्रेषित करता है? प्रथम स्थिति को मानने पर इस मत का व्यवहारतः नैयायिक या मीमांसक के मत से कोई भेद नहीं रह जाता। दूसरी स्थिति को मानने पर इसमें स्पष्टतः वे दोष दीखते हैं, जिनकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

एक अन्य सम्प्रदाय के मत में शब्दों का वाच्यार्थ केवल अस्तित्व नहीं हो सकता। कोई भी शब्द कुछ व्यापक निर्धारणों का अभिधान करता है, किन्तु कुछ विशेषात्मक विवरण आनुषंगिक हैं और वाक्यगत अन्वय की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक होने के कारण इन्हें भी शब्दार्थ माना जाता है। यह अवधेय है कि इस मत में शब्द का वाच्यार्थ या शक्यार्थ शब्दार्थ से भिन्न है। शब्द का वाच्यार्थ जाति, व्यक्ति, गुण या क्रिया में से प्रसंगानुसार कुछ भी हो सकता है; किन्तु वाक्यगत आकांक्षा की पूर्ति के लिए जो कुछ भी अपेक्षित है, उसे शब्द का अर्थ तो मानना चाहिए, किन्तु वाच्यार्थ नहीं। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि गो जाति का वाचक होने पर भी जब शब्द 'गाय लाओ' जैसे वाक्य में प्रयुक्त होता है, तो गो-व्यक्ति की धारणा को व्यक्त करता है। इस विशेष उदाहरण में, गो-व्यक्ति का प्रत्यय 'गौः' शब्द से ही उद्भूत हुआ है, फिर भी इसके वाच्यार्थ की अन्तर्वस्तु में इसका समावेश नहीं होता। यह आनुषङ्गिक धारणा भी शब्दार्थ मानी जाती है[2]।

---

१. अस्ति कोऽप्यर्थो गवादिशब्दाभिधेयो गोत्वादिसामान्यसंबद्धो वेति।—त० सं० प० पृ० २८४

२. (क) केचिद् भेदाः प्रकाश्यन्ते शब्दैस्तदभिधायिभिः।
अनुनिष्पादिनः कांश्चिच्छाब्दार्थं इति मन्यते॥—वा० प० २.१२३.

ऊपर दिये उदाहरण से ऐसी प्रतीति हो सकती है कि इस दूसरे सम्प्रदाय की स्थिति, लगभग पूर्वमीमांसकों की स्थिति के ही समकक्ष है, जिनके अनुसार शब्द का वाच्यार्थ जाति है और जब भी वाक्यगत आकांक्षा की सिद्धि करनी हो, तो जाति से निरपवाद रूप में संयुक्त व्यक्ति को इसके माध्यम से उपलक्षित मान लिया जाता है। ऐसी प्रतीति के निराकरण के लिए यह बतला देना आवश्यक है कि मीमांसक के मत में व्यक्ति का प्रत्यय **अनुमान** एवं **अर्थापत्ति** जैसे प्रमाणों के माध्यम से होता है, **शब्द** के माध्यम से कदापि नहीं, जबकि इस सम्प्रदाय के अनुसार यह प्रत्यय शब्दजन्य है। दोनों पक्षों के मतों में भेद का एक और भी महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। मीमांसक शब्दों के वाच्यार्थ के उस चतुर्विध वर्गीकरण को स्वीकार नहीं करते, जिसे इस पक्ष ने माना है। उनके मत में शब्द का वाच्यार्थ जाति ही है। ऐसा लगता है कि इस पक्ष ने पतञ्जलि द्वारा **व्याकरणमहाभाष्य** में समर्थित चतुर्विध वर्गीकरण से प्रेरणा ली है।

इस मत की तीखी आलोचना करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि व्यक्ति को शब्दार्थ मानना सर्वथा अयुक्तियुक्त है। शब्द जाति के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का अभिधान नहीं कर सकता। यह सही है कि वाक्यगत अन्वय की सिद्धि के लिए शब्द के वास्तविक वाच्यार्थ में कुछ अनुपूरक विवरण जोड़े जाते हैं; किन्तु अनुपूरकों को उस शब्द का अर्थ मानने के पीछे कोई औचित्य नहीं है। उदाहरण के लिए, 'गौ' शब्द गो-जाति का वाचक है। यह एक तथ्य है कि इस जाति का बोध उस आश्रय के विना सम्भव नहीं है, जिसमें यह घटित होती है। किन्तु व्यक्ति को उसकी समस्त विशिष्टताओं के सहित शब्द का अर्थ मानना तर्कविरुद्ध है[1]। 'घट' शब्द 'घटवस्तु' में वस्तुतः संबद्ध विशेष गुण एवं वैयक्तिक विशेषताओं का अभिधान नहीं करता है। ये सब घटवस्तु में वस्तुतः घटित होने के कारण अर्थ के साथ जुड़ जाते हैं। अब व्यक्तिशः परिवर्तित होनेवाले विशिष्ट निर्धारणों की उपलब्धि होने पर वे शब्द के अर्थ के साथ घुल-मिल जाते हैं और विवेक न करनेवाला व्यक्ति उस सबको पिण्डीभूत रूप में अर्थ मान लेता है[2]। किन्तु यह कहना एकदम बेमानी है कि वाच्यार्थ को अन्तर्वस्तु में प्रविष्ट न होने पर भी विशेष गुणों और वैयक्तिक विशेषताओं को शब्द का अर्थ स्वीकार करना चाहिए। तथाकथित शब्दार्थ वाच्यार्थ के प्रति केवल आनुषङ्गिक है, जो आवश्यकता पड़ने पर वाक्यगत अन्वय की पूर्ति करता है; यह कहना व्यर्थ है कि वाक्यगत अन्वय की निष्पत्ति के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, उसका कारण शब्द है और उसे शब्दार्थ मानना चाहिए। जिस प्रकार 'यजेत्' जैसे

(ख) केचिद् भेदा जात्यादयः शब्दवाच्याः केचित्तत्रार्थप्रयोजका अनुनिष्पादिन एव तथा तांश्च शब्दार्थं इत्यपरे मन्यन्ते।—इसी पर टीका।

१. जातिप्रत्यायके शब्दे या व्यक्तिरनुषङ्गिणी।
न तान् व्यक्तिगतान् भेदान् जातिशब्दोऽवलम्बते ॥—वा० प० २, १२४.

२. घटादीनां न चाकारान् प्रत्याययति वाचकः।
वस्तुमात्रनिवेशित्वात् तद्गतिर्नान्तरीयकी ॥—वा०प० २. १२५।

किसी विधिवाक्य द्वारा विहित क्रिया नियत रूप से अपने विभिन्न साधनों से संबद्ध होती है, और इसलिए क्रिया की धारणा का बोध होते ही उस क्रिया के विभिन्न साधनों की धारणा भी हमारी बुद्धि में आ जाती है, उसी प्रकार जब केवल सामान्य विशेषताओं की धारणा के माध्यम से वाक्यगत अन्वय सम्भव नहीं होता, तो विशेष गुण और वैयक्तिक विशेषताओं की धारणा हमारी बुद्धि में स्फुटित होती है। इसलिए भर्तृहरि का आग्रह है कि चूँकि वैयक्तिक विशेषताएँ सामान्य विशेषताओं के आनुषङ्गिक अनुपूरकों से अधिक कुछ नहीं हैं, अतः उन्हें शब्द का अर्थ मानना उचित नहीं[१]।

प्रासंगिक रूप से यहाँ इधर ध्यान देना उपयुक्त होगा कि प्रथम मत और इस मत का भेद स्पष्टतया देखा जा सकता है। पहला तो यह कि प्रथम मत में शब्द का वाच्यार्थ शुद्ध अस्तित्व है, जबकि इस मत के अनुसार वाच्यार्थ कुछ विशिष्ट विवरणों के संदर्भ को व्यक्त करता है। दूसरा यह कि प्रथम मत के पक्षधर कभी भी ऐसा नहीं समझते कि वाच्यार्थ का अनुपूरक जो वाक्यगत अन्वय की दृष्टि से आवश्यक है, स्वयं शब्दजन्य है; किन्तु द्वितीय मत के समर्थक यह मानते हैं कि यद्यपि यह अनुपूरक ठीक-ठीक वाच्यार्थ में तो समाविष्ट नहीं है, फिर भी इसका प्रकाशन शब्द द्वारा ही होता है।

सिद्धान्तियों का एक अन्य वर्ग भी है, जिसके अनुसार यह मानना एक आपत्तिजनक विभेदीकरण है कि कुछ विशिष्ट विवरण किसी शब्द के वाच्यार्थ में अन्तर्भूत हो सकते हैं; जबकि अन्य नहीं हो सकते। इन सिद्धान्तियों के अनुसार औचित्यपूर्ण यही है कि किसी शब्द के वाच्यार्थ में उन सभी विवरणों का समावेश हो, जो वस्तुगत दृष्टि से अर्थ में विद्यमान हैं और इसे इसका वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं[२]। फिर भी इतना अवश्य स्वीकार किया गया है कि कुछ विवरणों का स्तर अन्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। अब, वाच्यार्थ की अन्तर्वस्तु में, शब्द द्वारा सीधे तौर पर अभिहित विवरण उन विवरणों के प्रति प्रधान होंगे, जिनका बोध उस संदर्भ में वाक्यीय आकांक्षा की पूर्ति के लिए बाद में होता है। स्पष्ट तौर पर कहें कि 'घट' शब्द घट-जाति और घट-व्यक्ति, दोनों का वाचक है। ऐसा लगता है कि पुण्यराज के विचार में यह मत पूर्व की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत है[३]।

दार्शनिकों की एक अन्य शाखा के अनुसार शब्द का वाच्यार्थ एक समुदाय है, जिसका संकेत न तो विभागात्मक है, न समुच्चयात्मक[४]। इन चिन्तकों के मत

१. ....ततश्च शब्दव्यापारोऽसौ न भवति।—पु० रा०, पृ० १३३।

२. नियतास्तु प्रयोगा ये नियतं यच्च साधनम्।
तेषां शब्दाभिधेयत्वमपरैरनुगम्यते॥—वा० प० २. १२७।

३. ....किन्तु सर्वाकारमेवाभिधेयं गुणप्रधानभावेन तस्मात् प्रतीतमित्ययं पक्षः शोभनः।
—पु० रा०, पृ० १३५।

४. समुदायोऽभिधेयः स्यादविकल्पसमुच्चयः।—वा० प०, २.१२८।

में वाच्यार्थ के कुछ घटकों को अन्य घटकों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानने का कोई प्रयोजन नहीं। बल्कि, प्रत्येक घटक अन्य घटकों के ठीक समान स्तर का ही अधिकारी है। यहाँ यह अवधेय है कि समुदाय या समष्टि की रचना करने वाले घटकों के विकल्पात्मक या समुच्चयात्मक पहलू के लिए कदापि किसी भी प्रकार का आग्रह नहीं है। अतः शब्द का अर्थ इकाइयों के अलग-अलग या समुच्चयात्मक संकेत से रहित एक समुदाय या समष्टि है। यदि इकाइयाँ पृथग्भाव में अभिधेय होतीं, तो समष्टि से पृथक्कृत इकाइयों की संख्या की विविधता के अनुरूप शब्दार्थ या तो एकवचनात्मक अथवा द्विवचनात्मक या बहुवचनात्मक सत्ता होता और यदि शब्दार्थ व्यक्तियों की एक निर्धारित संख्या-वाला एक निर्धारित समुदाय होता, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति का एक समस्तरीय घटक के रूप में निश्चयात्मक बोध होता हो, तो अर्थ निश्चित रूप से अनेकात्मक होता और इस स्थिति में बहुवचन में ही इसका कथन आवश्यक हो जाता। एक ठोस उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। ब्राह्मण-शब्द 'तप, ज्ञान व कुल' जैसे सारभूत स्वभावगत धर्मों को पृथक्-पृथक् या समुच्चयात्मक रूप में व्यञ्जित कर सकता है। पहली स्थिति में अर्थ एक या दो धर्मों-वाला होने के कारण एकवचनात्मक या द्विवचनात्मक भी हो सकता है। यदि समस्त धर्मों को विवक्षितार्थ का घटक माना जाए, तो ब्राह्मण-शब्द के विवक्षितार्थ में सभी तीन गुणों का समावेश होगा और इनमें से प्रत्येक का समान स्तर होगा। इससे अर्थ अनेकात्मक हो जाएगा, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए बहुवचन ही एकमात्र उपयुक्त रूप होगा[1]।

---

१. ननु यदि आकारसमुदायं समुचितमेव प्रत्याययति तर्हि बहुवचनमेव तत्र स्यात्। अथ विकल्पितं प्रत्याययति तदा वचनविकल्पः स्यात्।—पु० रा०, पृ० १३५।

भर्तृहरि ने इस मत को और अधिक विस्तार से स्पष्ट नहीं किया है। पुण्यराज कहते हैं कि वाक्यपदीय के तृतीय-काण्ड में 'उपमासमुद्देश' पर अपनी टीका में वे इस विषय का पूर्णतर विवेचन करेंगे। खेद का विषय है कि यह टीका आज उपलब्ध नहीं है। फिर भी यह उत्साहजनक बात है कि बौद्ध विद्वान् कमलशील द्वारा अपनी पञ्जिका में इस मत का उल्लेख करके इसकी निम्नलिखित रीति से व्याख्या की गई है :—'ब्राह्मण' शब्द समुच्चय या विकल्पवाले किसी अवधारणात्मक निर्धारण के बिना तप, वंश, विद्या और ऐसे अन्य गुणों के समुदाय का अभिधान करता है। जिस प्रकार 'वन' शब्द समस्त वृक्षों के एक अनिर्दिष्ट और अस्पष्ट संप्रत्यय को उत्पन्न करता है, किन्तु न तो किसी वृक्ष विशेष की और न ही परस्पर संबद्ध व्यष्टिगत वृक्षों की सुस्पष्ट धारणा को जन्म देता है, उसी प्रकार 'ब्राह्मण' शब्द न तो निश्चित रूप में तप, वंश और विद्या को पृथक्तया अभिहित करता है, न ही यह तप, वंश और विद्या को समुच्चित रूप में व्यक्त करता है। अभिहित अर्थ तो तप, वंश और विद्या का केवल सामान्यतया एक सामूहिक समग्रता के रूप में समुदाय या समष्टि है, जिन्हें अन्य सहसम्बन्धियों से पृथक् पहचाना जा सकता है।

एक अन्य मत में, सभी शब्दों का वाच्यार्थ एक अवातस्विक सम्बन्ध है[1]। उदाहरणस्वरूप यह कहा गया है कि 'घट' शब्द का अभिधेय व्यक्ति-घट का घट-जाति से संबद्ध है। अब चूँकि यह सम्बन्ध जिन संसर्गियों—अर्थात् घट-व्यक्ति और समस्त घटों में समवेत जाति के बीच विद्यमान है, उनसे व्यतिरिक्त रूप में उपलब्ध नहीं हो सकता, अतः यह मिथ्या है। प्रासंगिक रूप से यह भी अवेक्षणीय है कि वेदान्ती की भाँति इन आचार्यों के मत में भी समवाय आदि सम्बन्ध की उन संसर्गियों के अस्तित्व से पृथक् सत्ता नहीं है, जिनके बीच वह सम्बन्ध अवस्थित है[2]।

सिद्धान्तियों के एक अन्य संप्रदाय के अनुसार शब्द का वाच्यार्थ मिथ्या नहीं है; अपितु मिथ्या उपाधियों से युक्त सत्य है[3]। यह सर्वविदित है कि हमारी पारस्परिक सामाजिक अभिव्यक्तियों में केवल सामान्य रूपों का संकेत नहीं होता, विशेष रूपों का संकेत प्रायः ही किया जाता है। अतः विशेष रूपों का भी शब्द के वाच्यार्थ में समावेश करना आवश्यक है। किन्तु विशेष रूप केवल मिथ्या-कल्पनाएँ हैं। अतः इन विचारकों का यह मानना है कि विशेष निर्धारणों की उपाधियों सहित जातिगत रूप का समावेश करने वाला शब्दार्थ असत्य उपाधियों से युक्त सत्य है। यद्यपि भर्तृहरि एवं पुण्यराज ने इस मत का विस्तार नहीं किया है; किन्तु कमलशील ने इसे सोदाहरण स्पष्ट किया है। कमलशील के प्रस्तुतीकरण के अनुसार इस मत में स्वर्ण जैसे द्रव्य का एक सामान्य रूप है, जो इससे निर्मित सभी विभिन्न वस्तुओं, जैसे कंगन, अँगूठी, कुण्डल आदि में व्याप्त है। सामान्य अथवा जातिगत रूप एकरूप और अपरिवर्तित है और इसलिये इसे सत्य माना जाता है, जबकि व्यक्ति-रूपों को, जिनकी प्रकृति परिवर्तित होती रहती है, मिथ्या कल्पना माना जाता है। अब, शब्द

[अनुवादक ने अपने एक शोधपत्र में स्पष्ट किया है कि जिसे पुण्यराज 'उपमा-समुद्देश' कह रहे हैं, वह वस्तुतः वृत्तिसमुद्देश का ही एक हिस्सा है, जिसमें उपमान पर चर्चा की गई है। प्रस्तुत विवेचन भी उस हिस्से में उपलब्ध है। देखें—जर्नल ऑफ ओरियन्टल इंस्टीट्यूट ऑफ बड़ोदा, खण्ड ३०, भाग ३-४, मार्च-जून १९८१]।

१. असत्यो वापि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते।—वा० प० २.१२८।

२. समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः।—ब्र० सू०, २.२.१३।

यह ध्यान देने योग्य है कि कमलशील इस मत की व्याख्या कुछ भिन्न रीति से करते हैं। वे इन सिद्धान्तियों का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि चूँकि 'ब्राह्मण' शब्द तप, वंश और विद्या जैसे गुणों को श्यामल वर्ण की भाँति एकात्मक इकाई के रूप में अभिहित करता है और चूँकि ये गुण पृथक्-पृथक् अथवा समुच्चित रूप में स्वरूपतया गृहीत नहीं होते, अतः शब्द का वाच्यार्थ भी, जो इन गुणों का परस्पर सम्बन्ध माना गया है, अलातचक्र की भाँति मिथ्या होना चाहिए।

३. (क) असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धनम्। —वा प., २.१२८।
(ख) अथ सत्यमेवासत्योपाधिविचित्रितं शब्दवाच्यम्। —पु. रा., पृ. १३५।

से क्योंकि सामान्य और विशेष, दोनों ही रूपों का अभिधान होता है, अतः इसका वाच्यार्थ मिथ्या उपाधियों से युक्त सत्य माना जाता है।

एक अन्य वर्ग के मत में, शब्द का वाच्यार्थ किसी वस्तुपरक तथ्य के साथ एकीकृत इसका अपना स्वरूप है[1]। शब्द के उपकरणों के माध्यम से लगभग अनिवार्य रूप से किसी वस्तुनिष्ठ तथ्य का निर्देश किया जाता है और इसलिये शब्द का तथ्य या पदार्थ के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध माना जाता है। यह तादात्म्य-सम्बन्ध (या अध्यास, जैसा कि पुण्यराज ने कहा है[2]) किसी वस्तुपरक तथ्य को उसके अपने स्वरूप में नहीं, अपितु शब्द-स्वरूप के साथ मानो एकीभूत रूप में प्रस्तुत करता है और वस्तुपरक तथ्य के साथ एकीकृत हुआ-सा यह शब्द-स्वरूप ही शब्द का वाच्यार्थ माना गया है। यह भी कहा गया है कि यद्यपि शब्द और वस्तु एकीभूत होकर शब्द के वाच्यार्थ होते हैं, फिर भी यह अविवाद्य है कि कभी शब्दपक्ष पर बल होता है और कभी वस्तुपक्ष पर। हमारे दैनन्दिन प्रयोगों में किसी वस्तुपरक तथ्य का निर्देश अधिक प्रायिक होता है, जबकि व्याकरण-ग्रन्थों में शब्द कभी अपने स्वरूप का वाचक होता है और कभी वस्तुपरक तथ्य का[3]।

इस मत की आलोचना में यह कहा जा सकता है कि शब्द और तथ्य का ग्रहण भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होने के कारण दोनों के एकीकरण की अवधारणा केवल तभी बुद्धिगम्य हो सकती है, जब दोनों को व्यक्तिनिष्ठ धारणाएँ माना जाए। और इस स्थिति में इस मान्यता का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि शब्दस्वरूप वस्तुगत सत्ता के साथ एकीभूत-सा है[4]।

दो अन्य मत ऐसे हैं जो परस्पर विरुद्ध हैं। इनमें एक के अनुसार केवल शब्द ही तथ्य को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है; जबकि तथ्य स्वयं को अभिव्यक्त

---

१. शब्दो वाप्यभिजल्पत्वभागतो याति वाच्यताम्।
सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद् रूपमेकीकृतं यदा॥
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते॥ —वा. प., २.१२९-३०।

२. अभिजल्पत्वमध्यासरूपत्वमागतः शब्दः। —पु. रा., पृ. १३६।

३. तयोरपृथगर्थत्वे रूढेरव्यभिचारिणी।
किञ्चिदेव क्वचिद् द्रव्यं (रूपं ?) प्राधान्येनावतिष्ठते॥
लोकेऽर्थरूपतां शब्दः प्रतिपन्नः प्रवर्तते।
शास्त्रे तूभयरूपत्वं प्रविभक्तं विवक्षया॥ —वा. प., २.१३१-३२।

४. तथा हि बाह्ययोः शब्दार्थयोर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वादिभ्यो भेदस्य सिद्धेस्तयोरैक्यापादनमयुक्तमेव भाविकम्। अतो बुद्धिस्थयोरेव शब्दार्थयोरेकबुद्धिगतत्वादेकीकरणं युक्तम्। तथा हि उपगृहीताभिधेयाकारस्तिरोभूतशब्दस्वभावो बुद्धौ विपरिवर्तमानः शब्दात्मा स्वरूपानुगतमर्थं विभागेनान्तःसन्निवेशयन्नभिजल्प उच्यते। स च बुद्धेरात्मगत एवाकारो युक्तो न बाह्यस्तस्यैकान्तेन परस्परं विविक्तस्वभावत्वात्। —त. सं. प. १, पृ. २८८।

करने में अशक्त है। प्रकृति के जड़-तथ्य शब्द द्वारा प्रदत्त प्रकाश के विना स्वयं को ज्ञापित नहीं कर सकते। दूसरे मत की यह मान्यता है कि तथाकथित जड़ तथ्य कोई असहाय या अनाथ नहीं है, जैसा पूर्वमत में प्रतिपादित किया गया है। जिन वस्तु-तथ्यों को शब्दों द्वारा प्रकाश्य माना जाता है, वे असीमतया विविध प्रकारों से अपने आपको अभिव्यक्त करने में पर्याप्त समर्थ हैं, और शव्द केवल उस विशेष को प्रकाशित करने में सहायक है, जिसके द्वारा कोई सत्ता किसी विशेष उदाहरण में अपने आपको अभिव्यक्त करती है[1]।

एक अन्य मत के अनुसार, शब्दों का वाच्यार्थ एक प्रत्यय या एक मानसिक विम्ब है, जिसका कारण कोई बाह्यपदार्थ है और जो उस बाह्य-पदार्थ पर आरोपित होकर स्वयं उस बाह्य-पदार्थ के रूप में गृहीत होता है। किन्तु जब तक यह प्रत्यय वस्तु-सत्ता पर आरोपित न होकर मात्र प्रत्यय के रूप में रहता है, यह शब्द के वाच्यार्थ के रूप में पहचाना नहीं जाता। प्रत्यय का बाह्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किसी भ्रान्ति के कारण होता है और वस्तुसत्ता के साथ इस प्रकार तादात्म्यीकृत व्यक्तिनिष्ठ प्रत्यय ही शब्द का वाच्यार्थ माना जाता है। शुद्ध व्यक्तिनिष्ठ प्रत्यय शब्द के वाच्यार्थ के रूप में मान्य क्यों नहीं हो पाता, इसका कारण खोजना कोई विशेष कठिन नहीं है। व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययों में क्रियायोग नहीं हो सकता और इसलिये जब तक वस्तुपरक तथ्यों के रूप में उनका तत्त्वीकरण न हो जाए, तब तक उन्हें शब्द का वाच्यार्थ मानने की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है[2]।

इस मत और बौद्धों के अपोहवाद के मध्य संभावित सांकर्य के विषय में न तो भर्तृहरि ने, और न ही पुण्यराज ने कोई संकेत किया है। किन्तु 'कमलशील' ने प्रयासपूर्वक सिद्ध किया है कि किसी असावधान प्रेक्षक को दिखलाई पड़ने वाले सादृश्य के मुद्दों के बावजूद दोनों मतों में आधारभूत मतभेद है। बौद्धों के अनुसार भी शब्द का वाच्यार्थ वस्तुनिष्ठ तथ्य के रूप में तत्त्वीकृत एक व्यक्तिनिष्ठ प्रत्यय है। किन्तु बौद्ध इस वस्तुनिष्ठ तथ्य की वास्तविक सत्ता कदापि नहीं मानेंगे—यह तो सर्वथा काल्पनिक है। ऊपर वर्णित मत के प्रतिपादनकर्त्ताओं के विचार में शब्द का वाच्यार्थ बाह्य-पदार्थों पर आरोपित प्रत्यय के रूप में एक वास्तविक सत्ता है और ये बाह्य-पदार्थ भी वास्तविक हैं। किन्तु बौद्ध, वस्तुनिष्ठ संकेत को विज्ञान-तत्त्व का प्रक्षेपण मानते हैं, जिसका आधार किसी वस्तुसत्ता में नहीं है। बौद्धों के अनुसार वाच्यार्थ भ्रान्त्यात्मक प्रक्षेपण से अधिक कुछ नहीं है। वे इससे सहमत हैं कि शब्दबोध में जिसका प्रस्तुतीकरण होता है, वह निस्संदेह एक व्यक्तिनिष्ठ प्रत्यय है;

---

१. अशक्तेः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता।
एकास्यार्थस्य नियता क्रियादिपरिकल्पना॥ —वा. प., २.१३३।

२. यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः।
स बाह्यवस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते॥ —वही, १३४।

किन्तु इसे वास्तविक व्यापार से युक्त वस्तुनिष्ठ तथ्य मान लिया जाता है। यह वस्तुनिष्ठ तथ्य यथार्थ सत्ता नहीं है, क्योंकि यथार्थ सत्ता में तात्त्विक सत्ता के सभी गुण होने चाहिए, जो बौद्धों के मत में अनन्य और स्वलक्षण है। अतः बौद्धों के मत में शब्दों का अर्थ शुद्ध रूप से काल्पनिक है।

कुछ अन्य चिन्तक सुझाते हैं कि कुछ शब्दविशेष आकारोंवाले मूर्त पदार्थों के वाचक होते हैं, जब कि अन्य किसी अमूर्त भाव का अभिधान करते हैं[1]। उदाहरण के लिए 'गौ' शब्द के वाच्यार्थ में कुछ मूर्त आकार समाविष्ट हैं, जो मानस पर निश्चित संस्कार छोड़ते हैं, जब कि 'पुण्य' शब्द एक सर्वथा बौद्धिक धारणा का वाचक है, जिसका वस्तुजगत् में कोई संवादी प्रतिरूप नहीं है। इन परिस्थितियों में शब्द का वाच्यार्थ सभी उदाहरणों में एक समान नहीं है।

भर्तृहरि द्वारा लेखाङ्कित बारह मतों में अन्तिम मत के अनुसार शब्द का वाच्यार्थ कभी नियत नहीं होता। यह विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न स्रोतों से बद्धमूल संस्कारों (वासनाओं) के भेद के अनुरूप बदलता रहता है। यह देखा जाता है कि एक ही शब्द पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् अर्थ संप्रेषित करता है। उदाहरण के लिए न्याय-वैशेषिक-दर्शन में विश्वास रखने वाले किसी व्यक्ति के लिए 'घट' शब्द अवयवों से निर्मित अवयवी का वाचक है। जबकि सांख्यदर्शन में प्रशिक्षित व्यक्ति के लिए इसका अर्थ गुणों का समाहार है और बौद्ध-दर्शन से संबद्ध व्यक्ति के लिए यह परमाणुसमुच्चय का प्रत्यायन करता है। एक ही व्यक्ति यदि किसी विशेष दार्शनिक संप्रदाय में अपनी निष्ठा छोड़कर दूसरे संप्रदाय के प्रति निष्ठावान् हो जाए, तो वह अलग-अलग समयों पर एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ प्रतिपादित करता है[2]।

इस प्रकरण का समापन करते हुए भर्तृहरि अपनी एक प्रबोधक टिप्पणी जोड़ते हैं, जो उनकी तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि की परिचायक है। निश्चय ही दर्शन और तर्कशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में प्रशिक्षित व्यक्तियों में इस विषय पर परस्पर मतभेद होगा कि शब्दों का वाच्यार्थ सही-सही किसे माना जाए[3]? केवल आत्मा में परमसत्य का प्रकाश उदित होने पर ही इन मतभेदों का लोप हो सकता है। जो व्यक्ति परम-सत्य के दर्शन द्वारा कृतकृत्य नहीं हुए हैं, वे तथ्यों का अध्ययन उचित परिप्रेक्ष्य में नहीं कर पाते और इसलिए उनके कथन त्रुटि एवं दोष से मुक्त नहीं हो

---

१. आकारवन्तः संवेद्या व्यक्तस्मृतिनिबन्धनाः।
ये ते प्रत्यवभासन्ते संविन्मात्रं त्वतोऽन्यथा॥ —वा. प., २.१३५।

२. इदानीं प्रतिनियतवासनावशेनैव प्रतिनियताकारोऽर्थस्तत्त्वतस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयते........। —पु. रा., पृ. १३८।

३. एकस्यापि च शब्दस्य निमित्तैरव्यवस्थितैः।
एकेन बहुभिश्चार्थो बहुधा परिकल्पते॥ —वा. प., २.१३९।

सकते[1]। निस्संदेह, यह कहा जा सकता है कि तत्त्वदर्शी ऋषि हमारे लिए सत्य और असत्य का निर्णय कर सकते हैं[2]; किन्तु भर्तृहरि के अनुसार ऋषियों की दृष्टि यथातथ्य होने पर भी, यह नहीं भूलना चाहिए कि यह लोकोत्तर है। और हम सभी यह जानते हैं कि हमारे लौकिक एवं सामाजिक व्यवहार पारमार्थिक सत्यों से नहीं चलाये जा सकते। शब्दों के व्यावहारिक अर्थ को समझने में पारमार्थिक सत्य का कोई विशेष उपयोग नहीं है[3]। यदि परमार्थ हमारी सहायता नहीं कर सकता, तो फिर यह पूछा जा सकता है कि क्या अपने प्रतिदिन के सामाजिक संव्यवहार की व्याख्या में हम प्रत्यक्ष ज्ञान का सहारा ले सकते हैं। स्पष्टतया कहें, कि शब्दों के वाच्यार्थ का निश्चय करने के लिए हम प्रत्यक्ष का आश्रय क्यों न लें[4]। भर्तृहरि हमें चेतावनी देते हैं कि सत्य के निर्णय के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान की क्षमता पर अत्यधिक निर्भर होना उचित नहीं। क्या यह वास्तविकता नहीं कि हम सभी को आकाश एक छत के रूप में दिखाई देता है और खद्योत अग्नियुक्त प्रतीत होता है[5]? इसीलिए भर्तृहरि प्रत्यक्ष अनुभवों को युक्ति की कसौटी पर कसने की आवश्यकता की ओर संकेत करते हैं[6]। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में युक्ति भी हमारे लिए कोई विशेष सहायक नहीं है। जैसा पहले दिखलाया जा चुका है, दर्शनों के भेद के साथ यह भी बदलती रहती हैं। इसलिए, भर्तृहरि के विचार में शब्दार्थ के विवेचन को अपरिमित विस्तार देना व्यर्थ है। वे कुछ-कुछ अनियतत्ववाद की ओर उन्मुख हैं और मानते हैं कि किसी सर्वमान्य मत तक पहुँचना असम्भव है। शब्दों का अर्थ अधिकांशतया हमारी आत्मनिष्ठ वृत्ति और संस्कारों द्वारा निर्धारित होता है और इसलिए विभिन्न दर्शनों में पद का वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न माना गया है। अतः एक मत और दूसरे मत में असंगति या विरोध होने पर आश्चर्य की कोई आवश्यकता नहीं[7]।

---

१. तस्माददृष्टतत्त्वानां सापराधं बहुच्छलम्।
दर्शनं वचनं चापि नित्यमेवानवस्थितम्॥ —वा प., २.१४०।

२. ननु सन्त्येव परावरज्ञा मुनयस्तदनुसारेण सर्वं व्यवस्थापयिष्यामः।—पु. रा., पृ. १३९।

३. ऋषीणां दर्शनं यच्च तत्त्वे किञ्चिदवस्थितम्।
न तेन व्यवहारोऽस्ति न तच्छब्दनिबन्धनम्॥ —वा. प., २.१४१।

४. ननु पुरुषबुद्धयो विचित्रा भवन्तु प्रत्यक्षेण खलु वयं यथावदर्थो दृष्टस्तथैव च व्यवहरिष्यामः। —पु. रा. पृ. १४०।

५. तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव।
न चैवास्ति तलं व्योम्नि न खद्योते हुताशनः॥ —वा. प., २.१४२।

६. तस्मात्प्रत्यक्षमप्यर्थं विद्वानीक्षेत युक्तितः।
न दर्शनस्य प्रामाण्याद् दृश्यमर्थं प्रकल्पयेत्॥ — वही, १४३।

७. यस्य यथैव स्वदर्शनानुसारेण प्रतिभाति, तथैव तस्य स शब्दार्थ इत्येवाश्रयणीयमित्यलं निर्वस्तुबहुविकल्पप्रदर्शनेनेत्याहः
असमाख्येयतत्त्वानामर्थानां लौकिकैर्यथा।
व्यवहारे समाख्यानं तत्प्राज्ञो न विकल्पयेत्॥ —वा॰ प०, २.१४४.

जहाँ तक भर्तृहरि का प्रश्न है, उनके दर्शन में पद का अर्थ एक मिथ्या कल्पना है; क्योंकि वे वाक्य और वाक्यार्थ की अविभाज्य सत्ता में विश्वास रखते हैं। अतः उनके लिए शब्द और शब्दार्थ का वास्तविक महत्त्व मात्र एक साधन के रूप में है, जो साध्य को स्पष्ट करने और उस तक पहुँचने में सहायक बनता है।

——

अष्टमोन्मेष

वाक्यार्थ

उपक्रम

वाक्य को सामान्यतः ऐसे व्यष्टि पदों के समूह के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो परस्पर अन्वित अवधारणाओं से युक्त एक निर्णय में परिणत होते हैं[1]। इस प्रकार वाक्य केवल एक विशेष संनिधि में रखे हुए अलग अलग पद हैं, जिनके अर्थ अपनी परस्पर योग्यता और सामंजस्य के बल पर एक निर्णय में समन्वित होते हैं। वाक्य की यह अवधारणा मीमांसकों एवं नैयायिकों के मत का प्रतिनिधित्व करती है और सहज-बोध द्वारा कमोवेश अनुमोदित ही है। मीमांसक एवं नैयायिक अपने तत्त्वमीमांसीय निष्कर्षों में यथार्थवादी एवं ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण में अनुभववादी हैं। वे अनुभव की व्याख्या सहज बोध के मानकों के अनुरूप करते हैं और बोध की प्रतिकूल स्थिति के प्रतिष्ठापक तर्क-सिद्धान्तों से परहेज करते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि इन दर्शनों के आचार्यों ने शब्द और अर्थ के तत्त्वमीमांसीय स्तर के विषय में वैयाकरणों के प्रत्ययवादी सिद्धान्त की आलोचना की है। हमारा प्रतिज्ञात कार्य वैयाकरणों के दार्शनिक दृष्टिकोण की व्याख्या करना है और इसलिये यदि हम यथार्थवादी दर्शनों के वादों का विस्तृत निरूपण करें, तो यह विषयान्तर समझा जाएगा; किन्तु वाक्यार्थ की व्याख्या के लिए नैयायिकों तथा भाट्ट एवं प्राभाकर मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित वादों की प्रतिष्ठा और प्रतीयमान तार्किक संगति को देखते हुए उनका विस्तृत परीक्षण आवश्यक है, जिससे वैयाकरण की स्थिति का सही मूल्याङ्कन और तर्क के आधार पर प्रमाणित होने पर, सुदृढ़ रूप में उसकी स्थापना की जा सके। अतः हम मीमांसा के दो परस्पर प्रतिस्पर्धी संप्रदायों द्वारा प्रवर्तित मतों, अर्थात् अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद का परीक्षण करने के उपरान्त नैयायिक मत की समीक्षा करेंगे, जो इन दोनों से ही भिन्न प्रतीत होता है।

१. अन्विताभिधानवाद

प्रभाकर और उनके अनुयायियों के अनुसार वाक्य ही वस्तुतः अर्थवान् है। अलग पड़ा हुआ एकाकी शब्द कभी भी प्रयोग में नहीं देखा जाता। वाक्य ही प्रयोजन-

१. वाक्यं नामैकविशिष्टार्थप्रतिपादनपराणि पदान्येव। —न्या. र. मा., पृ० ८९.

युक्त अर्थ को वहन करने वाली वास्तविक इकाई है। व्यष्टि-पद केवल वाक्य के घटकों के रूप में ही अर्थवान् है। प्रभाकर वैयाकरण के इस मत से सहमत नहीं कि वाक्य एक निरवयव इकाई है। समग्र के अवयवों के रूप में विविध घटकों की उपलब्धि को भ्रम कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। उनके अनुसार वाक्य एक इकाई तो है; किन्तु यह अपने-अपने अर्थों के माध्यम से सहसम्बद्ध अवयवों की एक सावयव समष्टि है। वाक्य में अपनी स्थिति से अलग पद केवल एक पृथक्करण या अपोद्धार है, या कि एक कबन्ध मात्र है; फिर भी बुद्धि के स्पष्ट निर्णय का तिरस्कार किये विना इसकी विशिष्ट वैयक्तिकता को नकारा नहीं जा सकता। इस दृष्टि से उनका कुमारिल एवं नैयायिकों से मतैक्य है। यह अविवाद्य है कि वाक्य एक निर्णय को प्रस्तुत करता है और निर्णय सदैव एक अन्वित समग्रता है। यद्यपि व्यष्टि पदों के अर्थों का निश्चय अन्वय-व्यतिरेकात्मक विश्लेषण द्वारा किया जाता है, तथापि उन अर्थों की मात्र अनन्वित तथ्य मानना, जिनमें बाद में किसी प्रकार अचानक सम्बन्ध घटित हो गया है, उचित नहीं। यह ठीक है कि ये अर्थ अवधारणाएँ हैं; किन्तु ये अवधारणाएँ अवयविक रूप में एक-दूसरी से सम्बद्ध हैं और इसी रूप में इनका बोध भी होता है। अवधारणाओं को सम्बन्धविहीन रूप में लेने का अर्थ होगा, विश्लेषण की प्रक्रिया को ज्यादा ही दूर तक खींचना। उनका बोध अन्वित रूप में होता है और उन्हें उनके इस अन्वित रूप से वञ्चित करने का कोई कारण नजर नहीं आता। निर्णय के सक्रिय तत्त्वों के रूप में अवधारणाओं से अन्वितता जुड़ी रहती है। हो सकता है कि अन्वय-तत्त्व का पृथक्करण हमारी बुद्धि की अपेक्षाओं के अनुकूल हो, फिर भी हमें सिर्फ अवधारणाओं को ही शब्दों का वास्तविक अर्थ मानने की गलती नहीं करनी चाहिए।

यद्यपि एक पद, चाहे वह क्रिया हो या संज्ञा, पृथक्-पृथक् वाक्यों में भिन्न-भिन्न पदों के साथ अन्वित होता है और उसके साथ ही सम्बद्ध अवधारणाएँ और उनके बीच का सन्बन्ध भी परिवर्तित होगा ही; किन्तु व्यष्टि-अवधारणाओं के भेद से निरपेक्ष यह तथ्य अविकल एवं अकाट्य है कि एक अवधारणा दूसरी उपयुक्त अवधारणा के साथ अन्वित होती है। शब्द किसी एक वाक्य में किसी अन्य शब्दविशेष के साथ अन्वित हो सकता है और फिर दूसरे वाक्य में उसी शब्द का एक सर्वथा भिन्न शब्द से अन्वय सम्भव है; किन्तु इतना निश्चित है कि यह कहीं न कहीं अन्वित अवश्य होगा। संसर्गियों में परिवर्तन हो सकता है; किन्तु सम्बन्ध से व्यतिरिक्त उनकी कोई सत्ता नहीं है। इस प्रकार, अन्वय पदों द्वारा सम्प्रेषित अवधारणाओं का अनिवार्य अंग है। इसीलिये प्रभाकर का यह मत है कि व्यष्टि शब्द अन्वितरूप में ही अपने अर्थों को संप्रेषित करते हैं, चाहे संसर्गी क, ख, ग कुछ भी हों। संक्षेप में, प्रभाकर का मत यह है कि वाक्य का अर्थ एक सुसंगत वैयक्तिक निर्णय है और यद्यपि अन्ततः यह अर्थ व्यष्टिरूप घटक पदों में खोजा जा सकता है और इन पदों के अर्थ अवधारणाएँ हैं, तथापि इन अवधारणाओं का बोध सदैव अन्वित अवधारणाओं के

रूप में होता है। अतः शब्द अन्वित-अवधारणा का अभिधान करता है और एक अन्वयहीन अवधारणा मात्र एक पृथक्करण है[1]।

किन्तु एक शंका इस सम्बन्ध में उठाई गई है और वह वास्तव में ही एक बड़ी अड़चन है। यह मान भी लें कि प्रत्येक पद अन्वित अर्थ का अभिधान करता है; किन्तु अन्वित अर्थ के रूप में इसका ग्रहण तभी हो सकेगा, जब दूसरी अवधारणा के रूप में दूसरा अन्वयी ज्ञात हो। क्या वह अर्थ या अवधारणा, जिसके साथ इसके अन्वय का बोध होता है, किसी अन्य पद द्वारा अभिहित होती हैं ? या इसकी अपनी ही सामर्थ्य से ? यदि यह मानें कि अन्य पद का आश्रय लिये विना ही पदार्थ दूसरे अर्थ से अन्वित होकर व्यक्त होता है, तो एक ही पद सम्पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त होगा और वाक्य में अन्य पदों की उपस्थिति की व्यर्थता प्रसक्त होगी। यदि इस कठिनाई से बचने के लिये यह मान लें कि दूसरी अवधारणा दूसरे पद से व्यक्त होती है, तो निस्संदेह व्यर्थता की सम्भावना का तो निराकरण हो जाएगा; किन्तु अन्योन्याश्रय की स्थिति उत्पन्न होगी। एक स्पष्ट उदाहरण लें—'गाय लाओ', इस वाक्य में यदि 'गाय' पद अपने अर्थ का अभिधान 'लाओ' क्रियापद द्वारा वाच्य क्रिया के साथ अन्वितरूप में करता है, तो यह तभी सम्भव हो सकता है, जब क्रिया क्रियापद द्वारा पहले अभिहित हो चुकी हो। अब, क्रियापद का अर्थ भी गौ-पदार्थ के साथ अन्वित होकर तभी व्यक्त हो सकता है, जब पहले 'गाय' पद इस अर्थ को व्यक्त कर चुका हो। यह वृत्ताकार प्रक्रिया इसलिये अपरिहार्य है; क्योंकि यह अनिवार्य पूर्वशर्त मान ली गई है कि कोई भी पद अनिवार्यतः अन्य पदार्थ के साथ वस्तुतः अन्वित अर्थ का अभिधान करेगा, जबकि यह दूसरा अर्थ वस्तुतः पदान्तर द्वारा अभिहित होता है। इस प्रकार अन्वय का तत्त्व, जो किसी पद के अर्थ की पूर्णता के लिये अनिवार्य बन चुका है, तभी समझा जा सकता है, जबकि दूसरा अर्थ पहले से ही ज्ञात हो; किन्तु प्रथम पद द्वितीय पदार्थ के साथ अन्वित अर्थ का अभिधान करता है और द्वितीय पद प्रथम पदार्थ के साथ अन्वित अर्थ को व्यक्त करता है और क्योंकि प्रत्येक अर्थ समान रूप से पदान्तर के अर्थ की अनिवार्य पूर्वशर्त हैं, इसलिए अन्योन्याश्रय-दोष अपरिहार्य है। यदि इसके विपरीत यह माना जाय कि पद पहले अनन्वित अर्थों का और तदनन्तर उनके अन्वय का अभिधान करते हैं, तो वृत्ताकार तर्कदोष से तो बचा जा सकता है; लेकिन इसके लिये बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है; क्योंकि ऐसा मानते समय हमें मनमाने ढंग से एक शब्द में दुहरी वाचक-शक्ति माननी होगी, एक शुद्ध अर्थ के लिये और दूसरी उनके वाक्यगत अन्वय के लिये। इस अवांछित परिकल्पना का औचित्य किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं

---

१. यद्यपि प्रतिप्रयोगं विशेषान्तरसंसर्गयोर्व्यभिचारः; तथापि योग्येतरान्वितस्य स्वार्थमात्रस्याव्यभिचारात् प्रथमावगतयोग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसामर्थ्यानुसारेण प्रयोगान्तरेष्वपि तथैव कल्पयिष्यते। —त. प्र., पृ० १४५.

किया जा सकता, एक तो ऐसी दुहरी वाचक-शक्ति हमारे अनुभव में कभी नहीं आती और दूसरे यह इस स्वीकृत नियम का स्पष्ट उल्लंघन करती है कि शब्द उत्तरोत्तर एक ही श्रेणी और प्रकार के अनेक व्यापारों को निष्पन्न नहीं कर सकता[1]। शब्द का एक ही व्यापार हो सकता है और उस व्यापार के द्वारा वह एक अर्थ को अभिव्यक्त कर सकता है, अर्थाभिव्यक्ति हो जाने पर यह व्यापार रुक जाता है। यदि एक ही व्यापार की नैरन्तर्ययुक्त प्रवृत्ति सम्भव होती, तो इससे लक्षणा जैसे अन्य व्यापारों की परिकल्पना व्यर्थ हो जाती।

अन्वितार्थ के अभिधान से आखिर क्या तात्पर्य है? यदि इसका यह तात्पर्य है कि वाक्य के घटकों के रूप में पद परस्पर अन्वित अर्थों वाले एक निर्णय को प्रस्तुत करते हैं, तो इसमें किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति न होगी। यह सभी स्वीकार करते हैं कि वाक्य का या चाहें तो यह कह लें कि वाक्य के घटक पदों का, अर्थ संबद्ध अवधारणाओं का एक संघात है, जिसे एक-शब्द में निर्णय कहा जा सकता है। यदि कहा जाए कि पृथक्-पृथक् शब्दों का चुनाव और सामञ्जस्य उनके अर्थों को पारस्परिक अन्वय में लाने की दृष्टि एवं उद्देश्य से किया जाता है, तो यह कथन मतान्तरों का भी समर्थन पा सकता है[2]; किन्तु यदि इसका यह अर्थ है कि एक या अनेक पद अपनी मुख्य शक्ति के द्वारा अर्थों के अन्वय का अभिधान करते हैं, तो यह स्थिति स्वीकार्य नहीं हो सकती। अर्थाभिधान में शब्द की मुख्य शक्ति के सफलतापूर्वक व्यापार के लिए शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध पूर्वज्ञात होना आवश्यक है, चाहे यह सम्बन्ध स्वाभाविक हो या रूढ़िगत हो। किसी विदेशी भाषा को न समझ पाने के पीछे यही कारण है और इसी कारण से वाक्य में अपरिचित शब्द अर्थाभिव्यक्ति में असमर्थ रहते हैं; किन्तु वाक्य के समग्र अर्थ के साथ पद के सम्बन्ध का पूर्वज्ञान नहीं होता; क्योंकि वाक्य अपूर्व होते हैं और उनके समग्रभूत अर्थ पहले से ज्ञात नहीं होते। अन्वय के अभिधान को शक्ति व्यष्टि-अर्थ तक ही सीमित है। यदि घटक पदार्थों के अन्वय, अर्थात् वाक्यार्थ में भी यह शक्ति मान लें, तो पदों एवं वाक्यों के अर्थों का ग्रहण एक झटके में हो जाना चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं। यदि ऐसा होता, तो पदार्थों को तार्किक संगति (योग्यता) इत्यादि की चिन्ता किए विना ही शाब्द-निर्णय अर्थात् वाक्यार्थ घटित हो जाता है[3]।

---

१. सकृत्प्रयुक्तशब्दस्य विरम्य व्यापारानुपपत्तिः। —न. प्र., पृ० १४६.

२. किं चेदमन्विताभिधानं नाम? न तावदन्वितप्रतिपादनमात्रम्। अविवादात्। नापि स्वार्थाभिधायास्तत्र तात्पर्यम्। अविवादात्। —न्या० कु० ३, पृ० ७२-७३

३. नापि सङ्गतिबलेन तत्प्रतिपादनम्, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात्। नापि स्वार्थसङ्गतिबलेन तस्य स्वार्थ एवोपक्षयात्। नापि सैव सङ्गतिरुभयप्रतिपादिका, प्रतीतिक्रमानुपपत्तेः। यौगपद्याभ्युपगमे तु योग्यत्वादिप्रतिसन्धानशून्यस्यापि पदार्थप्रत्ययवद् वाक्यार्थप्रत्ययप्रसङ्गात्। —वही, पृ० ७३.

यह माना जा सकता है कि शक्ति का व्यापार व्यक्तिगत अर्थों के प्रसंग में तो स्वतन्त्र और सीधे तौर पर है; किन्तु शक्ति द्वारा वाक्यार्थ, अर्थात् पदार्थान्वय, का अभिधान व्यक्तिगत पदार्थों की सहायता से किया जाता है। इस प्रतिवाद में काफी दम है और इससे पूर्वोल्लिखित तर्कों में संकेतिक कठिनाइयों का निराकरण हो गया-सा प्रतीत होता है; किन्तु यह अभिधा-शक्ति को कारण की पदवी तक उठा देता है[1]। मध्यवर्ती व्यापार के द्वारा फल को निष्पन्न करने वाले साधन को कारण कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर, एक व्यापार-विशेष द्वारा कुल्हाड़ी वृक्ष के कटने में कारण होती है[2]। प्रस्तुत प्रसंग में यह माना गया है कि अभिधा-शक्ति पहले पदों के अर्थों को व्यक्त करते हुए, तदनन्तर उनके माध्यम से वाक्यार्थ को व्यक्त करती है, जो कि एक निर्णय है। वास्तव में ऐसा करण तो पद ही हो सकता है, उससे भिन्न शक्ति नहीं। नैयायिक की मान्यता के अनुसार पदार्थान्वय के ज्ञान का करण पद है; किन्तु ऐसा इसलिए है कि यह पहले अनन्वित अर्थ का अभिधान करता है और फिर अन्य अर्थ से इसके अन्वय का। यदि प्रभाकर का यह पक्ष है कि वाक्यार्थ अर्थात् अन्वय के साथ पद के वाचक सम्बन्ध का पूर्वज्ञान होता है और उसी ज्ञान के द्वारा पद-पदार्थों के अन्वय का अभिधान करते हैं, तो यह सत्य से बहुत दूर है; क्योंकि वाक्यार्थ अपूर्व है और व्यष्टि पद के अर्थ की भाँति पूर्वज्ञात नहीं हो सकता और यदि मान्यता यह है कि पद अपने अर्थों के अभिधान में और उनके माध्यम से, वाक्यार्थ को उत्पन्न करते हैं और उसका निमित्त बनते हैं, तो यह नैयायिक के मत का ही समर्थन होगा।

प्रभाकर के अनुयायियों ने इन सभी आक्षेपों का उत्तर दिया है—'कोई कितना भी तर्क कर ले, यह तथ्य तो तथ्य ही रहेगा कि जब वाक्य में पदों के उच्चारण के उपरान्त शाब्द-निर्णय उत्पन्न होता है और इस निर्णय में पदार्थों के मध्य अन्वय का बोध भी रहता है. तो पदों में इस अन्वय के अर्थभूत निर्णय को व्यक्त करने की सामर्थ्य है। वाक्य एक अविभाज्य इकाई या एक अन्वित समग्रता की हैसियत से निर्णय को अपने अर्थरूप में प्रस्तुत करता है, ऐसा हमारा मत नहीं; क्योंकि वाक्य भिन्न है और इसमें पदों के परिवर्तन के कारण असीम विभिन्नता की शक्यता भी है और इसलिए वाक्य और शाब्द-निर्णय का सम्बन्ध पहले से नहीं जाना जा सकता; किन्तु पदों में ऐसी सामर्थ्य है। हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्वितार्थ की उपलब्धि के लिए, प्रस्तुत अर्थ से अन्वित अन्य पदार्थों का पृथक्-पृथक् और विशेषगत ज्ञान पहले से हो, यह आवश्यक नहीं। इतना ज्ञान पर्याप्त है कि कोई पदार्थ सामान्य रूप में अन्य पदार्थों से अन्वित है और वे परस्पर एक-दूसरे की आकांक्षा को

---

१. नापि सैव सङ्गतिः स्वार्थे निरपेक्षा, वाक्यार्थे तु पदार्थप्रतिपादनावान्तरव्यापारेति युक्तम्, तस्याः स्वयमकरणत्वात्। —न्या० कु० ३, पृ० ७३.

२. करणानामवान्तरव्यापारयोगः। —न्या० कु० प०, ३, पृ० ७४.

पूरा करने में सक्षम हैं। अतः अन्योन्याश्रय-दोष की बात सर्वथा निराधार है। दुहरी वाचकता का दोष भी आधारहीन आरोप है और इसी प्रकार एक ही व्यापार की नैरन्तर्ययुक्त प्रवृत्ति पर उठाई गई आपत्ति भी या तो भ्रान्त धारणा पर आधारित है अथवा हमारी स्थिति का जान-बूझ कर अपव्याख्यान करने का प्रयास है। हम इन सभी आरोपों को अस्वीकृत करते हैं; क्योंकि इनमें से एक भी धारणा हमारी नहीं है'। प्रभाकर कहते हैं कि 'हमारी मान्यता तो यह है कि शाब्द-निर्णय अर्थात् वाक्यार्थ का कोई कारण अवश्य होना चाहिए और यह कारण पदों के अलावा कुछ नहीं हो सकता। इसी तार्किक अनिवार्यता से बाध्य होकर हमें यह कहना पड़ता है कि स्वयं पद अन्वित अवधारणा का वाचक है।

कुमारिल के अनुयायी मानते हैं कि पद अनन्वित अर्थों का अभिधान करते हैं और अर्थों के अन्वय का बोध आकांक्षा, योग्यता और संनिधि द्वारा सहकृत इन अर्थों के द्वारा होता है। उनका यह दावा है कि ऐसा मानने में तार्किक दृष्टि से लाघव है; क्योंकि इस प्रकार शब्द का मुख्यार्थ एक शुद्ध तथ्य हो जाता है; किन्तु वस्तुपरक ज्ञान से इस कथन का औचित्य प्रमाणित नहीं होता। पदों के अर्थ अवधारणाएँ हैं और ऐसा नहीं होता कि अवधारणाएँ, अर्थात् अवधारित तथ्य, अपने तथ्यपरक सम्बन्धों के विषय में स्वतः जानकारी दे दें। मान लें कि हम किसी बालक को देखते हैं और स्वाभाविक रूप से उसके पिता के बारे में प्रश्न करते हैं। मान लें कि बालक का पिता भी वहीं उपस्थित है। अब, हमें बालक का भी ज्ञान है और उसके समीप खड़े हुए व्यक्ति का भी और संयोग यह कि वह व्यक्ति ही उसका पिता है। हमारे मन में उनके सम्बन्ध के विषय में जिज्ञासा भी है और दोनों व्यक्तियों में सम्बद्ध होने की योग्यता भी है। फिर भी प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उनके सम्बन्ध का निश्चय नहीं होता। अतः दो तथ्यों का ज्ञान उनके सामीप्य, योग्यता और जिज्ञासा को उत्पन्न करने की सामर्थ्य के बावजूद स्वतः उनके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं कराता[1]। कहा जा सकता है कि किसी अन्य प्रकार दृष्ट या ज्ञात तथ्य अपने सम्बन्ध का ज्ञान नहीं कराते, तथापि वे ही तथ्य शब्दों द्वारा अभिव्यक्त होने पर अपने सम्बन्ध के ज्ञान को स्वतः ही उत्पन्न करते हैं; किन्तु परीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि यह स्थापना तार्किक अतिरेक के दोष से ग्रस्त है; क्योंकि इसमें अनेक शक्तियों की अनावश्यक परिकल्पना करनी पड़ती है। प्रथमतः यह माना गया कि पदों में अपने अनन्वित अर्थों का अभिधान करने की शक्ति है, दूसरे, कि अर्थों में परस्पर अन्वय को संप्रेषित करने की शक्ति है और तीसरे, कि अर्थों को यह शक्ति प्रदान करने वाले भी पद ही हैं; क्योंकि केवल पदों द्वारा प्रत्यायित तथ्यों में ही यह शक्ति मानी जाती है। अन्यथाज्ञात तथ्यों में

---

१. न हि प्रमाणान्तरावगतानां पदार्थानां प्रतिलब्धाकांक्षादित्रयसहायानामपि व्यतिषङ्गप्रतिपादकत्वं दृश्यते। न हि देवदत्तमुपलभ्य कोऽस्य पितेत्यपेक्षमाणः सन्निहितमपि यज्ञदत्तं योग्यमपि सहसैवाध्यवस्यति पितरम्। —न्या. र. मा., पृ० ९८.

नहीं[1] । प्राभाकर मत में यह गुण है कि यह लाघव के नियम की पूर्ति करता है। इसका आग्रह है कि शब्द अन्वित अर्थ का अभिधान करता है। यदि यह तर्क किया जाए कि अन्वितता की अवधारणा के लिए अन्वय की अवधारणा पूर्वापेक्षित है और इसलिए वाचक शक्ति अनिवार्यतः द्विविध होगी—एक अन्वय के लिए और दूसरी अन्वित के लिए—तो भी तीन शक्तियों की परिकल्पना की अपेक्षा यहाँ लाघव ही है[2] । वैसे यथार्थतः शब्द की वाचक-शक्ति संख्या की दृष्टि से एक ही है और अन्वितार्थ को ही उद्दिष्ट करती है। अपेक्षित अन्वय-तत्त्व का ग्रहण उपलक्षण से हो जाता है और इसके लिए पृथक् वाचक-शक्ति की परिकल्पना आवश्यक नहीं, वैसे ही जैसे कुमारिल के अनुसार, जाति को पदार्थ मानने पर व्यक्ति के लिए एक पृथक् सामर्थ्य की परिकल्पना आवश्यक नहीं होती। कहा जा सकता है कि जाति सहज ही व्यक्ति से सम्बद्ध है और इसलिए व्यक्ति का बोध उपलक्षण से हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में भी यही तार्किक अनिवार्यता क्रियाशील है; क्योंकि अन्वितता की अवधारणा में अन्वय की अवधारणा पूर्वापेक्षित है[3] । और यदि तर्क के लिए शक्तियों की संख्या की तुल्यता भी स्वीकार कर लें; तो भी यह स्वीकार करना ही उपयुक्त है कि अर्थ से पूर्व ज्ञात होने वाले पदों में ही अन्वय के अभिधान की शक्ति है और, कि अन्वितता के सम्प्रेषण का वक्ता का अभिप्राय प्रयोग किए गये पदों में ही मूर्त होता है। इस मत का एक अतिरिक्त लाभ यह है कि यह वाक्यार्थ को शाब्दस्वरूप भी प्रदान करता है। कुमारिल का मत वाक्यार्थ को पदों से न जोड़कर अभिहित अवधारणाओं से जोड़ता है और इस प्रकार इसे वाक्य से निरपेक्ष बना देता है। अब यदि इसके शाब्दस्वरूप को रक्षा इस आधार पर करने का प्रयास किया जाए कि यह अप्रत्यक्ष रूप से शब्द से उद्भूत है, तो यह एक क्लिष्ट प्रक्रिया होगी और फिर कार्य का सम्बन्ध कारण के भी कारण से जोड़ना कारणता के नियम द्वारा प्रतिबाधित होता है[4] ।

एक आपत्ति यह उठाई गई थी कि अर्थ की अन्वितता का परिज्ञान दूसरे अर्थ के ज्ञात हो जाने पर ही हो सकता है और यदि दूसरे अर्थ का ज्ञान भी अन्वित अर्थ के रूप में हो, तो इसके परिणामस्वरूप एक दुश्चक्र उत्पन्न होगा; किन्तु यह आपत्ति भ्रान्त धारणा से उद्भूत है। तथ्यों से अपने साहचर्य के कारण पद अपने शुद्ध

---

१. शक्तित्रयं प्रकल्प्यं स्यात्पदानामर्थगोचरा।
अर्थानामन्विते शक्तिस्तदाधायकता पदे॥— वही।

२. नन्वन्वितगोचरं शक्तिद्वयं कल्पयितव्यम्। तत्कथमेका शक्तिरित्युच्यते। तथापि शक्तित्रयकल्पनाल्लाघवमस्त्येव — वही, पृ० ९९।

३. किं च न पृथगन्वये शक्तिः कल्पनीया। एकैव तु शक्तिरन्वितपर्यन्ता कल्पयिष्यते।—वही।

४. यद्यपि कथञ्चिच्छक्तिकल्पना समाना भवेत्, तथापि प्रथमावगतानामभ्युपेततात्पर्याणाञ्च पदानामेवान्विताभिधायकत्वं युक्तमेवाङ्गीकर्तुम्। एवञ्च शाब्दत्वमपि वाक्यार्थस्य समञ्जसं भविष्यति। —न्या. र. मा., पृ० ९९.

अनन्वित अर्थों का स्मरण उत्पन्न करते हैं। पदों की अभिधानशक्ति के द्वारा यह स्मारित अर्थ अन्वितरूप में गृहीत होता है। ऐसा कभी नहीं कहा गया कि पहले पद शुद्ध पदार्थों का अभिधान करते हैं और फिर दूसरी बार में उनके अन्वय का। इसलिए दुहरी वाचकता अथवा एक ही अभिधान-शक्ति की नैरन्तर्ययुक्त प्रवृत्ति का आरोप सर्वथा निराधार है[१]।

वाक्य से वाक्यार्थ के उद्भव की विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम शब्द अनन्वित शुद्ध पदार्थों की स्मृति उत्पन्न करते हैं, जो उनके वास्तविक अर्थों के अंशभूत हैं। ये शुद्ध पदार्थ शब्दों की अभिधाशक्ति द्वारा अभिव्यक्त नहीं होते; अपितु शाब्द अर्थों के साथ निकट साहचर्य के कारण इनका स्मरणमात्र होता है और शब्दों की अभिधा-शक्ति तुरन्त वाक्यगत अन्वय की शर्तों—आकांक्षा, योग्यता और संनिधि—को पूरा करने वाले अर्थों के बीच एक वाक्यीय संसर्ग स्थापित कर देती है। यह आवश्यक नहीं कि ये अनन्वित अर्थ अभिधा-शक्ति द्वारा ही व्यक्त हों। वाक्यीय संसर्ग की मूलभूत शर्त दो प्रकार की है : (क) पहले अर्थों का ग्रहण हो और (ख) तदुपरान्त वे वाक्यीय संसर्ग के पूर्वोल्लिखित नियमों के अनुरूप जुड़ें। इस मत के विरोध में यह कहा गया है कि प्रभाकर संनिधि को वाक्यार्थ की शर्त नहीं मान सकते; क्योंकि वे तो ऐसे तथ्य के साथ भी अन्वय स्वीकार करते हैं; जिसे किसी समीपस्थ पद ने अभिव्यक्त नहीं किया है। वैदिक वाक्य 'विश्वजिता यजेत' में कर्ता (नियोज्य) की अर्हता का कथन नहीं किया गया है; किन्तु अधिकारी कर्ता का ग्रहण हुए विना वाक्यार्थ अपूर्ण ही रहेगा। अतः स्वर्गकाम व्यक्ति का अधिकारी कर्ता के रूप में अनुमान कर लिया जाता है। अब, कुमारिल यहाँ पद का अनुमान करते हैं और प्रभाकर अर्थ का। कुमारिल के मत में पदन्यूनता की पूर्ति स्वयं पद के द्वारा हो जाती है, जो वाक्य में अध्याहृत होकर इसे पूर्ण बना देता है और इस प्रकार इस मत में कोई कठिनाई नहीं रहती, जबकि पद के विना अर्थ, सन्निधि के अभाव में क्रिया की आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता। इस आपत्ति के उत्तर में प्रभाकर का कहना है कि क्रिया की आकांक्षा अर्थ की बुद्धिगत संनिधि से पूरी हो जाती है और इस प्रकार वाक्यगत अन्वय में किसी कठिनाई का प्रश्न नहीं उठता। वाक्य में पदन्यूनता के कारण निर्णय की अपूर्णता इसीलिए तो रहती है कि अर्थों को एक अन्य अर्थ की अपेक्षा रहती है। इसकी पूर्णता के लिये आकांक्षा की पूर्ति करने में समर्थ इस अपेक्षित अर्थ का अध्याहार आवश्यक है। निर्णय का सम्बन्ध सदैव अर्थों या अवधारणाओं से होता है, उनको अभिव्यक्त करने वाले पदों से इसका सीधे तौर पर सम्बन्ध नहीं होता। अनुमित पद भी अपने अर्थ के माध्यम से ही इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है[२]।

---

१. ननु द्विरभिधानं न पदजातस्य, साहचर्यवशात्स्वार्थेषु प्रथमं स्मारकाणां पश्चादन्विताभिधायकत्वाभ्युपगमात्। —त. प्र., पृ. १४५-४६.

२. न च संनिध्यपेक्षत्वे भवेदन्योन्यसंश्रयः।
नकेवलाभिधानेन स्मृत्यापि हि भवेदसौ॥ —न्या. र. मा., पृ. ९९.

इस मत के विरुद्ध, कि अर्थों का स्मरण होने के उपरान्त पद अपनी अभिधान-शक्ति से उनके मध्य सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं, एक अन्य आपत्ति भी उठाई जाती है। कहा जाता है कि यह कल्पना केवल अन्योन्याश्रय-दोष के आरोप से बचने की एक चाल है। प्रभाकर मानते हैं कि पद का अर्थ एक अन्वित पदार्थ है। ऐसी स्थिति में, स्वभावतः शब्द का उच्चारण होते ही इस अर्थ का स्मरण होना चाहिए[1]। यह कहा गया है कि पदों का उच्चारण निर्णय को दृष्टि में रखकर किया जाता है और इस प्रयोजन को ध्यान में रखें, तो अनन्वित अर्थों की कोई उपयोगिता नहीं है। पदार्थों का ग्रहण निर्णय से सीधे तौर पर होता है और इस प्रकार अन्वितता अर्थ का अभिन्न तत्त्व है। अतः स्मरण भी अन्वितार्थ का ही होना चाहिए; किन्तु यह तभी सम्भव होगा, जब अन्य संसर्गी का भी स्मरण हो। इसके परिणामस्वरूप कोई भी शब्द, या फिर अर्थ, एक से अधिक वाक्य अथवा निर्णय का घटक नहीं हो सकेगा। इसके उत्तर में कहा गया है कि अन्य अर्थों के अनियमित और परिवर्तनीय होने के कारण पद उनसे अनन्वित अर्थ के ही स्मरण को उत्पन्न करता है। स्थायी अर्थ के साथ ही स्मृति का जुड़ना स्वाभाविक है; किन्तु यह नैराश्यजनित युक्ति है। स्मरण के निमित्त न्याय-सूत्र ३.२.४९ में अशेषतया परिगणित हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन्हें साहचर्य के नियम (Laws of Association) कहा गया है, जो तीन अथवा चार हैं: साम्य-नियम, सामीप्य-नियम, वैषम्य-नियम और कुछ के मत में, कारणता का नियम। जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु से साहचर्य-सम्बन्ध हो, तो एक का संज्ञान दूसरी की स्मृति को उत्पन्न करता है। पद का साहचर्य मुख्यतः अन्वित अर्थ से है। अनन्वित अर्थ तो केवल अनुभूत अन्वितार्थ से प्राप्त एक पृथक्करण या अपोद्धार है। सो, स्मृति का आश्रय लेकर प्रभाकर कठिनाई से मुक्ति नहीं पा सकते; क्योंकि स्मृति पूर्वानुभूत अन्वितार्थ से ही सम्बद्ध होगी[2]। कुमारिल के अनुयायियों का मत है कि पद अनन्वित अर्थों का अभिधान करते हैं और ये अर्थ तीन शर्तों—आकांक्षा, योग्यता और संनिधि—के पूरा होने पर अपने आप ही अन्वित हो जाते हैं। उनका तर्क है कि उनका मत निःसंकोच स्वीकार किया जाना चाहिए; क्योंकि यह अन्योन्याश्रय-दोष से मुक्त है, जबकि दूसरे मत में यह दोष अपरिहार्य है।

अपने पक्ष का बचाव करते हुए प्रभाकर के अनुयायी कहते हैं कि इस आलोचना के पीछे वास्तविक कारण है—अपने सिद्धान्त के प्रति प्रतिपक्षियों का अतिरिक्त अनुराग, जिसने सत्य के प्रति उनके अनुराग को दबा दिया है। न्यायसूत्र में परिगणित स्मृति के हेतुवों का खण्डन हमें कदापि अभिप्रेत नहीं; किन्तु वाक्यार्थ में पूर्वानुभूत सम्पूर्ण

---

१. साहचर्यदर्शनदशायामन्वितानामेवानुभूततया तथैव स्मरणस्यावश्याश्रयणीयत्वात्।
—त. प्र., पृ. १४६.

२. न हि पदं पदार्थमात्रप्रतिपत्तये प्रयुज्यते, किन्तु व्यवहाराय, स चान्वित एवेति कथमनन्वितानामेव पदार्थानां पदेभ्यः स्मृतिः स्यात्। —त. प्र., पृ. १४६.

अर्थ की स्मृति के प्रति उनका आग्रह सत्य से परे चला जाता है। यह तो एक स्वीकृत नियम है कि पूर्वज्ञात न होने पर किसी भी वस्तु की स्मृति नहीं हो सकती; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि जो कुछ भी अनुभूत हुआ, वह सब का सब स्मरण का विषय बने। यह सही है कि हमें वाक्यार्थ के अंग के रूप में अनन्वित अर्थ का पहले से कोई ज्ञान नहीं है और यह भी सही है कि पदार्थ के ज्ञान के लिए वाक्यार्थ हमारा एकमात्र आधार है। ऐसे अनुभव के प्रति निष्ठा के कारण ही हम पद के अर्थ में अन्वय का समावेश मानते हैं; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यदि पद का मान्य अर्थ अन्वित तथ्य है, तो पद अन्वयरहित अर्थ की स्मृति को उत्पन्न नहीं कर सकता। अन्वितार्थ शुद्ध पदार्थ और अन्वय की संसृष्टि है। शुद्ध पदार्थ का संज्ञान भी उसके अन्वित संज्ञान के साथ ही हुआ था। अतः 'पद शुद्ध अर्थ का स्मरण कराता है', ऐसा मानने में तर्क या मनोविज्ञान की दृष्टि से कोई बाधा नहीं है। कुमारिल के सम्प्रदाय की दलील अयथार्थवादी एवं पाखण्डपूर्ण है। कुमारिल द्वारा मान्य अनन्वित पदार्थ के संज्ञान का स्वरूप क्या है? कुमारिल का पक्ष इस प्रकार है—पद अनन्वित अर्थों का अभिधान करते हैं और ये अर्थ परस्पर अपने अन्वय का बोध उत्पन्न करते हैं। यह अभिधान क्या है? अन्ततः इसे स्मृति का ही विषय मानना होगा। अर्थ की प्रतिपत्ति को यथार्थानुभव (प्रमा) नहीं माना जा सकता; क्योंकि अर्थरूप में प्रतिपादित तथ्य पहले से ज्ञात था। पूर्वज्ञात पदार्थ का ज्ञान स्मृति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।[1] यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'यद्यपि अभिधान है तो स्मृति ही, फिर भी शब्द द्वारा जनित स्मृति विशेषतः उत्कृष्ट है; क्योंकि शब्द द्वारा अभिधान के माध्यम से स्मारित अर्थ ही दूसरे अर्थ के साथ वाक्यगत अन्वय के योग्य है'। 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' (गङ्गा पर ग्वालों की बस्ती है) जैसे वाक्य में गङ्गा-शब्द अपने मुख्यार्थ को त्याग कर तट के अर्थ में लिया जाता है; क्योंकि नदी की धारा पर मनुष्यों की बस्ती का अस्तित्व असम्भव है। यहाँ तट के अर्थ में गङ्गा का बोध अभिधाशक्ति के द्वारा न होकर साहचर्य के कारण ही होता है और फिर भी इस स्मारित अर्थ का वाक्यार्थ में अन्वय देखा जाता है[2]। अतः यह मानना उचित है कि पद पहले अनन्वित अर्थों की स्मृति उत्पन्न करते हैं और फिर अपनी अभिधाशक्ति के व्यापार द्वारा उनके अन्वय का बोध कराते हैं। अनन्वित अर्थों की स्मृति के लिये शब्द की किसी विशेष शक्ति की परिकल्पना नहीं की गई है। अन्वय का प्रत्यायन तो पदों की विशेष शक्ति के द्वारा ही होता है और इसलिये फलित निर्णय को शाब्द कहा जाता है। कुमारिल की मान्यता, कि पद अपने-अपने अर्थों को अभिव्यक्त करके विरत हो जाते हैं और फिर, ये अर्थ अपनी एक विशेष शक्ति से शाब्द-निर्णय, अर्थात् वाक्यार्थ, को जन्म देते हैं, वाक्यार्थ को शाब्द कहने का औचित्य सर्वथा समाप्त कर देती है।

---

१. त्वयापि पदार्थविषयाः प्रत्ययाः..........स्मृतय एष्टव्याः। —त. प्र., पृ. १४७.

२. यदि ह्यभिधानेन स्मारितमेव वाक्यार्थोपयोगि, तर्हि तीरादिपदार्थानां वाक्यार्थान्वयो न स्यात्। —न. प्र., पृ. १४०

कुमारिल की दलील है कि वाक्यगत अन्वय की शक्ति पदों में न मानकर अभिहित अर्थों में ही माननी चाहिए; क्योंकि बहुत लम्बे वाक्यों में सही-सही शब्द प्रायः विस्मृत भी हो सकते हैं और फिर भी अर्थों के बीच वाक्यीय अन्वय घटित होता है। इसके अतिरिक्त, जब हम संस्थानविशेष को न देख पाने पर भी दूर किसी धुंधली-सी आकृति को देखते हैं और हिनहिनाहट की और टापों की ध्वनि को सुनते हैं, तो 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है', ऐसा निर्णय तुरन्त हमारे मस्तिष्क में उभरता है। विभिन्न तथ्यों का अन्वय आकांक्षा, योग्यता और संनिधि के नियमों से संचालित होता है, चाहे इनमें से कोई तथ्य किसी भी पद द्वारा अभिहित न हुआ हो। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थों, अर्थात् पदों द्वारा अभिहित तथ्यों में परस्पर अन्वित होने की सामर्थ्य होनी चाहिए[1]। इसके उत्तर में प्रभाकर का कथन है कि पूर्वोदाहृत निर्णय को शाब्द नहीं कहा जा सकता; इसका प्रत्यायन या तो अनुमान अथवा अर्थापत्ति से होता है[2]। अतः पदों में निर्णय को उत्पन्न करने की प्रत्यक्ष सामर्थ्य के विरुद्ध इससे कोई प्रमाण नहीं मिलता और फिर, यदि यह मानें कि वाक्यार्थ पदों के विरत हो जाने पर अर्थों से उत्पन्न होता है, तो स्वीकृत छः प्रमाणों के अतिरिक्त 'पदार्थ' को भी प्रमाण मानना पड़ेगा[3]। यह तो हम पहले ही दिखा चुके हैं कि कुमारिल के सिद्धान्त में तीन भिन्न-भिन्न कारणात्मक शक्तियों की परिकल्पना अपेक्षित होगी, जिसके कारण यह तार्किक वैयर्थ्य के दोष के समक्ष अरक्षित है, जबकि प्रभाकर का सिद्धान्त अनावश्यक शक्तियों की परिकल्पना के दोष से मुक्त है।

उपसंहार : १. पदों की अर्थों पर प्रथमता है; क्योंकि पदों के विना अर्थों का प्रत्यायन सम्भव नहीं।

२. यह तो कुमारिल ने भी स्वीकार किया है कि वक्ता का तात्पर्य, जिस रूप में वह पदों में निहित होता है, अन्ततः वाक्यार्थ ही है; अतः इस वाक्यार्थ को ही उन पदों का अर्थ मानना चाहिए। यह अर्थ अव्यवहित है अथवा अन्तिम, यह प्रश्न हमारे लिये निरर्थक है; क्योंकि पदों का प्रयोग पूर्वज्ञात शुद्ध अर्थों के अभिधान के लिये न होकर वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति के लिये होता है, जो अब तक अज्ञात था।

इन सब बातों को ध्यान में रखा जाए, तो निर्णय प्रभाकर के पक्ष में होना चाहिए।

---

१. ननु 'पश्यतः श्वेतिमारूपं ह्लेषाशब्दं च शृण्वतः। खुरनिक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धी'रिति न्यायादस्त्येव पदार्थानां संसर्गबोधजनकत्वमिति। —त प्र., पृ. १४८.

२. ········न। अनुमानादर्थापत्तेर्वा तत्र संसर्गावगमात्। तथा हि, एषां पदार्थानामेकाधिकरण-तयावगतानां प्रत्यायकत्वेनानुमानानतिरेको विशकलितावगतानां वार्थान्तराभावे निश्चिते-ऽर्थापत्तिरेव परिशिष्यते, अनिश्चिते त्वनध्यवसाय एव। —वही.

३. अपि च शब्दसामर्थ्याजन्यत्वे वाक्यार्थप्रत्ययस्य पदार्थाख्यं सप्तमं प्रमाणमभ्युपेयं स्यात्। —वही.

२. अभिहितान्वयवाद

वाक्यार्थ की उत्पत्ति पदों से न मानकर पदार्थों से मानने वाले अभिहितान्वयवादियों ने अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध गम्भीर आपत्तियाँ उठाई हैं। अन्वितार्थ के सीधे अभिधान को एक ही व्यापार कहने का तर्क सिर्फ एक छलावा है। अन्वितता तभी बुद्धिगत हो सकती है, जब अन्वय का ज्ञान पहले से हो या साथ ही हो। उस स्थिति में प्रभाकर को अन्वय एवं अन्वित तथ्य, दोनों के अभिधान के लिये पदों की दो शक्तियाँ स्वीकार करनी होंगी[१]। अन्वितता की अवधारणा में अन्वय एवं अन्वित होने वाला पदार्थ, दोनों ही अपेक्षित हैं। अतः यह सरलतर प्राक्कल्पना है कि पद का अर्थ विशेष्यभूत तत्त्व है और अन्वय इसका विशेषणभूत निर्धारक है। यदि कहें कि यह शुद्ध अर्थ अन्वय के ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता, तो इसका उत्तर इस प्रकार होगा। पद का अर्थ कोई एक व्यक्तिविशेष नहीं हो सकता; क्योंकि कोई भी व्यक्ति पद का अर्थ हो सकता है। व्यक्तियों की संख्या असीम होने के कारण उनमें से प्रत्येक के साथ पद के सम्बन्ध का निर्धारण मानवीय तौर पर सम्भव नहीं है। इसलिये पद का अर्थ जाति मानना होगा और जाति से व्यक्ति में संक्रमण एक सहज और सरल प्रक्रिया है। व्यक्ति से जाति के अनिवार्यतः सम्बद्ध होने के कारण जाति की धारणा में व्यक्ति की धारणा स्वभावतः निहित है, जिसके साथ यह सम्बद्ध होती है और जिसके विना यह अनवधार्य है। अतः विशेष का ग्रहण उपलक्षण से हो जाता है और इसके लिये किसी पृथक् अभिधान-शक्ति की परिकल्पना अनावश्यक है।

किन्तु यहाँ उपलक्षण के सम्बन्ध में एक कठिनाई है। उपलक्षण से व्यक्ति का ग्रहण अनियत रूप में ही हो सकता है, अभिप्रेत निश्चित व्यक्ति का नहीं। सो, क्रिया के होने पर द्रव्यात्मक कारक का आक्षेप हो सकता है और कारक के उपस्थित होने पर वह अधिक से अधिक किसी भी क्रिया को उपलक्षित कर सकता है। उदाहरण के लिये 'गाय लाओ', इस वाक्य में लाने की क्रिया किसी पदार्थ की अपेक्षा करती है और वह पदार्थ घोड़ा या कोई अन्य प्राणी भी हो सकता है। इसी प्रकार 'गाय' शब्द द्वारा अभिहित द्रव्य किसी उपयुक्त क्रिया को अपेक्षा करता है और आवश्यक नहीं कि यह क्रिया लाने की क्रिया ही हो[२]। आपके सिद्धान्त में पद का अर्थ तो जाति है और व्यक्ति, जो वस्तुतः अभिप्रेत है, आक्षेप के द्वारा या लक्षणा द्वारा उपलब्ध कहा जाता है। अभिहितान्वयवादी कह सकता है कि प्रतिपक्षी मत में भी यह कठिनाई सम्भव है। प्रभाकर के अनुयायी मानते हैं कि पद अन्वित व्यक्ति का अभिधान

---

१. अन्विताभिधायित्वे हि पदानामवश्यमेव विशेषणभूतोऽप्यन्वयोऽभिधातव्यः। अन्यथान्वित-प्रतीतेरुत्पत्त्ययोगात्। ततश्चान्वयान्वितविषयशक्तिद्वयकल्पनाददृष्टकल्पना गुरुतरा स्यात्।
—न्या. र. मा., पृ. १०२.

२. यच्चैवं सति गौरानीयतामित्यत्र कारकेण क्रियया च क्रियाकारकमात्राक्षेपान्न नियमेन गौरानयनेनानयनं च गवाऽन्वयं लभेतेत्युक्तम्। —न्या. र. मा., पृ. १०२.

करता है; किन्तु ऐसी स्थिति में जहाँ पानी पीता हुआ घोड़ा सामने उपस्थित है और कोई व्यक्ति 'गाय लाओ' वाक्य का उच्चारण करता है, तो वहाँ 'गाय' शब्द का अन्वय पानी पीने की क्रिया से, और लाने की क्रिया का अन्वय दृश्यमान घोड़े से हो सकता है। प्रभाकर के मत में भी पद का अर्थ कहा जाने वाला अन्वित व्यक्ति अनियत ही होगा। यदि कहें कि द्रव्य का अन्वय एक निश्चित क्रिया से ही होता है और इसी प्रकार क्रिया का अन्वय भी नियत द्रव्य से ही होता है और अन्य से नहीं, तो फिर अन्य वाक्यों, जैसे 'घोड़ा लाओ' अथवा 'गाय को ले जाओ', में उस क्रिया अथवा संज्ञा की उपस्थिति और फलस्वरूप उनका अन्वय, असम्भव हो जाएगा। इस समस्या का उत्तर दोनों पक्षों में समान होगा कि इस प्रकार तो उच्चरित वाक्य ही व्यर्थ हो जाएगा। इसलिये यह मानना होगा कि वाक्यान्वय की तीनों शर्तों को पूरा करने वाले वाक्य में पद का अर्थ ऐसे किसी अर्थ के साथ अन्वित नहीं हो सकता, जो अन्य किसी पद द्वारा ही व्यक्त नहीं हुआ है। शाब्द अर्थों के परस्पर अन्वय की यह आवश्यकता ही उनसे उत्पन्न होने वाले निर्णय को शाब्दस्वरूप प्रदान करती है। वाक्य में अर्थों के सम्बन्ध का निर्धारण पदों की परस्पर सन्निधि द्वारा किया जाता है, यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से, जाति होने के कारण, उनमें किसी भी अन्य अर्थ (तथ्य) के साथ अन्वित होने की शक्यता है। यही कारण है कि अर्थवान् वाक्य को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि वाक्यगत अन्वय का निर्धारण पदों की उपस्थिति का आश्रय लिये विना हो पाता, तो वाक्यार्थ का स्वरूप आनुमानिक या ऐसा ही कुछ और होता[1]।

फिर इन दोनों मतों में भेद क्या है। कुमारिल के मत में पद का अर्थ स्वभावतया किसी भी अन्य तथ्य से आन्वित होने के योग्य होने पर भी उसी अर्थ के साथ अन्वित होता है, जो उसी वाक्य में वस्तुतः विद्यमान अन्य पद द्वारा वस्तुतः अभिहित किया गया हो। इतना साम्य दोनों ही पक्षों में है। किन्तु प्रभाकर जहाँ अन्वित अर्थ को शब्द का वाच्य मानते हैं, वहीं कुमारिल का सिद्धान्त शुद्ध अन्वित तथ्य को अर्थ स्वीकार करता है[2]।

कुमारिल मत के विरोधियों का आग्रह है कि एकवाक्यता को वाक्यान्वय का नियामक तत्त्व मानने के आधार पर दोनों मतों में कोई साम्य नहीं है। तो फिर किसी पदविशेष का अर्थ ऐसे पदार्थ के साथ अन्वित क्यों नहीं हो जाता, जो पदान्तर द्वारा ही अभिव्यक्त नहीं है? इसका कारण यह है कि उस अर्थ में ऐसे अन्य अर्थों के लिए कोई आकांक्षा या अवसर नहीं है। आकांक्षा अन्वयबोध की निमित्त है और

---

१. यत एव चायं नियमः पदान्तरसमधिगम्याद्वाक्यादेव सिध्यति न पदार्थसामर्थ्यमात्रादत एव शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वम्। अन्यथाऽनुमानं स्यात्। —न्या. र. मा., पृ. १०३.

२. उभयोरपि वादिनोरनेकसाधारणान्वितप्रतिपादकत्वशक्तिरेकवाक्यतया मिथो नियम्यते, इत्येतावदवश्यं कल्पनीयम्…………पदस्य तु भवान् विशिष्टे शक्तिं कल्पयति। वयं तु स्वरूपमात्रे इति महान् विशेषः।—न्या. र. मा., पृ. १०३.

यह पदों द्वारा अभिव्यक्त अर्थों के बीच ही सम्भव है, अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात तथ्यों के बीच नहीं। जब पद के अभिधेयार्थ से आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, तो अन्य किसी तथ्य के लिए अवकाश नहीं रह जाता[1]; किन्तु अपने पक्ष की भिन्नता दिखलाने का प्रभाकर का यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति भी सम्भव है, जहाँ आकांक्षा के विद्यमान होते हुए भी वाक्यगत अन्वय का निर्धारण आकांक्षा का विचार न करके एकवाक्यता के आधार पर ही होता है[2]। एक ऐसी स्थिति की कल्पना करें, जिसमें हिनहिनाहट की ध्वनि सुनकर व्यक्ति अश्व का अनुमान करता है। स्वभावतः उसे अश्व की अवस्था के बारे में यह कुतूहल हो सकता है कि वह चल रहा है, खड़ा है या दौड़ रहा है। मान लें कि उसी समय वह खुरों की आवाज सुनता है और उससे किसी पशु के दौड़ने का अनुमान करता है। अब, मान लिया जाए कि उसी समय कोई व्यक्ति एक वाक्य बोलता है: 'गाय खड़ी है'। यहाँ अश्व की किसी भी क्रिया के प्रति आकांक्षा है और दौड़ने की क्रिया की किसी कर्ता के लिए आकांक्षा भी विद्यमान है। यदि केवल आकांक्षा ही नियामक तत्त्व होती, तो सहज ही इस प्रकार के वाक्यार्थ उत्पन्न हो सकते थे: 'गाय दौड़ रही है' और 'अश्व खड़ा है'। जब तक एकवाक्यता को वाक्यान्वय का नियामक तत्त्व न माना जाए, तब तक यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि 'गाय खड़ी है', ऐसा ही वाक्यार्थ होना चाहिए। प्राभाकर-सिद्धान्त के समर्थक इस विसंगत स्थिति से बचने के लिए यह प्रतिवाद नहीं कर सकते कि 'वाक्यगत अन्वय शाब्द अर्थों तक ही सीमित है'; क्योंकि न्यूनपदीय वाक्यों में वे मानते हैं कि पद का आश्रय लिये विना भी पदार्थ किसी अन्य तथ्य के साथ अन्वित हो जाते हैं। अतः इस उभयपाश से बचने का एकमात्र मार्ग एकवाक्यता का आश्रय लेना ही है[3]।

इस प्रकार वाक्य में पदार्थों के अन्वय का बोध होता है, इस पर दोनों मतों में साम्य है। शब्द विच्छिन्न रूप में वाक्यार्थ के निमित्त नहीं हो सकते, वाक्य ही समग्र रूप में उसका निमित्त है। इस प्रकार, वाक्य के नियामक प्रभाव का आश्रय लेने की आवश्यकता समान होते हुए भी तार्किक युक्तियुक्तता की यह माँग है कि गृहीत पदार्थों से ही सीधे वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति मानी जाए। वाक्यार्थ को पदों के करणत्व से जोड़ना एक क्लिष्ट कल्पना होगी। पदों को ही वाक्यार्थ का श्रेय देने वाला सम्प्रदाय भी यह मानने के लिए विवश है कि वाक्यार्थ केवल तभी सम्भव हो

---

१. कथं तर्ह्यर्थान्तरेणान्विताभिधानं न भवति, अपेक्षाभावात्। सा ह्यन्विताभिधानोपलक्षणम्। न च प्रमाणान्तरप्रतीतयोः क्रियाकारकयोरपेक्षा विद्यते। श्रुतयोस्त्वपेक्षा।—वही.

२. सत्यामप्यपेक्षायामन्वयादर्शनात्।—वही.

३. न च पदसामर्थ्यमेव पदान्तरस्मारितान्वितस्वार्थविषयावबोधनाय व्यवस्थापकमिति वक्तव्यम्, अशाब्दैरप्यन्विताभिधानस्येष्टत्वात्। तस्मान्न पदसामर्थ्यान्नियमसिद्धिः। अत एकवाक्यतैव शरणमर्थनीया नियतैकान्वयबोधनाय पदैरप्यन्विताभिधायिभिः।

—न्या. र. मा., पृ. १०४.

पाता है, जब पदों के अनन्वित अर्थ पूर्वज्ञात हों। अन्यथा उनमें संनिधि नहीं हो सकती। ये अनन्वित अर्थ पदों द्वारा अभिहित हैं या पदों द्वारा स्मारित हैं, इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। दोनों ही पक्षों में इस बात का पूर्ण मतैक्य है कि वाक्य-ज्ञान और वाक्यार्थ के ज्ञान के बीच पदार्थों का ज्ञान अवश्य घटित होता है, भले ही इस ज्ञान का स्वरूप कुछ भी हो। पदार्थ ही वाक्यार्थ के अव्यवहित पूर्ववर्ती हैं। अतः इन दोनों घटनाओं के बीच ही कारणता-सम्बन्ध मानना चाहिए। यह निर्णायक रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वाक्यार्थ के पूर्वक्षण में पदार्थों की प्रतीति के अनन्तर पुनः पदों की स्मृति होती है[1]।

हम पहले भी कह चुके हैं कि कुमारिल वाक्यार्थ की उत्पत्ति में पदों की भूमिका पर बल नहीं देते। लम्बे वाक्यों में पद मानस के समक्ष साक्षात् उपस्थित नहीं होते। फिर भी वाक्यार्थ की प्रतीति अभिहित अर्थों के माध्यम से होती है। इसलिए वाक्यार्थ को पदार्थज्ञान का फल मानना सर्वथा युक्तिसंगत है। पदों में यह कारणता-सम्बन्ध खोजना हमारी बुद्धि के सहज निर्णय का तिरस्कार करना है[2]। पदों की अर्थों पर प्रथमता का तर्क तो पदों के दावे को रद्द करने में सहायक है। इससे यही अर्थ निकलता है कि पदार्थों की प्रतीति कराने के बाद पद विरत हो जाते हैं; क्योंकि पदार्थ-प्रतीति पदों और वाक्यार्थ के बीच व्यवधान उपस्थित करती है[3]। और तात्पर्य को ही वाक्यार्थ का नियामक मानने के आग्रह पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि चरम वाक्यार्थ के प्रति यह विवक्षा तभी पूर्ण हो सकती है, जब बीच में पदार्थों को प्रतीति विद्यमान हो। कुमारिल के अनुयायी इसे अस्वीकार नहीं करते कि वक्ता का तात्पर्य पदों में मूर्त होता है और अन्तिम विश्लेषण में, वाक्य में पदों की विशिष्ट स्थिति और स्वरूप ही इस तात्पर्य को व्यक्त करते हैं। अतः वाक्यान्वय के त्रिविध नियम द्वारा संचालित, चुने हुए पदों में मूर्त तात्पर्य वाक्यार्थ की उपलब्धि को ही लक्ष्य करता है। पदार्थज्ञान वह साधन है, जिसके माध्यम से पदों का तात्पर्य एवं प्रवृत्ति निष्पन्न होते हैं। इस तथ्य की उपेक्षा करना उचित न होगा कि पदार्थ ही, ज्ञात होने पर, वाक्यार्थ का साक्षात् कारण बनते हैं और, कि वाक्यार्थ

---

१. पदार्था एव वाक्यार्थे प्रमाणं युक्तमङ्गीकर्तुम्। न पदानि, आनन्तर्यव्यवधानाभ्याम्। अन्विताभिधानवादेऽपि हि पदैः पदार्थेष्ववगतेषु पश्चाद्वाक्यार्थज्ञानं जायते, अन्यथा सन्निधेर्दुर्लभत्वात्। ....न च पुनः पदानुसन्धानमस्तीति किञ्च न प्रमाणमस्ति।

—न्या. र. मा., पृ. १०४.

२. किञ्च, दीर्घतमेषु वाक्येष्वशक्यमेवानुसन्धानम्। असत्यपि च तस्मिन् पदार्थानुसन्धानमात्रेण वाक्यार्थः प्रतीयत इति सर्वजनीनमेतत्। तेन दृष्टानुगुण्यादपि पदार्थनिमित्तक एव वाक्यार्थो न पदनिमित्तः।—वही.

३. एतेन यत्पदानामेवान्विते सामर्थ्यमित्यत्र कारणमुक्तं प्राथम्यादिति तद्विपर्ययसाधनमिति वेदितव्यम्।—न्या. र. मा., पृ. १०४.

में पदों का करणत्व केवल इन पदार्थों के माध्यम से ही माना जा सकता है, सीधे और अव्यवहित रूप में नहीं[1]।

वाक्यार्थ का कारण पदों को न मानकर पदार्थों को मानने वाले इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई गई है कि पदार्थों का ज्ञान स्मृति से भिन्न कुछ नहीं हो सकता[2]। पद और अर्थ की अलग-अलग तथ्यों के रूप में स्मृति उन्हें अन्वित रूप में ज्ञात नहीं करा सकती; क्योंकि स्मृति अनभिज्ञात तथ्य का परिज्ञान नहीं करा सकती। पदार्थों का बोध पृथक्-पृथक् हुआ था और उनकी स्मृति भी पृथक्-पृथक् होनी चाहिए। पृथक्-पृथक् अर्थों की स्मृति उनके अन्वय का भी ध्यान रखती है। इस कथन का अर्थ यह होगा कि पहले जो अज्ञात था, उसका भी स्मरण सम्भव है और यह सर्वथा अनर्गल बात है। अन्वय की स्मृति के लिए ऐसी वस्तुनिष्ठ स्थिति आवश्यक है, जिसमें एक तथ्य दूसरे से अन्वित रूप में देखा जा चुका है; किन्तु पहले अन्वित रूप में न देखे गये तथ्यों की अन्वित-प्रतीति मात्र उनकी स्मृति के बल पर कदापि सम्भव नहीं[3]। इसके उत्तर में कहा गया है कि पदार्थों का संज्ञान स्मृति नहीं है; अपितु यह स्वयं एक अलग प्रकार है। ऐसे संज्ञान और, सही अर्थों में जिसे स्मृति कहते हैं, उसके बीच भेद है। अवश्य ही, कुमारिल के कुछ वक्तव्य पदार्थों के बोध को स्मृति-रूप कहने वाली मान्यता को समर्थन देते प्रतीत होते हैं। यह सही हो सकता है कि अलग-अलग तथ्यों की स्मृति उनके अन्वय का बोध नहीं कराती; किन्तु यदि कुमारिल के इन वक्तव्यों के आधार पर पदार्थों के ज्ञान को स्मृति के अन्तर्गत मान भी लें, तब भी वाक्य में अर्थों की परस्पर आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता से पुष्ट पदों द्वारा उत्पन्न होने पर इन स्मृतियों द्वारा अपने अन्वय की बुद्धि उत्पन्न किया जाना स्वभावतः असम्भव नहीं, यद्यपि स्वतः वे परस्पर अनन्वित हैं। सहकारी परिस्थितियों के भेद से वस्तुवों में एक भिन्न सामर्थ्य का आविर्भाव देखा जाता है। हम देखते हैं कि यद्यपि स्मृति-संस्कार किसी उद्बोधक द्वारा उद्बुद्ध होने पर स्मरण को उत्पन्न करता है, तथापि इन्द्रिय के साथ मिलकर कार्य करने पर यह एक भिन्न प्रकार के ज्ञान—प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न करता है। अतीत अनुभव का स्मृति-संस्कार किसी ज्ञानेन्द्रिय के साथ मिलकर कार्य करने पर प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार के ज्ञान में अतीत 'प्रदत्त' और वर्तमान 'प्रदत्त' के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध का प्रत्यय होता है, यद्यपि सामान्यतः अकेले अपने आप में ज्ञानेन्द्रिय और

---

१. अत्रापि हि तिरोहितेष्वेव पदेषु पदार्थानुसन्धानानन्तरमवगम्यमानस्य वाक्यार्थस्य पदार्था एव साक्षात् साधनम्, पदानि तु तद्द्वारेणैव साधनं न साक्षात्। —वही, पृ. १०५.

२. नन्वेवमभिधायकत्वं पदानां न स्यात्। पदार्थस्वरूपावगतेः स्मरणादविशिष्टत्वात् स्मारकत्वमेवास्तु, नाभिधायकत्वम्।—वही, पृ. १०६.

३. न च पदार्थस्वरूपमात्रविषयस्मृतीनामन्योन्यान्वयबोधकत्वमनुपपन्नमन्यत्रादृष्टत्वादिति वाच्यम्।
—त. प्र., पृ. १४९

स्मृति-संस्कार सम्बन्धविहीन तथ्यों को विषय करते हैं[1]।

अन्य दार्शनिक कुमारिल के इन वक्तव्यों को उनके प्रकट अर्थ में नहीं लेते। पदों द्वारा तथ्यों का अभिधान किया जाता है और अभिधान को स्मरण नहीं कहा जा सकता। 'ख' को देखने पर 'क' का स्मरण उसी स्थिति में होता है, जब 'क' और 'ख' दोनों को पहले सम्बद्ध देखा गया हो। ऐसे किसी सम्बन्ध के विना कोई भी स्मरण सम्भव नहीं है; किन्तु पद और उसके द्वारा अभिहित अर्थ के बीच संयोग, समवाय या ऐसा कोई अन्य सम्बन्ध नहीं है[2]। फिर तो प्रश्न उठेगा कि पद उस अर्थ का अभिधान भी क्यों करेगा, जो इससे सम्बद्ध नहीं है? इसका उत्तर यह है कि अभिधान एक स्वभाविक शक्ति है, जो स्मरण की भाँति किसी वाह्य सम्बन्ध पर अवलम्बित नहीं है। पद अपने अर्थ का अभिधान अपनी स्वाभाविक शक्ति से करता है, वैसे ही जैसे चक्षुरिन्द्रिय स्वभावतः ही रूपवान् आकार को प्रकाशित करती है[3]। दूसरे पक्ष का फिर भी आग्रह है कि वहाँ भी इन्द्रिय और विषय के बीच संयोग या समवाय अथवा संयुक्त-समवाय आदि के रूप में कोई सम्बन्ध अवश्य होता है और इस प्रकार यह उपमिति सर्वथा उपयुक्त नहीं है। स्वाभाविक शक्ति के अधिवक्ता का कथन है कि यह सम्बन्ध अवश्य होता है; किन्तु यह प्रकाशन की क्रिया का निर्धारक नहीं बनता। यह अविवाद्य है कि चक्षुरिन्द्रिय विषय के साथ सम्बद्ध होकर उसे प्रकाशित करती है; किन्तु यह भौतिक सम्बन्ध, जो संयोग या संयुक्त-समवाय है, विषय के अन्य गुणों, जैसे रस और इन्द्रिय के बीच भी रहता है, फिर भी चक्षु द्वारा रूप का ही प्रकाशन होता है, रस का नहीं। इन्द्रिय की विशिष्ट सामर्थ्य ही इसके द्वारा निष्पन्न प्रकाशन के स्वरूप व अन्तर्वस्तु को निर्धारित करती है। पदों व उनके अर्थों की भी ठीक यही स्थिति है। पद में अभिधान-शक्ति है और इसके द्वारा यह अर्थ को उद्घाटित करता है[4]। अभिधान के इस व्यापार को स्मरण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्मरण तो स्मृति-संस्कार के उद्बोधन के माध्यम से ही सम्भव है और उद्बोधन अतीत में साथ देखे गये किसी तथ्य के संज्ञान से उत्पन्न होता है; किन्तु पद और अर्थ के साहचर्य

---

१. स्मरणमात्रस्य सामर्थ्याभावेऽपि समभिव्याहृतपदकदम्बकसमुदजनितपदार्थस्मृतीनामाकांक्षादि-सहकारिणीनां सम्भवत्येव तद्बोधकत्वं, सहकारिभेदोपादानात्, कथमन्यथा संस्कारेन्द्रिय-योरन्यत्र परस्परसंगतार्थाविषययोः प्रत्यभिज्ञायां पूर्वापरदेशकालसंसृष्टैकवस्तुबोधकत्वम्, परस्परसहकारितया तथात्वं तु प्रकृतेऽपि तुल्यम्।—त. प्र., पृ. १४१

२ प्रत्यासत्तिनिमित्तं स्मारकत्वम्। न च पदपदार्थयोः संयोगसमवायादिलक्षणा प्रत्यासत्तिरस्ति यतः स्मारकत्वं स्यात्।—न्या. र. मा., पृ. १०७.

३ प्रत्यायकत्वं हि वाचकत्वम्। तच्च स्वभावशक्त्याप्युपपन्नं चक्षुरादीनामिव रूपादिषु। वही.

४. ननु तत्रापि संयोगसंयुक्तसमवायतत्समवायलक्षणः सम्बन्धो विद्यत एव, सत्यम्, स तु रसादिसाधारणः। शक्तिरेव त्वसाधारणं प्रत्यायकत्वे निमित्तम्। तद्वच्छब्दस्यापि स्वाभाविक्यैव शक्त्या प्रतिपादकत्वं भविष्यति।—न्या. र. मा., पृ. १०७.

का ऐसा कोई पूर्वज्ञान नहीं है[1]। साहचर्य इस शक्ति का परिणाम है, निमित्त नहीं।

इसके विरोध में यह तर्क किया जा सकता है कि प्रकाशन की सामर्थ्य का व्यापार तभी देखा जाता है, जब सामर्थ्य से युक्त इन्द्रिय और सामर्थ्य के विषय पदार्थ के मध्य कोई सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय का व्यापार कभी भी शून्य में नहीं देखा जाता। इस प्रकार सामर्थ्य की कार्यसाधकता किसी न किसी सम्बन्ध पर निर्भर है; किन्तु पदों और पदार्थों के बीच ऐसे किसी सम्बन्ध का अस्तित्व नहीं पाया जाता। फिर शब्द अर्थ का प्रत्यायक कैसे हो सकता है[2]? यदि फिर भी यह माना जाये कि पूर्वतः सम्बद्ध न होने पर भी शब्द अर्थ का अभिधान करता है, तो यही क्यों न मान लें कि अभिधान की यह क्रिया शुद्ध रूप से स्मरण ही है। जब शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध का अभाव में विपक्षी द्वारा प्रत्यायन के प्रसंग में बाधक नहीं माना जाता, तो स्मारकत्व में भी इसे बाधा मानने की आवश्यकता नहीं, यद्यपि सामान्य अनुभव में सम्बन्ध दोनों की अनिवार्य शर्त हुआ करता है। स्वाभाविक अभिधान-शक्ति के अधिवक्ता को अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये कोई विशेषक लक्षण बतलाना होगा। पार्थसारथि उत्तर में स्वीकार करते हैं कि प्रतिपक्षी एक उभयपाश प्रस्तुत करने में सफल हो गये हैं। हम मानते हैं कि अर्थबोध से पूर्व पद और अर्थ के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं है और स्मारकत्व और प्रत्यायकत्व एक ही धरातल पर स्थित प्रतीत होते हैं; किन्तु मनोविज्ञान के निर्णय को ध्यान में रखने पर यह मानना पड़ेगा कि अर्थ का बोध स्मरण न होकर प्रत्यायन ही है। स्मरण के रूप में इसका कोई अनुभव नहीं होता; क्योंकि अतीत संज्ञान की देश-कालिक पृष्ठभूमि का उद्‌बोधन नहीं होता। इसके अतिरिक्त, शब्द-ज्ञान के तुरन्त बाद अर्थ का प्रत्यय हो जाने के कारण, अर्थ-बोध से पूर्व स्मृति-बिम्ब के उद्‌बोध की कल्पना का कोई आधार नहीं है[3]।

प्रतिपक्षी का अभी भी आग्रह है कि शब्द के अर्थ का बोध तभी होता है, जब अर्थ पूर्वतः ज्ञात हो। शब्द सिर्फ एक लेबल है, जो किसी तथ्य पर या तो स्वेच्छया मनमाने ढंग से या फिर पदार्थ की अथवा जैसा मीमांसक मानते हैं—स्वयं शाब्द अभिव्यक्ति की सहजात प्रकृति के अनुसार लगा दिया जाता है; किन्तु शब्द से किसी अर्थ को समझना तब तक सम्भव नहीं, जब तक उस अर्थ में शब्द के प्रयोग का ज्ञान

---

१. स्मारकत्वं तु संस्कारोद्बोधेन। न च सम्बन्ध्यर्थान्तरादर्शनेनासावुद्बोधयितुं शक्यते, क्वचिदप्यदर्शनात्।—वही.

२. ननु प्रत्यायकत्वमप्यसम्बन्धिनो नैव दृष्टम्।........शब्दस्य तु न कश्चिदर्थेन सम्बन्धोऽस्ति। तत्कथमस्य प्रत्यायकत्वम्।—न्या. र. मा., पृ. १०७.

३. तत्र प्रत्यायकत्वकल्पनमेव ज्यायः। शब्दानन्तरमर्थप्रत्ययदर्शनात्तस्यैव तत्र कारणत्वं कल्पयितुं युक्तम्। न तु शब्दात्संस्कारोद्बोधः, ततश्चार्थप्रतीतिरिति युक्तम्, प्रणाल्यां प्रमाणाभावात्।—वही.

न हो। इससे स्पष्ट होता है कि अर्थ का ज्ञान पूर्वगृहीत तथ्य का ज्ञान है। पहले जाने हुए तथ्य का ज्ञान स्मरण ही है और यदि शब्द का अभिधा-व्यापार इतना मात्र है, तो मीमांसकों द्वारा इसे अतिरिक्त प्रवर्ग मानने का कोई औचित्य नहीं। नैयायिक इसे केवल स्मृति मानते हैं और यही मीमांसकों को भी मानना चाहिए। लेकिन पार्थसारथि के अनुसार यह तर्क स्मृति के स्वरूप की सतही जानकारी का परिणाम है[1]। माना कि स्मृति पूर्वज्ञात तथ्य का ज्ञान है; किन्तु इसका विलोम तर्कवाक्य सत्य नहीं है, अर्थात् पूर्वज्ञात तथ्य का ज्ञान अनिवार्य और सार्वत्रिक रूप में स्मरण की क्रिया नहीं है। स्मरण संज्ञान का वह प्रकार है, जो सर्वथा किसी पूर्वसंज्ञान द्वारा छोड़े हुए स्मृति-संस्कार से उत्पन्न होता है[2]। अभिधान में पूर्वगृहीत तथ्य का ज्ञान तो अवश्य होता है; किन्तु उससे यह स्मृति की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। किसी पदार्थ के आवर्तित प्रत्यक्ष में भी किसी ज्ञात 'प्रदत्त' का ही पुनः पुनः ग्रहण होता है; किन्तु कोई भी व्यक्ति केवल इस कारण से इसे स्मृति का विषय मानने की भूल नहीं करता। इतना हो सकता है कि इसे प्रमा का सम्पूर्ण उदाहरण न माना जाए; क्योंकि उसका अर्थ सदैव किसी नए तथ्य का संज्ञान है। प्रतिपक्षी अधिक से अधिक यही आग्रह कर सकता है कि पदार्थ का ग्रहण किसी पूर्वज्ञात तथ्य की ही उपलब्धि है और ऐसा कुमारिल के अनुयायी भी नहीं कहते कि पदार्थ का ज्ञान किसी नवीन विषय की प्रमा का उदाहरण है। उनका कहना यही है कि पदार्थ के ज्ञान को एक पृथक् श्रेणी में रखना चाहिए और इसलिए वे इसे 'अभिधा' कहते हैं। कुमारिल का यह कथन कि पद स्मृति को उत्पन्न करने वाले निमित्त से बहुत अधिक भिन्न नहीं है, यही व्यञ्जित करता है कि स्मृति के समान इसकी भी प्रकृति ज्ञात तथ्य के ज्ञान को सम्प्रेषित करने की है। इसलिये कुमारिल का कथन शाब्दिक अर्थ में न लेकर लाक्षणिक अर्थ में लिया जाना चाहिए[3]।

यदि प्रभाकर का यह कथन कि वाक्यार्थ में अन्वय का ज्ञान पदों की अभिधा शक्ति से होता है, सही होता तो किसी पद के वाच्यार्थ का अन्य पद द्वारा सूचित लक्ष्यार्थ के साथ अन्वय सम्भव न होता। 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा पर ग्वालों की बस्ती है), इस वाक्य में गङ्गा-शब्द अपने मुख्यार्थ को त्यागकर लक्षणा द्वारा गङ्गातट को सूचित करता है। यहाँ लक्ष्यार्थ का वाक्य में अन्वय होना निर्विवाद है और फिर इसका कारण शब्द की अभिधा-शक्ति नहीं है। लक्ष्यार्थ का ग्रहण मुख्यार्थ के माध्यम से होता है, शब्द द्वारा यह सीधे अभिहित नहीं होता। अन्वय की बात तो दूर, मुख्यार्थ से सम्बद्ध हुए विना अर्थ स्वतः लक्ष्यार्थ को भी सम्प्रेषित करने में समर्थ नहीं है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि पद की अभिधा-शक्ति की सहायता के विना भी पदार्थ अपने अन्वय-ज्ञान का कारण हो सकता है। यह तर्क सही नहीं है कि अन्य

---

१. गृहीतग्राहित्वात्स्मरणमेव पदजनितं विज्ञानमिति चेत्तदसत्। —न्या. र. मा., पृ. १०७.
२. न गृहीतग्राहित्वं लक्षणं स्मरणस्य; किन्तु संस्कारमात्रजन्यत्वम्।—वही.
३. अत एवाचार्याणां शब्द एव प्रत्यये स्मरणव्यवहारोऽप्यौपचारिकः। —ना. र. पृ. १०९.

पदों की अभिधा-शक्ति अकुण्ठित है और लक्ष्यार्थ का वाक्य में अन्वय उसी शक्ति के बल पर हो जाता है। ऐसे भी वाक्य हैं, जैसे व्यंग्यात्मक वाक्य, जहाँ सभी पदों का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में होने पर भी उनके अन्वय का ग्रहण होता है। ऐसे स्थलों में पदों की अभिधान-शक्ति के प्रति अनुरोध बिल्कुल व्यर्थ है[1]।

इस प्रकार लाक्षणिक अर्थों का वाक्य में अन्वय पदों और उनकी अभिधा-शक्ति के विना होना सिद्ध है। ऐसे स्थलों पर अर्थ ही परस्पर अन्वित होते हैं। अब तर्कगत समानता के आधार पर सदैव ही वाक्यार्थ का अन्वय सीधे पदार्थों से होना चाहिए और पदों में इसका अनुसन्धान एक अनावश्यक और टेढ़ी प्रक्रिया होगी। प्रभाकर के मत में पद क्रियान्वित अर्थ का अभिधान करता है। वैदिक-विधि-वाक्यों में सदैव कोई क्रिया अनुष्ठेय होती है और पदों के तथ्यवर्णनपरक अर्थ इन क्रियाओं से अन्वित रूप में ज्ञात होने के कारण ही सार्थक होते हैं। वर्णनापरक वाक्यों में, जहाँ किसी अनुष्ठेय क्रिया का सन्दर्भ नहीं होता, ज्ञात पदों से केवल अनन्वित अर्थों का स्मरण होता है और इस स्मारित अर्थों से ही वाक्यगत अन्वय सम्पन्न होता है। उदाहरण के लिये, 'राजा जाता है' अथवा 'भारत के उत्तर में हिमालय की सीमा है' जैसे तथ्यपरक कथनों में किसी अनुष्ठेय क्रिया का कोई सन्दर्भ नहीं है और इसलिए, किसी भी पद के द्वारा वाक्यगत अन्वय का अभिधान नहीं हो सकता। फिर भी यह अविवाद्य है कि पदों के अर्थ अन्वित होते हैं। इस अन्वय का ज्ञान कैसे सम्भव होता है? निश्चय ही, पदार्थ इसमें कारण है[2]।

इसके उत्तर में कहा गया है कि इस प्रकार के तथ्यपरक कथनों में वाक्यगत अन्वय का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रभाकर पहले अनन्वित अर्थों की स्मृति और फिर पदों की अभिधा-शक्ति से उनके अन्वय का प्रत्यायन स्वीकार करते हैं। तथ्यपरक वाक्यों में किसी अनुष्ठेय क्रिया का सन्दर्भ न होने के कारण अभिधा-शक्ति का व्यापार नहीं होता। यह निर्विवाद है कि ऐसे वाक्यों में पदों का सामञ्जस्य स्मारित अर्थों के अन्वय को सम्प्रेषित करने की दृष्टि से किया जाता है। निर्णय को उत्पन्न न करने पर वाक्य का उच्चारण पूर्णतया निष्फल होगा। इस निर्णय की उपलब्धि अनुमान द्वारा होती है। इस अनुमान का रूप इस प्रकार का है: ''राजा जाता है' इस वाक्य का प्रयोक्ता पदार्थों के अन्वय से अवगत है; क्योंकि इन अर्थों में परस्पर अन्वय की योग्यता है और वक्ता भी एक

---

१. किञ्च यद्यभिधानत एवान्वितप्रतीतिः, कथं तर्हि गङ्गायां घोष इत्यादिषु लाक्षणिकस्य तीरादेर्घोषाद्यन्वितस्य प्रतिपत्तिः। ………… अथोच्येत गङ्गाशब्देन निमित्तभूतेऽर्थस्वरूपे स्मारिते सति तेन यत्संबन्धात् स्मारितं तीरस्वरूपं तेनान्वितं स्वार्थं घोषशब्दोऽभिधत्ते। गङ्गाशब्दस्तु तीरस्मरणमात्रोपयोगीति। यत्र तर्हि सर्वपदानामेव लाक्षणिकार्थत्वं न कस्यचिदपि मुख्योऽर्थो विद्यते, तत्र कथमन्वितप्रतिपत्तिः। —न्या. र. मा., पृ. १०६.

२. तस्मात् सिद्धार्थस्थले पदार्थनिमित्तैवान्वितप्रतीतिरेषितव्या। —ना. र. पृ.० १०९.

समझदार और विश्वसनीय व्यक्ति है, जो इस अन्वय के ज्ञान को संप्रेषित करना चाहता है। अतः, क्योंकि निर्णय में अपेक्षित वाक्यान्वय का ज्ञान अनुमानलभ्य है, इसलिये वाक्यार्थ के लिए पदार्थों की कर्तृता या करणता की परिकल्पना अनावश्यक है[1]।

ऐसा लगता है कि यह दलील सत्य के प्रति सर्वथा निरपेक्ष अन्धानुयायी के उत्साहातिरेक से प्रेरित है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वपक्षपोषण की भावना किस प्रकार व्यक्ति को अतिवाद की ओर ले जाती है। इस अतिवादी सम्भावना की स्वीकृति कुतर्क तो है ही, वह निश्चित रूप से अन्विताभिधानवादी के लिए आत्मघाती दुधारी तलवार साबित होगी। वह तथ्यपरक और क्रियापरक कथन में भेद करता है। उसके अनुसार क्रियापरक कथन में पद अपनी अभिधा-शक्ति से अन्वय की धारणा को संप्रेषित करते हैं; किन्तु तथ्यपरक कथनों की भाँति यहाँ भी अन्वय का ज्ञान अनुमानलभ्य माना जा सकता है और फिर तो प्रहार की दिशा ही पलट जाएगी। क्रियापरक कथनों में भी अन्वितार्थ को व्यक्त करने का वक्ता का प्रयोजन ही पदों के सामञ्जस्य का नियामक है। वक्ता के अन्वय-ज्ञान और प्रयोजन का अनुमान कर यहाँ भी वाक्यार्थ के ज्ञान की उपलब्धि तथ्यपरक वाक्यों की भाँति हो जायेगी[2] और इस प्रकार वाक्य के ज्ञान और पदार्थ-संसर्ग के अनुमान के मध्यवर्ती अन्तराल में अनन्वित अर्थों के स्मरण की परिकल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी। पदों के सामञ्जस्य और क्रम का सीधा सम्बन्ध पद-चयन के प्रेरक अन्वय-ज्ञान से ही होना चाहिए, न कि उस ज्ञान की अन्तर्वस्तु, अर्थात् जड़ अन्वय-तथ्य से, तभी ज्ञान की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट और सरल होगी। इससे पदों के अन्वितार्थाभिधायकत्व की मान्यता के मूल पर ही कुठाराघात होगा; क्योंकि फिर तो पदों में किसी भी अर्थ के अभिधान की शक्ति मानना सम्भव न होगा और अन्वित अर्थ के अभिधान का तो प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि पदों का सम्बन्ध ज्ञान के साथ माना गया है, अर्थ के साथ नहीं[3]। स्वीकृत मत यह है कि पदों का सम्बन्ध अर्थों से है और इसी सम्बन्ध के कारण पद उनका अभिधान करते हैं। यदि पदों का सीधा सम्बन्ध अर्थों से न मानकर ज्ञान से माना जाए, तो सम्बन्ध के अभाव में पद अपने अर्थों का अभिधान न कर सकेंगे। इस तर्क के प्रवर्तक बौद्ध और वैशेषिक हैं। वे वाक्य को अतिरिक्त और पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता से बचने के लिए शाब्द-ज्ञान को अनुमान में

---

१. अथ तत्रानुमानेन संविदन्वितगोचरा।
जायते न पदैर्नापि पदार्थैरिति मन्यसे ॥—न्या. र. मा., पृ. १०९.

२. यत्रापि कार्यसंवित्तिस्तत्राप्येवं प्रसज्यते।
पदानामपि सामर्थ्यमन्वितेऽतो न सिध्यति ॥—न्या. र. मा., पृ. १०९.

३. किञ्च स्वरूपमात्रमपि नाभिधेयम्। पदविशेषस्यैव वाचकत्ववद् विशिष्टार्थविषयेणैव विज्ञानेन व्याप्तिग्रहणसम्भवात्।—वही, पृ. ११०.

अन्तर्भुक्त करना चाहते हैं। प्रभाकर ने भी इस तर्कपद्धति का आश्रय लिया है; पर वे इसका उपयोग वाक्य द्वारा किसी संकल्पात्मक अभिप्राय से रहित एक तथ्यात्मक स्थिति का निर्देश किये जाने के विरुद्ध करते हैं। किन्तु पार्थसारथि ने बताया है कि यदि वाक्य और वाक्यार्थ के बीच सीधे सम्बन्ध की दलील एक बार मान ली जाए, तो पदों और व्यष्टि अर्थों के सम्बन्ध की परिकल्पना बेमानी होगी। वाक्य में पद कमोबेश प्रतीकों और संकेतों का कार्य सम्पादित करेंगे, वैसे ही जैसे अंकुश की चुभन पशु में क्रिया-विशेष की धारणा को उत्थापित करती है। यहाँ पर सम्बन्ध क्रिया और निर्णय अथवा पशुओं के प्रसंग में, निर्णय के समकक्ष के बीच होगा; किन्तु निर्णय और एक साकल्य में गृहीत वाक्य के मध्य सम्बन्ध पर कितना भी जोर देने पर भी, विशेष पदों के विवेकपूर्ण चयन और पदरचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यार्थ अविश्लेषणीय नहीं है; अपितु ऐसे घटकों से युक्त है, जिनके निमित्त व्यष्टि पद हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पद-पदार्थ-सम्बन्ध प्रत्येक स्थिति में वाक्यार्थ, अर्थात् शाव्द-निर्णय के ज्ञान के निमित्त के रूप में जाना जाता है। तथ्यपरक वाक्य और क्रियापरक वाक्य के बीच पदों की भूमिका को मिटाने वाली विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं। ऐसी सम्भावना पद-पदार्थ-सम्बन्ध के उन्मूलन की विसंगति को उत्पन्न करेगी। प्रभाकर कभी भी इसका अनुमोदन नही करेंगे; क्योंकि वे भी शब्द और अर्थ के बोच सम्वन्ध को स्वीकार करते हैं। मीमांसा के इन दो सम्प्रदायों का मतभेद अर्थ के स्वरूप को लेकर है, अर्थात् इस विषय पर है कि अर्थ की अन्तर्वस्तु शुद्ध पदार्थ है अथवा एक अन्वित संसृष्टि है।

प्राभाकर मत का पक्षधर इस आलोचना को नितान्त अनुचित मानता है। उसका आरोप है कि प्रतिपक्षी ने जान-बूझकर उसके पक्ष की गलत ढंग से व्याख्या की है। प्रभाकर का अभिप्राय यह है—मनुष्यों का भाषा द्वारा प्रेरित क्रियाकलाप ही पदों और वाक्यों के अर्थज्ञान का अन्तिम स्रोत है। जब कोई वरिष्ठ व्यक्ति अपने कनिष्ठ को 'एक गाय ले आओ', इस प्रकार आदेश देता है, तो कनिष्ठ व्यक्ति की वास्तव में प्रवृत्ति होती है और वह जाकर गाय ले आता है। पास खड़ा बालक आदेश को सुनता है और आदिष्ट व्यक्ति के व्यापार का निरीक्षण करता है। वह अनुमान करता है कि यह व्यापार उच्चरित वाक्य से उद्भूत है; क्योंकि यह व्यापार वाक्य के उच्चारण के तुरन्त बाद हुआ है। वह यह भी अनुमान करता है कि वाक्य और तदनन्तर उद्भूत ज्ञान के बीच कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए और यह सम्बन्ध वाचक-वाच्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तब अन्य वाक्यों के ज्ञान और उनमें पदों की बदलती हुई स्थितियों द्वारा सम्पादित संयोजनाओं द्वारा वह व्यष्टि पदों के अर्थों का और पदों व अर्थों के बीच सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है। बाद में यह देखकर मनुष्य मिथ्या-वाक्य भी बोलते हैं, वह सम्प्रेष्य ज्ञान की यथार्थता के विषय में संदेह करने लगता है। यह सन्देह अन्वय के ज्ञान में बाधा है; किन्तु वक्ता के आप्तत्व में विश्वास के लिए पर्याप्त हेतु पा लेने पर वह अनुमान करता है कि उसका कथन विवक्षित स्थिति के ज्ञान द्वारा नियमित है। यहाँ वाक्य का और इसलिये उसमें

प्रस्तुत पदों का, अर्थ अनुमान के द्वारा जाना जाता है. इसमें सन्देह नहीं; किन्तु यह इस तथ्य का अपलाप नहीं करता कि पद अपनी स्वाभाविक शक्ति से अर्थों का अभिधान करते ही हैं। इससे अधिक से अधिक इतना ही सिद्ध होता है कि वाक्यजन्य शाब्द-निर्णय आनुमानिक ज्ञान का अनुवाद है। स्वाभाविक अभिधान-शक्ति का इससे अतिक्रमण अथवा निराकरण नहीं होता[1]।

कुमारिल के अनुयायियों के अनुसार यह प्रतिवाद अयथार्थ प्रेक्षण के दोष से ग्रस्त है। यदि कनिष्ठ वृद्ध का ज्ञान सीधे वाक्य की उपलब्धि से उत्पन्न माना जा सकता, तो इस तर्क को निर्णायक व प्रत्यायक मानकर स्वीकार किया जा सकता था। कहा गया है कि वक्ता की आप्तता के विषय में सन्देह होने पर वाक्यार्थ के निमित्त के रूप में इस अनुमान का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है कि वक्ता को स्थिति का सही ज्ञान है। इस प्रकार शाब्द-निर्णय शब्दों से उद्भूत न होकर सीधे अनुमान द्वारा जन्य है[2]। इसलिये वाक्यार्थ और वाक्य के व्यष्टि पदों के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि विवेक न करने वाले व्यक्ति वाक्यार्थ का कारण शब्दों को मान लेते हैं और इसलिये कार्य-कारण-सम्बन्ध शब्दों के अर्थों का ज्ञान उत्पन्न करता है; किन्तु यह एक भ्रान्ति हो होगी और इस भ्रान्ति की निवृत्ति समस्त प्रक्रिया को मिथ्या और निर्मूल सिद्ध करते हुए निरस्त कर देगी[3]। 'अनुमान केवल वाक्यार्थ की पुष्टि करता है, जो कि वस्तुतः अनुमानलभ्य ज्ञान का अनुवाद करता है', इस प्रकार की दलील तब तक प्रत्यायक नहीं हो सकती, जब तक पदों की वाचक-शक्ति का कोई स्वतन्त्र प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जाता[4]। यदि प्रभाकर अनुमान को वाक्यार्थ के ज्ञान का निमित्त मानने के अपने आग्रह को छोड़ दें और शब्दों में प्रत्यक्ष और अव्यवहित रूप में अपने अर्थों को अभिहित करने की सामर्थ्य मान लें, तो इस स्थिति का परिहार हो सकता है। वैदिक और लौकिक वाक्यों में विभेद करने का प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा; क्योंकि कम से कम अभिधान-शक्ति की दृष्टि से वैदिक और लौकिक शब्दों में कोई भेद नहीं है और, क्योंकि वैदिक और लौकिक, दोनों ही प्रकार के वाक्यों का विन्यास एक ही नियम द्वारा परिचालित होता है। हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि किस प्रकार

---

१. ततश्च शब्दानां वाचकत्वशक्तिः स्वाभाविकी पश्चादनुमानेऽपि न हीयते।
—ना. र. पृ. ११३.

२. शब्दानन्तरभाविनी प्रयोज्यवृद्धस्य वाक्यार्थविषया प्रतीतिर्यदि व्युत्पित्सुना केवलवाक्यजन्येति निश्चिता स्यात्, तदा वाक्यस्य तत्र शक्तिं कल्पयेत्। न त्वेवम्। किन्त्वनुमानरूपादेव वाक्यात्।—वही, पृ. ११५.

३. ...... तज्जन्यत्वभ्रान्तौ निवृत्तायां तन्निमित्ता शक्तिभ्रान्तिरपि निवर्तिष्यते।
—न्या. र. मा., पृ. ११३.

४. नन्वनुमितमप्यर्थं पश्चादनुवदद् वाक्यं वाचकं शक्तं स्यात्। तन्न। अनुवादकत्वे प्रमाणाभावात्।—न्या. र. मा., पृ. ११३,

अनुमान की स्वीकृति पदों से अर्थों के बोध को अशक्य बना देती है और यदि लौकिक-भाषा में शब्द और अर्थ के बीच किसी वाचक-सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती, तो वैदिक शब्दों के प्रसंग में भी ऐसे सम्बन्ध की परिकल्पना के लिये हमारे पास कोई हेतु नहीं होगा[1]।

किन्तु कुमारिल के मत में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है। जहाँ तक अर्थबोध का प्रश्न है, वे अयथार्थ एवं यथार्थ वक्तव्य के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींचते। वाक्य सीधे अपने घटक पदों के द्वारा उनके व्यष्टि अर्थों का अभिधान करता है और फिर वे अर्थ वाक्यार्थ को उत्पन्न करते हैं। वाक्य सत्य हो या मिथ्या, इससे ज्ञान की प्रक्रिया में कोई फर्क नहीं पड़ता। वाक्य का मिथ्यात्व पश्चाद्वर्ती साक्ष्य की सहायता से जाना जा सकता है; किन्तु इससे पदों की वाचक-शक्ति अथवा वाक्यार्थ के लिए अर्थों की कारणात्मक क्षमता निरस्त नहीं होती।

प्रभाकर पदों की अभिधा-शक्ति से अन्वय-ज्ञान को सिद्ध करने का दावा नहीं कर सकते। यह सर्वस्वीकृत है कि बालक मूलतः पदों के अर्थों का ज्ञान गुरुजनों के व्यवहार के अध्ययन से प्राप्त करता है। इस स्थिति में निहित मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की व्याख्या पहले हो चुकी है; किन्तु आदेशवाक्य के अनुसार कार्य करने की कनिष्ठ व्यक्ति की प्रवृत्ति से अन्वित पदार्थों के ज्ञान का अनुमान करने के लिये प्रभाकर के पास कोई औचित्य नहीं है। भ्रान्तिजन्य संज्ञान की सम्भावना को वे अस्वीकार करते हैं और इसकी व्याख्या में वे इसे दो असम्बद्ध संज्ञानों की स्थिति कहते हैं, जिनके साथ उनकी असम्बद्धता का ज्ञान संलग्न नहीं है। इसमें सम्बन्धाभाव के ज्ञान का अतिक्रम होता है और ऐसे मामलों में क्रिया का कारण यही निषेधात्मक ज्ञान है। फिर यहाँ प्रभाकर क्रिया को निर्णय पर निर्भर कैसे कह सकते हैं। प्रभाकर के विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि अपने स्वामी के आदेश का पालन करने वाला सेवक पदार्थान्वय के ज्ञान द्वारा नहीं; अपितु अनन्वित; किन्तु अनन्वय के बोध से रहित, अर्थों द्वारा प्रवृत्त होता है। अतः सेवक की चेष्टा के आधार पर वाक्य एवं वाक्यार्थ के मध्य कारणता-सम्बन्ध की स्थापना नहीं हो सकती[2]। यह तर्क किया जा सकता है कि विवेकाभाव केवल निष्फल क्रिया का निमित्त है, जहाँ क्रिया की सिद्धि हो जाती है, वहाँ निर्णय (वाक्यार्थ) का इसके कारण के रूप में अनुमान करना चाहिए; किन्तु

---

१. तस्माल्लोकवचसामनुमानत्वेन प्रामाण्याङ्गीकरणे पदानां वाचकत्वायोगादप्रतिपादकत्वेनाप्रामाण्यं वेदस्य स्यादिति तत्प्रामाण्यसिद्धयर्थं लोकेऽपि शब्दानां शब्दतयैव प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्।—वही, पृ. ११३-१४.

२. सा हि भवन्मते शुक्तिकायामिव रजतार्थिनो विवेकाग्रहणादपि सिध्यति। तेन गामानयेत्यत्र गोप्रातिपदिकेन द्वितीयया धातुना विधिप्रत्ययेन च चतुर्ष्वप्यर्थेषु स्वरूपमात्रेणाभिहितेष्वगृहीतेऽप्यन्वये तदनन्वयाग्रहादेव प्रवृत्तिसिद्धेर्नान्वितप्रतीतिः कल्पयितुं शक्यते।

—न्या. र. मा., पृ. ११४-१५.

यह तर्क प्रत्यायक नहीं माना जा सकता; क्योंकि सफल क्रिया को प्रेरित करने वाली भ्रान्ति के भी उदाहरण मिलते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण धर्मकीर्ति ने दिया है। एक स्थिति में व्यक्ति रत्न को प्रभा को स्वयं रत्न समझ बैठता है और दूसरी में वह दीपक की प्रभा को रत्न समझता है। दोनों के परिणामों में भेद है। प्रथम भ्रान्ति वस्तु की उपलब्धि कराती है, जबकि दूसरी नैराश्य को उत्पन्न करती है। व्यवहार में एक में सन्तुष्टि व दूसरी में उसके अभाव के बावजूद भ्रान्ति की; इन दो स्थितियों में तात्त्विक भेद नहीं है। पार्थसारथि ने सफल भ्रान्ति का एक अन्य उदाहरण दिया है। मान लें किसी स्थान पर अग्नि है; किन्तु धुँआ नहीं है और ऊपर वाष्प का ढेर है जिसे भ्रान्तिवश धुँआ समझ लिया जाता है। इसके आधार पर किया गया अग्नि का अनुमान सफल क्रिया का कारण बनता है; किन्तु इसी से हम इसे प्रामाणिक ज्ञान नहीं मान सकते। प्रभाकर के अनुसार, यहाँ क्रिया की उत्पत्ति प्रत्यक्ष दृश्य वाष्प और स्मृत धुँए के बीच विवेकाभाव से उत्पन्न माननी होगी। अतः क्रिया की सफलता या विफलता अन्वय-ज्ञान को निमित्त मानने के लिए प्रमाण नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रभाकर के मत में वाक्यज्ञान और उसके अनन्तर उत्पन्न वाक्यार्थ के बीच कारणता-सम्बन्ध का अनुमान करने के लिए कोई साधन नहीं रह गया है। इससे, पदों में अन्विताभिधायकत्व के लिए उनके द्वारा दिये गए तर्कों की सारी प्रत्यायकता समाप्त हो जाती है; क्योंकि प्रत्यायित अर्थ को वाक्य, अर्थात् उसके घटक पदों से जोड़ने का कोई आधार नहीं रह गया है[1]।

बहरहाल, प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत तार्किक मितव्ययिता की दलील सिर्फ एक छलावा है। न सिर्फ यह, कि प्रभाकर दो पृथक् शक्तियों की आवश्यकता से मुक्ति नहीं पा सकते—एक अर्थ के लिए और दूसरी अन्वय के लिए—अपितु त्रिविध शक्ति की परिकल्पना भी प्राभाकर-मत में अनिवार्य हो जाती है, जबकि यही आपत्ति वे कुमारिल-मत के विरोध में उठाते हैं। पहली शक्ति के द्वारा श्रूयमाण या स्मर्यमाण प्रत्येक पद अपने अनन्वित अर्थ की स्मृति उत्पन्न करता है; दूसरी स्थिति में पृथक् पृथक् स्मृतियों से उत्पन्न एक सामूहिक स्मरण-व्यापार द्वारा जब इन सभी पदों का स्मरण होता है, तो ये पद सीधे अर्थों के बीच अन्वय का अभिधान करते हैं, फिर तीसरे, क्योंकि कार्य की अपनी सामर्थ्य पूर्ववर्ती निमित्त से व्युत्पन्न होती है, अतः अभिधान की इस सामर्थ्य का आधान सामूहिक स्मरण द्वारा मानना होगा; क्योंकि जो पद इस स्मरण का विषय नहीं होता, उसमें यह सामर्थ्य नहीं होती[2]। अब यह

---

१. ....तदा तत्राग्रहणनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्याविसंवाददर्शनादनैकान्तिको व्यवहाराविसंवादो नान्वितज्ञानोत्पत्तिपरिकल्पनायां प्रमाणं भवितुमर्हति।—न्या. र. मा., पृ ११७.

२. ....एकैकस्य पदस्य श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा तत्तत्पदार्थस्मरणजननशक्तिः, पुनरेकस्मरणगोचराणां च तेषामेव पदानामन्योन्यान्वितपदार्थाभिधानशक्तिः, सकलपदगोचरस्य स्मरणस्य पदेष्वन्विताभिधानशक्त्याधानशक्तिश्चेति शक्तित्रयकल्पना।
त. प्र., पृ. १५१.

तर्क किया जा सकता है कि यदि यह दलील तार्किक रूप से निर्दोष भी हो, तो इससे दोनों मतों की तुल्यता ही सिद्ध होगी। फिर, एक मत को दूसरे पर वरीयता देने का तो कारण नहीं दीखता; किन्तु स्थिति तुल्यदोष की नहीं है। कुमारिल मत में अन्वय-ज्ञान का कारण पदों की अभिधा-शक्ति नहीं है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी भी अर्थ के विस्मृत हो जाने पर वाक्यार्थ उत्पन्न नहीं होता। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि कुछ स्थितियों में पदों—और इसलिए उनकी अभिधान-शक्ति—का आश्रय लिए विना ही पदार्थ सीधे वाक्यार्थ को प्रस्तुत कर देते हैं। यह आगे प्रदर्शित किया जाएगा कि वाक्यार्थ की उत्पत्ति पदों की अभिधा-शक्ति से नहीं; अपितु लक्षणा से होती है। इस प्रकार कुमारिल-मत में कम से कम एक शक्ति का लाघव तो है ही[1]। हाँ, यह आवश्यक है कि पदार्थों को व्यक्त करने वाले पद एक ही वाक्य के घटक होने चाहिए। अन्य प्रमाणों से ज्ञात अर्थों में पदों द्वारा वाच्य अर्थों के साथ अन्वित होने की शक्यता नहीं है। यही कारण है कि कुमारिल के अनुयायी न्यूनपदीय वाक्यों में अर्थों के अनुमान को अस्वीकार करते हुए पदों के ही अनुमान का आग्रह करते हैं। इस प्रकार वाक्य से उत्पन्न निर्णय के शाब्दस्वरूप की भी व्याख्या हो जाती है।

दर्शन के विद्यार्थी का यह उपालम्भ हो सकता है कि यह सारा विवाद सूक्ष्म विभेदों और जटिलताओं पर आधारित इस उपालम्भ का औचित्य कुछ भी हो, दोष इतने मुखर हैं कि वे निर्णायक हुए विना नहीं रह सकते। तार्किक मितव्ययिता की दृष्टि से कम से कम पर्यायों के सन्दर्भ में तो प्राभाकर-मत स्पष्टतः ही प्रतिकूल स्थिति में है। एकार्थक पदों के विषय में तो दोनों मतों के बीच तुल्यता प्रतीत हो सकती है; क्योंकि एक मत (कुमारिल का मत), एक शक्ति तो पद की, अर्थों के लिए मानता है और एक शक्ति पदार्थों की, अन्वय के लिए मानता है। दूसरे मत को भी दो अर्थों के लिए दो शक्तियाँ माननी होंगी। द्व्यर्थक एवं भिन्नार्थक शब्दों के विषय में प्रत्येक पृथक् अर्थ के लिए प्रभाकर को दो शक्तियाँ माननी होंगी। उदाहरण के लिए अक्ष-शब्द के अर्थ हैं : पांसे, इन्द्रिय और बहेड़ा। प्रभाकर को इस शब्द के लिए छः वाचक-शक्तियों की परिकल्पना करनी होगी। कुमारिल को भी तीन मुख्यार्थों के लिए तीन और फिर, वाक्यार्थ के लिए, तीनों पदार्थों में से प्रत्येक की एक शक्ति को स्वीकार करना होगा। इन उदाहरणों में, शक्तिकल्पनाओं की संख्या की दृष्टि से दोनों ही की स्थिति समान होगी; किन्तु पर्यायवाची शब्दों के प्रसंग में, प्रभाकर को प्रत्येक शब्द की दो शक्तियाँ माननी होंगी। यदि तीन पर्याय हों तो शक्तियों की संख्या छः होगी। कुमारिल इस स्थिति में तीन शब्दों की तीन शक्तियाँ और अन्वय के लिए एक समान अर्थ की एक समान शक्ति परिकल्पित करेंगे। इस

१. न चाभिहितान्वयवादेऽपि शक्तिकल्पनागौरवस्य तुल्यत्वात् विनिगमनाभाव आशङ्कनीयः। विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तपदकदम्बकसमभिव्याहारान्यथानुपपत्त्या पदस्मारितानामर्थानामन्योन्यान्वयस्य लक्ष्यमाणत्वेनोपपत्तेः।—त. प्र., पृ. १५१.

प्रकार पर्यायों की संख्या जितनी अधिक होगी, प्राभाकर-मत में अतिरिक्त शक्तियों का अन्तर भी उतना ही बढ़ता जाएगा और फिर, वाक्यार्थ की प्रस्तुति पदार्थज्ञान के तुरन्त बाद होना भी सीधे पदार्थों द्वारा वाक्यार्थ की निष्पत्ति मानने के पक्ष में निर्णायक है[1]।

पदों की अभिधान-शक्ति को लेकर मीमाँसा के दो सम्प्रदायों में प्रचलित मतभेद को हमने काफी विस्तार से प्रस्तुत कर दिया है। प्रभाकर एवं उनके अनुयायी अपने इस पक्ष पर दृढ़ हैं कि पद अन्वित तथ्यों का अभिधान करते हैं और अन्वितता की अभिज्ञा में अन्वय की अभिज्ञा निहित है। इसलिए वाच्यार्थ को अन्वित तथ्य कहा गया है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि वाच्यार्थ तथ्य और अन्वितता का योग है। दूसरी ओर कुमारिल के अनुयायियों का दृढ़ मत है कि पद केवल अनन्वित अर्थों का अभिधान करते हैं और उनका अन्वय पदार्थों द्वारा व्यक्त किया जाता है। उनकी दलील है कि विभिन्न वाक्यों द्वारा सम्प्रेषित अन्वय में कोई स्थिरता और एकरूपता न होने के कारण अन्वय को पद का अर्थ नहीं माना जा सकता। जैसा हम देख चुके हैं, प्रभाकर के अनुयायी यह मानने के लिए बाध्य हैं कि पद अनन्वित अर्थों की स्मृति उत्पन्न करते हैं और उनके बीच अन्वय की प्रतीति बाद में होती है। इस अन्वय का सम्प्रेषण पदों की अभिधा-शक्ति द्वारा माना गया है; किन्तु परिस्थितियों द्वारा वे अपने दावे को न्यूनतम स्तर तक लाने के लिए बाध्य हुए हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि सुनिश्चित विशेष अन्वय का भिन्न-भिन्न वाक्यों में परिवर्तित होते रहना निश्चित है और इसलिए पदों द्वारा पार्थक्य में इसका अभिधान नहीं हो सकता। यदि पदों द्वारा अन्वय का अभिधान होना ही है, तो यह अस्पष्ट और सामान्य अन्वय होगा। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से अन्वय अनिवार्य है और इसलिए अर्थ एवं अन्वय साथ-साथ चलने चाहिए; किन्तु व्यवहारतः इस अमूर्त अन्वय का पूर्वज्ञान वाक्यार्थ के निर्धारण में कोई सहायता नहीं देता। ठीक-ठीक अन्वय का निर्धारण तो तभी सम्भव है, जब वाक्य में आने वाले अन्य पदों के अर्थ किसी एक पद के अर्थ के साथ अन्वित हों। अर्थों के ये विशेष अन्वय ही तथ्यात्मक स्थिति को प्रस्तुत करते हैं और यही हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। यह स्पष्ट है कि एक संसृष्ट स्थिति का—जिसमें भिन्न-भिन्न तथ्य अनेक प्रकार से अन्वित होकर एक व्यवस्थित समग्रता की रचना करते हैं—किसी अकेले पृथक् पद द्वारा अनुभवपूर्व सम्प्रेषण नहीं हो सकता। कुमारिल के अनुयायियों की दलील है कि वाक्यार्थ सदैव एक अन्वित समग्रता है और इसका ज्ञान व्यष्टि पदों का अभिधा-शक्ति के माध्यम से नहीं हो सकता। इसलिए उनके मत में पद अर्थों का अभिधान करते हैं और ये पदार्थ अपनी सहजात स्वाभाविक कारण-सामर्थ्य के द्वारा अपने पारस्परिक अन्वय को सम्प्रेषित करते हैं।

---

१. शक्तिकल्पनातुल्यत्वेऽपि चानन्तर्यात्पदार्थानामेव वाक्यार्थनिमित्तत्वं युक्तं न पदानामित्युक्तम्। तस्मादभिहितान्वय एव ज्यायान्।—न्या. र. मा., पृ. ११९.

इस कारण-सामर्थ्य का स्वरूप क्या है ? प्रभाकर का सम्प्रदाय इसे पदों की मुख्य शक्ति कहता है, जबकि कुमारिल का सम्प्रदाय इस शक्ति को पदार्थों में निहित मानता है और इसे लक्षणा का नाम देता है[१]। इस लक्षणा-शक्ति की विशेषता यह है कि इसमें एक समग्र वाक्यार्थ के पूर्वज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। लक्ष्यार्थ का ज्ञान मुख्यार्थ के ज्ञान के अनन्तर स्वतः ही होता है। हम देख चुके हैं कि एक अन्वित समग्रता के रूप में वाक्य के अर्थ के पूर्वज्ञान के प्रति प्रभाकर का आग्रह एक सामान्य अमूर्त अन्वितता तक सीमित रह गया है, जिसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। यह तो प्रभाकर और कुमारिल, दोनों ही को स्वीकार करना पड़ता है कि पदों या पदार्थों द्वारा सुनिश्चित अन्वय के रूप में वाक्यार्थ का सम्प्रेषण एक अज्ञात सामर्थ्य के माध्यम से होता है। वाक्यार्थ के निमित्त की भूमिका में लक्षणा की प्रकृति का विवेचन करने से पूर्व दोनों सम्प्रदायों के अनुसार अभिधा के स्वरूप का विवेचन कर लेना समुचित होगा; क्योंकि लक्षणा के प्रश्न से इसका गहरा सम्बन्ध है।

पिछले अध्याय में हमने वाच्यार्थ की अन्तर्वस्तु के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया था। वहाँ हम स्पष्ट कर चुके हैं कि यद्यपि वक्ता और श्रोता के प्रयोजन और हित की पूर्ति व्यक्तिविशेष से ही होती है और पदों से भी अर्थरूप में विशेष का अभिधान करने की अपेक्षा की जाती है, फिर भी पद इस कार्य के लिए अपर्याप्त पाए गये हैं। व्यक्तियों की संख्या असीम है और वे एक-दूसरे से अनिर्धार्य सूक्ष्म भेदों की दृष्टि से भिन्न हैं। इसलिए कोई भी पद किसी व्यक्ति-द्रव्य या विशेषण अथवा क्रिया के ज्ञान को उसकी सम्पूर्ण वैयक्तिकता के साथ व्यक्त नहीं कर सकता। पद तो केवल निर्जीव अवधारणाओं का अभिधान करते हैं, जो असंख्य व्यक्तियों के साथ सही बैठ सकती हैं, फिर उनके व्यक्तिपरक भेद कुछ भी हों। उदाहरण के लिये, 'त्रिभुज' शब्द का वाच्य एक ऐसा अर्थ है, जो न तो समभुज है, न विषमभुज है और न ही समद्विबाहु है और फिर भी इन सबका समावेश करता है। कुमारिल और प्रभाकर दोनों ही इस विषय में सहमत हैं कि व्यक्तियों में पदों की शक्ति नहीं है। उनका दृढ़ मत है कि शब्द जाति को व्यक्त करते हैं; किन्तु विशेष व्यक्तियों में आकार लिए विना जातियों का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। यदि केवल जातियों के अभिधान में ही शब्द निःशेष हो जाएँ, तो वे अर्थहीन प्रलाप जैसे ही होंगे; क्योंकि जातियों में सिर्फ उन्हीं के लिए, न तो वक्ता की और न श्रोता की ही रुचि है। कार्यकारिता के लिए मूर्त-व्यक्तियों में उनका आकार लेना आवश्यक है। जाति से व्यक्ति में यह संक्रान्ति किस प्रकार होती है ? इसी समस्या पर हम अब अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे; क्योंकि वाक्यार्थ का सीधा सम्बन्ध व्यक्तियों से है।

प्रभाकर का कथन है कि शब्द एक अपूर्वज्ञात सम्बन्ध के माध्यम से जाति का अभिधान करता है; किन्तु क्योंकि व्यक्ति के विना जाति का बोध सम्भव नहीं, अतः

१. अत एव वाक्यार्थो लाक्षणिक इति मीमांसकाः।—न्या. र. मा., पृ. १२५.

व्यक्ति का ग्रहण भी जाति के साथ होता है। शब्द का अभिधान-सामर्थ्य जाति तक ही सीमित है और मानवीय बुद्धि की सीमाओं के कारण व्यक्तियों से, अलग-अलग या सामूहिक रूप में, इसका सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता; किन्तु जाति द्वारा व्यक्ति का प्रत्यायन अपने आप हो जाता है। शब्द जाति का अभिधान करता है, जो अपनी सहजात सामर्थ्य के द्वारा व्यक्ति का ज्ञान कराती है। इसलिए प्रभाकर व्यक्ति को भी शब्द का अर्थ मानते हैं, यद्यपि इसके लिए वे किसी पृथक् शक्ति की परिकल्पना आवश्यक नहीं समझते[1]।

कुमारिल एक सीमा तक प्रभाकर से सहमत हैं। वे भी शब्द का अर्थ जाति को मानते हैं और व्यक्ति की प्रतीति आक्षेप अथवा लक्षणा द्वारा मानते हैं; किन्तु व्यक्ति को मुख्यार्थ की अन्तर्वस्तु मानने के प्रश्न पर उनका प्रभाकर से स्पष्ट मतभेद है। उनके मत में पद या पदार्थ द्वारा व्यक्ति का प्रत्यायन एक पृथक् शक्ति के माध्यम से होता है। प्रभाकर यह स्वीकार करते हैं कि शब्द की स्वाभाविक शक्ति जाति में है और व्यक्ति पर शब्द के अधिकार-क्षेत्र की स्थापना उसके द्वारा अभिहित जाति के माध्यम से होती है। जाति व्यक्ति को इसलिए सूचित करती है; क्योंकि व्यक्ति के ठोस आधार के बिना जाति न तो सत्तामीमांसीय दृष्टि से सम्भव है और न ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बोध्य है। इस प्रकार वास्तव में व्यक्ति वाच्यार्थ का सहपरिणाम और अनिवार्य सहवर्ती है। अपने ज्ञान के साधन एवं उद्गम में भेद के बावजूद जाति और व्यक्ति समान रूप से वाच्यार्थ की अन्तर्वस्तु हैं और इसलिए अर्थ की अन्तर्वस्तु के रूप में दोनों का स्तर समान होना चाहिए। कुमारिल के अनुयायी प्रभाकर की इस व्याख्या को या तो मतिभ्रम अथवा जान-बूझकर किया हुआ अपव्याख्यान मानते हैं। व्यक्ति को वाच्यार्थ कहने का अर्थ है कि व्यक्ति शब्द की अभिधा-शक्ति द्वारा वाच्य हैं; किन्तु जाति एवं व्यक्ति के लिए दो पृथक्-पृथक् शक्तियों की परिकल्पना करने में प्रभाकर हिचकिचाते हैं, वे व्यक्ति को जाति के फलितार्थ के रूप में रखते हैं; किन्तु अर्थबोध की हमारी मनोरचना में एक अर्थ को मुख्य और दूसरे अर्थ को फलितार्थ मानकर परस्पर भेद करने के लिए हमारे पास कोई मापदण्ड नहीं है[2]। प्रभाकर के पक्ष की विसङ्गति यह विचार करने पर और भी स्पष्ट हो जाती है कि उनके अनुसार जाति और व्यक्ति दो अत्यन्त भिन्न सत्ताएं हैं[3]। यदि कुमारिल ने यह दावा किया होता तो वह फिर भी कुछ युक्तियुक्त हो सकता था; क्योंकि कुमारिल के मत में जाति और व्यक्ति का भेदाभेद सम्बन्ध है, जबकि प्रभाकर नैयायिक की भाँति यहाँ सत्तामीमांसीय दृष्टि से भिन्न एक तत्त्व को दूसरे में समवाय-

---

१. अथ न व्यक्तौ शब्दस्य शक्तिः। किन्तु जातावेव। सा तु शब्देनैव प्रतीयमाना वस्तुस्वभावाद्व्यक्त्या सह प्रतीयते। —न्या. र. मा., पृ. १२१.

२. यदि तस्यार्थद्वयेऽपि शक्तिद्वयं शब्दस्य कल्पितं ततः केन प्रमाणेनायमवान्तरविभागोऽवगम्यते, स्वाभाविक्याकृतौ शक्तिर्व्यक्तौ तु तन्निबन्धनेति।—न्या. र. मा., पृ. १२१.

३. अत्यन्तभेदवादिनस्तव मते तु नितरां विलक्षणस्वभावा।—न्या. र. मा., पृ. १२६.

सम्बन्ध मानते हैं। यह तर्क भी विवाद से परे नहीं है कि किसी मूर्त-व्यक्ति को माध्यम बनाए विना जाति का बोध असम्भव है। यदि, जैसा प्रभाकर मानते हैं, वे दो भिन्न सत्ताएँ हैं, तो यह समझ पाना कठिन है कि एक के विना दूसरे की सत्ता अथवा बोध-गम्यता क्यों सम्भव नहीं हो सकती ? प्रभाकर कभी भी धर्मकीर्ति की भाँति जाति और व्यक्ति को संख्यात्मक दृष्टि से एक एवं अविभेद्य तत्त्व नहीं मान सकते। इसके अतिरिक्त, वे जाति के संज्ञान को व्यक्ति के संज्ञान की शर्त मानते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि ये संज्ञान शब्द के एक ही अभिधा-व्यापार द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। कम से कम वे उन्हें एक ही मुख्यार्थ की अन्तर्वस्तु मानते हैं। मौलिक एवं फलित अर्थों की उनकी बात वस्तुतः एक चतुराई भरा उपाय है, जो किसी पूर्वाग्रहमुक्त मस्तिष्क को कायल नहीं कर सकता। जहाँतक व्यक्ति को पद का अर्थ मानने का प्रश्न है, व्यक्ति तब तक एक अज्ञातसत्ताक रहेगा, जब तक पद में इसके लिए सामर्थ्य स्वीकार नहीं की जाती, जबकि प्रभाकर इस सामर्थ्य को मानने में सकुचाते हैं। व्यक्ति को प्रतीति कैसे सम्भव है ? पद द्वारा यह सम्भव नहीं; क्योंकि पद में इसके प्रत्यायन की कोई क्षमता नहीं है। पद जाति का अभिधान करता है और ऐसा माना जाता है कि जाति अपने साथ व्यक्ति की धारणा को वहन करती है; क्योंकि व्यक्ति के विना यह ज्ञेय नहीं है। यदि व्यक्ति के सन्दर्भ से अलग जाति का ज्ञान सम्भव नहीं है, तो इसे व्यक्ति के ज्ञान की शर्त नहीं माना जा सकता। व्यक्ति में पद की सामर्थ्य न होने के कारण पद व्यक्ति का अभिधान नहीं कर सकता। जाति भी इसका अर्थ नहीं हो सकती; क्योंकि व्यक्ति को हटाकर जाति का बोध सम्भव नहीं। इसका अर्थ यह होगा कि पद जाति अथवा व्यक्ति, किसी भी अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकता[1]।

इसलिए कुमारिल के अनुयायियों का तर्क है कि पद का मुख्यार्थ जाति है और व्यक्ति का प्रत्यायन लक्षणा द्वारा किया जाता है। जाति व्यक्ति में अन्तर्व्याप्त है। इसलिए व्यक्ति भी वैसे ही लक्ष्यार्थ है, जैसे 'नदी पर नगर है,' इस वाक्य में तट 'नदी' शब्द का लक्ष्यार्थ है।

लक्षणा के द्वारा व्यक्ति के प्रत्यायन का कथन इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि पदार्थों के बीच अन्वय भी इसी व्यापार के द्वारा ज्ञेय है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, वाक्य में पदों का अर्थ सैद्धान्तिक या व्यावहारिक महत्त्व से रहित कोई अमूर्त अन्वय नहीं है। अर्थों के मध्य सम्बन्ध एक ठोस और विशिष्ट तथ्य होना चाहिए। वस्तुतः वाक्यार्थ एक व्यवस्थित एकीभूत समग्रता है, जिसमें पदों के अर्थभूत तथ्य एकत्र संग्रथित पाए जाते हैं, और अन्वय की धारणा वस्तुतः एक अनुवर्ती चिन्तन है।

---

१. नन्वसौ न केवला प्रत्येतुं शक्यते। एवं तर्ह्यस्या अप्रतीतिः प्रसज्येत। व्यक्तिस्तावत्प्रत्यायकाभावान्न प्रतीयते। तस्यां चाप्रतीयमानायां न तया सह जातिः प्रत्येतुं शक्यते।

—न्या. र. मा., पृ. १२१.

यह एक निश्चित परिवेश से उद्भूत तार्किक निगमन है, जिसकी परिकल्पना मानवीय बुद्धि को अपनी सुविधा के लिए आवश्यक प्रतीत होती है। पदों से पृथक्कृत अन्वय का कोई महत्त्व या वास्तविक सत्ता है, यह संदेहास्पद है। यदि मूर्त-व्यक्ति को समझना हो, तो वह एकदम उसी वस्तुपरक परिवेश में समझा जा सकता है, जिसमें वह पाया जाता है। अतः यदि पदों से व्यक्तिगत तथ्यों को व्यक्त करना है, तो उनमें अन्वय के अभिधान की भी सामर्थ्य माननी होगी। इस सामर्थ्य को कुमारिल ने लक्षणा का नाम दिया है, जिसे भाषाशास्त्र के सभी आचार्यों और अध्येताओं ने एक भिन्न शक्ति के रूप में मान्यता दी है। इस सामर्थ्य की एक खास विशेषता यह है कि इसमें लक्ष्यार्थ के साथ पदों के सम्बन्ध के पूर्वज्ञान की पूर्वापेक्षा नहीं है, जबकि मुख्यार्थ की यह आवश्यक विशेषता है। यह अर्थ पृथग्भूत पदों के माध्यम से प्राप्य नहीं है और इसलिये कोई भी शब्दकोश, वह कितना ही व्यापक हो, इस लक्ष्यार्थ के प्रसंग में सहायक नहीं हो सकता। शब्दकोश में फिर भी हमें वे लाक्षणिक अर्थ मिल सकते हैं, जो चिरन्तन रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ का स्तर पा चुके हैं। 'इंग्लैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया', 'मुकदमा ताज और एक नागरिक के बीच है', 'कलिङ्ग साहसिक है,' इत्यादि वाक्य ऐसे लक्ष्यार्थों के सुपरिचित उदाहरण हैं, जिन्हें व्यवहार में लगभग मुख्यार्थ जैसा ही स्तर मिला हुआ है; किन्तु वाक्यों के अर्थों को या एकदम ठीक-ठीक कहें, उनमें पाए जाने वाले विविध नियम की पूर्ति करने वाले पदों के अर्थों को—प्रत्येक उदाहरण में नये सिरे से खोजना होता है। फिर भी, ये अर्थ यादृच्छिक नहीं हैं; अपितु पदों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से और पदार्थों द्वारा एक विशेष सामर्थ्य के माध्यम से प्रत्यायित किये जाते हैं, जो आलंकारिक प्रयोगों आदि के प्रसंग में परिकल्पित लक्षणा से भिन्न नहीं है[1]।

किन्तु कुमारिल के इस मत के विरुद्ध आपत्ति की गई है। व्यक्ति और उनके सम्बन्ध लक्षणा द्वारा व्यक्त कहे गए हैं; किन्तु हमारी जानकारी के अनुसार और विभिन्न दर्शनों के अनुयायियों द्वारा दी गई परिभाषा के अनुसार, लक्षणा का आश्रय तभी लिया जाता है, जब पदों के अर्थों का वाक्य में अन्वय उपपन्न न हो सके। लक्षणा का निमित्त वाक्यगत योग्यता का अभाव है और लक्ष्यार्थ का अनिवार्यतः मुख्यार्थ से एक निश्चित सम्बन्ध होता है और यह लक्ष्यार्थ ऐसा होना चाहिए, जो अपेक्षित वाक्यगत अन्वय में उपपन्न हो सके[2]; किन्तु कुमारिल तो स्वयं वाक्यार्थ को ही लक्षणा के अधीन बना देते हैं, यद्यपि मुख्य अर्थों के वाक्यगत अन्वय की अनुपपत्ति का संकेतमात्र भी नहीं है। उदाहरण के लिये हम यह वाक्य लें—'अंग्रेजों ने भारत में अपने

१. अत एव वाक्यार्थो लाक्षणिक इति मीमांसकाः। अभिहितार्थसम्बन्धादभिगम्यमानत्वात्।
—न्या. र. मा., पृ. १२५.

२. वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥—त. प्र., पृ. १५१-५२.

स्वत्व त्याग दिये हैं'। इस वाक्य का अर्थ बिल्कुल सीधा-सा है और मुख्य अर्थों के वाक्यान्वयन में कोई बाधा नहीं है। फिर भी कुमारिल यहाँ वाक्यार्थ के लिये लक्षणा का सहारा लेंगे। इसके अतिरिक्त, यहाँ लक्ष्यार्थ स्वयं वाक्यार्थ का अन्वय ही है और उस लक्ष्यार्थ का वाक्य में आगे अन्वय सम्भव नहीं है[१]। इस प्रकार प्रभाकर के अनुसार तो लक्षणा की आवश्यक शर्तें ही उपस्थित नहीं हैं। स्वयं कुमारिल की ही परिभाषा वाक्य के एकीभूत अर्थ पर लागू नहीं होती। कुमारिल के अनुसार, स्वीकृत प्रमाणों के साथ मुख्यार्थ का विरोध लक्षणा की आवश्यक शर्त है। लक्ष्यार्थ, मुख्यार्थ के साथ एक आवश्यक और अविच्छेद्य सम्बन्ध द्वारा मर्यादित होना चाहिए[२]। इस प्रकार, हर दृष्टि से लक्षणा की शर्तें अनुपस्थित होने पर भी यदि कहा जाए कि पदों के व्यष्टि अर्थों का समन्वय लक्षणा द्वारा संप्रेषित होता है, तो यह एक छद्म आवरण है और समस्या से बचने का पलायनवादी तरीका है।

इस आरोप के उत्तर में कुमारिल के अनुयायी कहते हैं कि लक्षणा को तार्किक अनुपपत्ति से उत्पन्न मानने वाली परिभाषा को हम उसके प्रकट अर्थ में नहीं ले सकते; क्योंकि ऐसा करने पर यह परिभाषा अनेक स्वीकृत उदाहरणों में अव्याप्त रहेगी। उदाहरण के लिये, 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओं से दही की रक्षा करना), इस वाक्य में मुख्य अर्थों में कोई तार्किक विरोध नहीं है। पदों का उनके मुख्य शाब्दिक अर्थों में अन्वय करने पर कोई तार्किक अनुपपत्ति नहीं होती। फिर भी यह लक्षणा का मान्य उदाहरण है; क्योंकि यदि हम केवल कौओं से दही की रक्षा करें और बिल्ली या कुत्तों आदि से उसे न बचाएँ, तो वक्ता के अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं होती। यहाँ 'काक' से तात्पर्य उन सभी अनिष्ट जन्तुवों से है, जो दही पर झपट सकते हैं, यह मुख्यार्थ न होकर लक्षणार्थ ही है। इस प्रकार मुख्यार्थ की अनुपपत्ति लक्ष्यार्थ की सार्वत्रिक शर्त नहीं है। वैदिक-साहित्य में भी हमें लक्षणा के ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणों से कोई विरोध नहीं है। उदाहरणार्थ 'उपसद् होमों को सम्पन्न करके एक मास तक अग्निहोत्र करे', इस वाक्य में 'अग्निहोत्र' शब्द नित्य सम्पादनीय अग्निहोत्र-कर्म के लिये प्रयुक्त न होकर एक अन्य वैदिक-कर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसे विधिसादृश्य के कारण वही नाम दे दिया गया है[३]। यहाँ तात्पर्य सुप्रसिद्ध अग्निहोत्र से नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें उपसद् होमों का कोई स्थान ही नहीं है। यहाँ मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणों से कोई तार्किक विरोध नहीं है; क्योंकि वैदिक-वाक्य की विषय-वस्तु उन प्रमाणों की परिधि

१. न च पदार्थैर्लक्षितायाः पदार्थानामन्वितावस्थायाः पुनरन्वयान्तरशालिता तेनेयं न लक्षणा।
—त. प्र., पृ. १५२.

२. मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥—वही.

३. 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहुती'ति श्रूयमाणत्वात् प्रसिद्धाग्निहोत्रे चोपसदामभावात्कर्मान्तरेऽग्निहोत्रशब्दः प्रसिद्धाग्निहोत्रसाधर्म्याल्लक्षणया वर्तते।—त. प्र. पृ. १५२.

में ही नहीं आती; तथापि यह लक्षणा का उदाहरण है। हम एक अन्य उदाहरण भी ले सकते हैं, 'अन्तरिक्ष में नक्षत्रों को देखकर मन्त्रों का उच्चारण करे' (नक्षत्राणि दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्), यहाँ नक्षत्रदर्शनविषयक सोपाधिक वाक्यांश को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वैसा करने पर ब्राह्मण का सन्ध्यानुष्ठान आकाश की निरभ्रता पर अवलम्बित होगा, जबकि यहाँ इसकी नित्यता अभिप्रेत है। इसलिए इसका अर्थ है 'सन्ध्याकाल में'–जो कि लक्षणार्थ है। लक्षणा की परिभाषा को व्यापक बनाने के लिए इसे इस प्रकार परिभाषित करना चाहिए : मुख्यार्थों के आधार पर वाक्य की प्रामाणिकता स्थापित न हो पाने पर लक्षणा का आश्रय लिया जाता है[1]। लक्षणा के सभी उदाहरण ऐसे होंगे, जहाँ मुख्यार्थ की योग्यता हो या न हो; किन्तु मुख्यार्थ की स्वीकृति अपरिहार्यरूप से वाक्यार्थ को अप्रामाणिक बना देती हो।

अब देखें कि यह परिभाषा एकीभूत वाक्यार्थ पर कहाँ तक लागू होती है। पदों के मुख्य अर्थ जातियाँ ही हैं और यदि वाक्य के पद इन्हीं का अभिधान करके विरत हो जाएँ, तो वाक्यार्थ की उत्पत्ति कदापि न हो सकेगी और इस प्रकार वाक्य का प्रयोग सर्वथा अनावश्यक और निरुद्देश्य होगा। मुख्यार्थ किसी सुसंगत निर्णय को उत्पन्न नहीं कर सकते। वाक्य में पदों का चुनाव एक प्रयोजन को दृष्टि में रखकर किया जाता है; वह प्रयोजन है : एक अन्वित समग्र अर्थ की अभिव्यक्ति और मुख्यार्थ इसके लिए सर्वथा अक्षम हैं। जहाँ तक लक्षणा को दूसरी शर्त, अर्थात् मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है, उसे हम भी अनिवार्य तत्त्व मानते हैं और वाक्यार्थ में वह अनुपस्थित नहीं है। वाक्यार्थ पदों के अर्थों का एकीकरण है, जिसमें मुख्य अर्थ अनुपपन्न हो जाते हैं। मुख्यार्थ तो जातियाँ हैं, जबकि वाक्यार्थ असंदिग्ध रूप से व्यक्ति और उनका सम्बन्ध है; किन्तु जाति व्यक्ति में मूर्त होती है और गृहीत सम्बन्ध मुख्यार्थ, अर्थात् जातियों; का न तो अतिक्रमण करता है, न लोप करता है। विशेषतः कुमारिल के दृष्टिकोण से तो यहाँ कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि जाति और व्यक्ति के बीच भेदाभेद सम्बन्ध है और इसलिए व्यक्तियों का सम्बन्ध—जो कि वाक्यार्थ है—जातियों के सम्बन्ध का स्वतः ही समावेश करता है। इस प्रकार वाक्यार्थ को लक्ष्यार्थ मानना सर्वथा औचित्यपूर्ण है[2]।

न्यायरत्नमाला में वाक्यार्थ प्रकरण के समापन में पार्थसारथि कहते हैं कि वाक्यार्थ का सीधा बोध न तो वाक्य और न ही व्यष्टि पदों द्वारा उत्पन्न होता है। वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति पदार्थों द्वारा लक्षणा की सहायता से की जाती है। यह पूर्णतया कुमारिल के पक्ष के अनुकूल है, जिनके अनुसार वाक्यार्थ की निष्पत्ति में पदों का कर्तृत्व नहीं है और इस अर्थ में इसे शाब्द नहीं कहा जा सकता; किन्तु

---

१. तस्मात्पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव लक्षणं लक्षणायाः।—त. प्र., पृ. १५३.

२. भट्टपादैश्च वाक्यार्थस्य सर्वत्र लाक्षणिकत्वस्वीकारात्।—त. प्र., पृ. १५५.

पदों के अर्थ साक्षात् शब्द से उत्पन्न होने के कारण शाब्द हैं और इन्हीं शाब्द अर्थों के माध्यम से उत्पन्न वाक्यार्थ के स्वरूप को शाब्द कहना अनुचित नहीं[1]। हम पहले एक स्थान पर कह चुके हैं कि यद्यपि पद प्रधानतः जाति को ही अपने वाच्यार्थ के रूप में अभिहित करते हैं, तथापि व्यष्टि पदों के अर्थों से निष्पन्न वाक्यार्थ की चरमावस्था में जातियों को आकार देने वाले व्यक्तियों का ग्रहण होता है और इसमें वाक्य में आने वाले सहचारी पद सहायक होते हैं। एक विशिष्ट सन्निधि में प्रयुक्त संघटक शब्दों पर यह निर्भरता ही शब्द को अनुमान आदि द्वारा अव्याख्येय ज्ञान का पृथक् एवं स्वतन्त्र प्रमाण मानने का कारण प्रस्तुत करती है[2]। पदार्थों से उत्पन्न होने वाले निर्णय के शाब्द-स्वरूप का प्रतिपादन प्रकटतः कुमारिल के स्पष्ट वचनों द्वारा अनुमोदित है।

किन्तु यह प्रतिपादन कुमारिल के मन में उपस्थित सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं करता। वैसे शाबरभाष्य के शब्दों से तो यही ध्वनित होता है कि वाक्यार्थ की प्रक्रिया की यह एकमात्र व्याख्या एवं संगति है। समस्या के इस पहलू का विवरण हमने कुमारिल के पक्ष का अध्ययन प्रारम्भ करते हुए दिया था। जयन्तभट्ट ने **न्यायमञ्जरी** में इस व्याख्या को अभिहितान्वयवादियों का सिद्धान्तपक्ष माना है और अभिहितान्वय-वाद की उनकी आलोचना की अकाट्यता और प्रासंगिकता इस तथ्य पर आधारित है कि इस मत में पदों और वाक्यार्थ का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष और जटिल बना दिया गया है[3]। **न्यायरत्नमाला** में पार्थसारथि कहते हैं कि पदार्थ ही वाक्यार्थ को साक्षात् उत्पन्न करते हैं और व्यष्टि पदों को वाक्यार्थ से केवल अप्रत्यक्ष रूप में, अर्थात् शब्द अर्थों के माध्यम से सम्बद्ध माना जा सकता है। पदों का वाक्यार्थ से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता[4]।

इस मत की कुमारिल के अनुयायियों द्वारा की गई प्रस्तुति की आलोचना करते हुए जयन्त ने कुमारिल के **श्लोकवार्तिक** के कुछ उद्धरणों की ओर संकेत किया है[5]।

---

१. नन्वेवमवसितव्यापारेषु पदेषु पश्चात्पदार्थेभ्यो गम्यमानोऽशाब्दः स्यादत आह········सति तेषां शाब्दत्वेन द्वारेणास्ति वाक्यार्थस्यापि शब्दप्रतिपाद्यत्वम्। —न्या. र., पृ. ९०९.

२. ········समभिव्याहृतपदकदम्बकस्मारितपदार्थानां परस्परान्वयप्रत्ययो लाक्षणिकः शाब्दश्चेति सर्वमवदातम्।—त. प्र., पृ. १५४.

३. अशाब्दत्वं च वाक्यार्थप्रतीतेरित्थमापतेत्।
व्यवधानमयुक्तं च साक्षाच्छाब्दत्वसम्भवे॥—न्या. म, पृ. ३६७.

४. अत्रापि हि तिरोहितेष्वेव पदेषु पदार्थानुसन्धानानन्तरमवगम्यमानस्य वाक्यार्थस्य पदार्था एव साक्षात्साधनम्, पदानि तु तद्द्वारेणैव साधनं न साक्षात्।—न्या. र. मा., पृ. १०५.

५. (क) न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेषु पदानि नः।
तन्मात्रावसितेष्वेषु पदार्थेभ्यः स गम्यते॥—श्लो. वा., ७.२२९.

ऐसा लगता है कि ये उद्धरण वाक्यार्थ के सर्वत्र स्वीकृत शाब्दस्वरूप की अधिक अकाट्य एवं युक्तियुक्त व्याख्या देते हैं। इन उद्धरणों पर टिप्पणियों में पार्थसारथि और जयन्त की व्याख्या एक ही है। यह विलक्षण-सी बात है कि जयन्त इस व्याख्या को अभिहितान्वयवाद की पारम्परिक व्याख्या नहीं मानते। ऐसा लगता है कि इन उद्धरणों पर टिप्पणी करते हुए जयन्त और पार्थसारथि ने जो व्याख्या दी है, उसकी परम्परानिष्ठता पर शंका करने का पर्याप्त औचित्य है।

कुमारिल ने एक लड़ाई वैयाकरणों से लड़ी है, जिसके अनुसार वाक्य एक अविभाज्य इकाई है और सीधे इसी इकाई से वाक्यार्थ व्युत्पन्न होता है। उन्होंने नैयायिकों का भी प्रतीकार किया है, जो मानते हैं कि यद्यपि वाक्य एक संघात है, जिसमें व्यष्टि पदों की महत्त्वपूर्ण निश्चित भूमिकाएँ हैं, तथापि वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति पदों या पदार्थों द्वारा न होकर वाक्य द्वारा ही होती है। कुमारिल ने वैयाकरण-मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि वाक्यार्थ क्रम में गृहीत पदार्थों से मूलतः भिन्न नहीं है। नैयायिकों के प्रतिवाद में वे वाक्य को घटक पदों से व्यतिरिक्त एक स्वतन्त्र सत्ता मानने की व्यर्थता सिद्ध करते हैं। कुमारिल मानते हैं कि पदों में वाक्यार्थ को व्यक्त करने की शक्ति है और यदि उन्होंने इस शक्ति को त्याग दिया होता; तो वाक्य की भूमिका के लिए अवसर हो सकता था। पदभूत शब्द वस्तुतः वाक्यार्थ का अभिधान नहीं करते, फिर भी उनमें इसकी निश्चित सामर्थ्य है। वाक्यार्थ लक्षणा द्वारा व्यक्त किया जाता है, जो निःसंदेह अर्थ में निहित होती है; किन्तु शब्दों का चुनाव और उनके सामंजस्य का क्रम स्वयं शब्दों के तात्पर्य के, अर्थात् इस बात के सूचक हैं कि वाक्यार्थ का ज्ञान कराये विना उनका व्यापार समाप्त नहीं होता। मूल बात यह, कि यदि पदों की परिणति केवल अपने-अपने अर्थों के सम्प्रेषण में ही हो, तो उनसे किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती। ये सभी अर्थ तो ज्ञात-तथ्य हैं और पहले से ही ज्ञात तथ्यों की वाक्य द्वारा अभिव्यक्ति पिष्टपेषण मात्र होगी। अतः पदों को व्यर्थता और पिष्टपेषण के दोष से बचाने के लिए उनका एक गहनतर प्रयोजन स्वीकार करना होगा और वह है वाक्यार्थ में उनकी परिणति। स्पष्ट है कि मुख्यार्थ की सामर्थ्य इसके लिए पर्याप्त नहीं। वह तो पृथक्-पृथक् अनन्वित अर्थों को व्यक्त करके कृतकार्य हो जाता है। पदों द्वारा अन्वयार्थ का सम्प्रेषण एक अन्य शक्ति के प्रभाव में होता है, जिसे 'तात्पर्य' का नाम दिया गया है। यह वाक्यार्थ के बोध और उसके शाब्द-स्वरूप की सिद्धि के लिए सीधे उत्तरदायी है। दुर्भाग्य से, कुमारिल और उनके टीकाकारों में हम अनिश्चय की प्रवृत्ति पाते हैं।

(ख) साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥—वही, ३४२-४३.

सम्भवतः शबरस्वामी के मूल वचनों के प्रति निष्ठा का प्रश्न इसके लिए उत्तरदायी है। शबरस्वामी ने इस तथ्य पर बल दिया है कि अभिधा का व्यापार मुख्यार्थ को व्यक्त करके समाप्त हो जाता है और वाक्यार्थ इस अर्थ के बाद व्यक्त होता है[1]। यहाँ किसी अन्य प्रभाव (तात्पर्य) के कार्यरत होने का हल्का-सा भी सकेत या सुझाव नहीं दिया है। शबर के परम्परावादी अनुयायियों ने इस नवीन व्यापार का कारण खोजने के प्रयास में लक्षणा का आश्रय लिया है, जिसकी अवस्थिति अर्थों में सीधे है और पदों में अप्रत्यक्ष-परम्परा से है। इस संज्ञातन्त्र के बचाव में चित्सुख और पार्थसारथि द्वारा दिये गए तर्कों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

यह बात कुछ उलझाने वाली लगती है कि एक ओर तो वाक्यार्थ की सामर्थ्य अर्थों में निहित मानकर इसे लक्षणा का नाम दिया गया है और दूसरी ओर इस सामर्थ्य को तात्पर्य कहा गया है, जिसका अधिष्ठान पदों में है। प्रकटतः विरोधी इन कथनों में सामंजस्य स्थापित करते हुए हम एक समाधान खोजने का प्रयास करेंगे। वाक्य के पदों का तात्पर्य एवं विवक्षा वाक्यार्थ के प्रति है और इसकी पूर्ति वाक्यार्थ के ज्ञान से होती है। हम इस वाक्यार्थ का कारण पदों के इस अपूर्व व्यापार एवं सामर्थ्य में खोज सकते हैं अथवा इस तात्पर्य की पूर्ति का साधन लक्षणा को मान सकते हैं, जो पदों का एक स्वीकृत व्यापार है। लक्षणा नाम की प्रासंगिकता के विवेचन में यह तथ्य सामने आया था कि सम्पूर्ण वाक्य द्वारा सम्प्रेषणीय अन्तिम अर्थ ही लक्षणा का आश्रय लेने का मूल कारण है। अतः हमारा यह कहना सर्वथा युक्तिपूर्ण होगा कि पदों का तात्पर्य वाक्यार्थ के प्रति है और इस तात्पर्य की सिद्धि तभी होती है, जब लक्षणा के माध्यम से वाक्यार्थ अभिव्यक्त हो। इस प्रस्तावित व्याख्या को इस तथ्य से भी बल मिलता है कि अभिहितान्वयवाद के परवर्ती विकास-क्रम में लक्षणा को मुख्यार्थ के बोध से नहीं; अपितु तात्पर्यार्थ की सिद्धि में बाधा से उत्पन्न माना गया है। चित्सुख द्वारा लक्षणा व तात्पर्य के दावों में समन्वय के लिये इसी व्याख्यान-पद्धति का चयन हमें और भी आश्वस्त करता है। चित्सुख का कहना है कि वाक्य में पद अपने-अपने अर्थों का अभिधान करते हैं और चूँकि ये अर्थ किसी निर्णय को, जो कि वाक्य का तात्पर्यार्थ है, सम्प्रेषित करने का प्रयोजन सम्पादित नहीं कर पाते, इसलिए पदार्थ अथवा अपने अर्थों की सहायता से पद, लक्षणा के माध्यम से अन्वितार्थ का अभिधान करते हैं। वस्तुतः मुख्यार्थ तो वाक्य के तात्पर्य की पूर्ति के लिए पदों के साधन एवं माध्यम हैं। यह अवधेय है कि चित्सुख लक्षणा को मुख्यार्थों का नहीं; अपितु पदों का व्यापार मानते हैं[2]। एक ही वस्तु, अर्थात् वाक्यार्थ, के लिए प्रकटतः दो शक्तियों की परिकल्पना से पैदा हुई गुत्थी का यही एकमात्र हल सुझाई देता है। अभिधा अथवा लक्षणा की भाँति तात्पर्य को पदों अथवा पदार्थों का

---

१. पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।—शा. भा., पृ. १७.

२. ....पदानि लक्षणया पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिपराणि।—त. प्र., पृ. १५४.

पृथक् व्यापार मानना उपयुक्त नहीं। इसे तो शब्द के अभिधा-व्यापार से भिन्न किसी अन्य व्यापार के आह्वान के निमित्त व प्रसंग के रूप में देखना चाहिए। अभिधा तो पहले ही मुख्यार्थ का अभिधान करके कृतकार्य हो चुकी है। इस अतिरिक्त व्यापार को लक्षणा का नाम दिया गया है और हम स्पष्ट कर चुके हैं कि इस नाम से इसे लक्षित करना एक स्वीकृत प्रवर्ग की अनधिकृत व्याप्ति नहीं है। हमारी व्याख्यान-पद्धति को वर्धमान द्वारा भाट्ट-पक्ष की प्रस्तुति से और भी अधिक समर्थन एवं बल मिलता है, यद्यपि वर्धमान ने न्याय-दर्शन का पक्षधर होने के नाते स्वाभाविक रूप से ही इस पक्ष का खण्डन किया है। वर्धमान ने भाट्ट-पक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत किया है : "पदों का तात्पर्य एवं प्रवृत्ति अभिहित अर्थों के वाक्यगत अन्वय के प्रति है; किन्तु क्योंकि यह तात्पर्य न तो अपनी एकाकी कर्तृता के द्वारा और न अभिधाशक्ति के द्वारा सिद्ध हो सकता है, अतः इसकी सिद्धि एक (समकक्ष) शाब्द-व्यापार के माध्यम से की जा सकती है। इस व्यापार को लक्षणा कहा गया है और इसके द्वारा पदार्थों का वाक्य में अन्वय प्रस्तुत किया जाता है। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ क्योंकि सम्बद्ध हैं, अतः लक्षणा की शर्त पूरी हो जाती है। दोनों व्यापारों, अर्थात् अभिधा एवं लक्षणा, में कोई विरोध भी नहीं है; क्योंकि मुख्य अर्थ लक्षणा द्वारा सम्प्रेषित अन्वय के साथ उसके विशेषणभूत निर्धारक के रूप में सम्बद्ध होते हैं[1]"। भाव यह है कि दोनों शाब्द-व्यापारों के विषय बिल्कुल भिन्न एवं स्पष्ट हैं। अभिधा-व्यापार मुख्य अर्थों को प्रस्तुत करता है; जो लक्षणा द्वारा प्रतिपाद्य अन्वय की सीमाएँ हैं। विरोध का हल्का-सा भी संकेत कहीं नहीं है; क्योंकि प्रथम व्यापार कच्चे माल की पूर्ति करता है और दूसरा वाक्यार्थ के आवश्यक उपादानों के रूप में उसका प्रयोग करके उससे तैयार वस्तुवों का निर्माण करता है। वास्तव में केवल वाक्यार्थ ही प्रामाणिक ज्ञान का स्तर रखता है; क्योंकि यह एक नवीन एवं पूर्णतः अज्ञात योगदान है। मुख्यार्थ पूर्वानुभूततथ्य होने के नाते इस स्तर को नहीं पा सकते; क्योंकि कुमारिल के अनुसार अपूर्वता इसकी मूलभूत शर्त है।

श्लोकवार्तिक, ७,२३० पर अपनी टीका में पार्थसारथि भी इस तर्क का अनुमोदन करते हैं; किन्तु तात्पर्य की बात करते समय वे उसे व्यापार कहते हैं[2]। हमारे विचार में, अभिधा-व्यापार की तुलना में तात्पर्य को व्यापार की संज्ञा देना अभिव्यक्ति की एक दुर्भाग्यपूर्ण शिथिलता है। यदि हम पार्थसारथि द्वारा प्रयुक्त इस अकुतोनिष्ठ वचन को इसके प्रकट अर्थ में लें और तात्पर्य को अभिधा के समकक्ष शाब्द-व्यापार का दर्जा दें, तो हम स्वयं को एक अंधेरी गली में फँसा देंगे। कुमारिल

---

१. नन्वन्वये पदानां तात्पर्यं तन्निर्वाहिका च वृत्तिः। न च स्वार्थसम्बन्धिनि स्वान्वये तात्पर्याल्लक्षणा, अन्वयविशेषणतया पदार्थोपस्थितश्च न वृत्तिद्वयविरोध इति वाच्यम्।
—न्या. कु. प्र., ३, पृ. ७६.

२. अतो यद्यप्यभिधाव्यापारः पदार्थेष्वेव पर्यवसितस्तथापि तात्पर्यव्यापृतेरपर्यवसितायाः…। न्या. र., पृ. ९०९.

और पार्थसारथि के वचनों के बल पर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि मुख्य अर्थों का वाक्य में अन्वय लक्षणा द्वारा व्यक्त किया जाता है। अब, एक ही फल के लिये दो व्यापारों की परिकल्पना निश्चित रूप से अवांछनीय उलझाव पैदा करेगी। वाक्यार्थ की निष्पत्ति में तात्पर्य एवं लक्षणा के योगदान की पृथक्-पृथक् मात्रा का निर्धारण हमारे लिये सम्भव नहीं। अतः अभिव्यक्ति एवं चिन्तन की स्पष्टता के हित में हमारा यही सुझाव है कि तात्पर्य को अभिधा या लक्षणा की भाँति शाब्द-व्यापार नहीं माना जा सकता; अपितु, इसे वाक्यार्थ को लक्ष्य करने वाले पदों के चुनाव की प्रेरक-शक्ति एवं मनोवैज्ञानिक अन्तःप्रेरणा का, अर्थात् पदों के वाक्य में अन्वय का, निमित्त मानना चाहिए। यह अन्तःप्रेरणा तब तक अशक्त रहेगी, जब तक इसे किसी स्वतन्त्र शाब्द-व्यापार द्वारा कार्यान्वित नहीं किया जाता और इस व्यापार को कुमारिल ने एवं पार्थसारथि-सहित उनके अनुयायियों ने, लक्षणा का नाम दिया है। हम शीघ्र ही न्याय-वैशेषिक मत का विवेचन करते समय यह स्पष्ट करेंगे कि भाट्ट-मत में तात्पर्य शाब्द-व्यापार नहीं है, यद्यपि प्राचीन न्याय-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि जयन्तभट्ट ने इसे यही स्थान दिया है।

यह खेद का विषय है कि आगे चलकर सुप्रतिष्ठित एवं प्रामाणिक आचार्यों तक ने कुमारिल के ग्रन्थों का प्रत्यक्ष अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं समझी और इस प्रतिष्ठित मत का मूल्यांकन सुने-सुनाए विवरणों और अनुमान के आधार पर कर दिया। मम्मट का **काव्यप्रकाश** अवश्य अपव्याख्यान के इस आरोप से मुक्त रखा जा सकता है; क्योंकि उनके संक्षिप्तता-प्रेम ने उन्हें कोई ऐसी बात नहीं कहने दी है, जो कुमारिल की आधारभूत स्थिति के विरुद्ध हो। वे वाक्य के अर्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं[1]। वे यह भी कहते हैं कि यह अर्थ, अर्थात् वाक्यार्थ, पदों द्वारा अभिहित नहीं होता[2]; किन्तु दुर्भाग्य से उनकी भाषा इतनी प्रच्छन्न है कि उससे इस मत की पेचीदगियों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वे लक्षणा के व्यापार पर मौन हैं। अभिहितान्वयवाद के विषय में उनका ज्ञान सम्भवतः अभिनवगुप्त के प्रस्तुतीकरण पर आधारित है, जिन्होंने इस मत को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया है, जो जयन्तभट्ट के मत से मेल खाता है। यह स्पष्ट है कि मम्मट ने कुमारिल के अभिहितान्वयवाद को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। दुर्भाग्यवश वे अभिहितान्वयवाद का नाम उस मत को दे रहे हैं, जो वास्तव में न्यायमत है। यह भूल आलङ्कारिकों के सभी परवर्ती ग्रन्थों में बनी हुई है। यह कहना बड़ा कष्टप्रद है कि काव्यशास्त्र के इस यशस्वी आचार्य की कुमारिल की कृति तक सीधी पहुँच नहीं थी। कुमारिल के अनुसार पद जाति का अभिधान करते हैं और व्यक्ति को लक्षणा द्वारा सूचित करते हैं। यह स्थिति मुकुल-भट्ट द्वारा अनुमोदित है[3]; किन्तु मम्मट ने इसका खण्डन किया है। मम्मट के

१. तात्पर्यार्थः..........वाक्यार्थः.......... । —का. प्र., पृ. २४.

२. ....अपदार्थोऽपि वाक्यार्थः.......... । —वही.

३. जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभावं न प्रतिपद्यत इति शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। तेनासौ लाक्षणिकी। —अ. वृ. मा., पृ. ४.

अनुसार व्यक्ति जाति के साथ अनिवार्यतया सम्बद्ध है और इसलिए शब्द द्वारा जाति का अभिधान किये जाने पर भी व्यक्ति का ग्रहण आक्षेप द्वारा होता है, लक्षणा द्वारा नहीं[1]। इस मत में कोई विसंगति नहीं हैं; क्योंकि मम्मट कुमारिल का अनुकरण करने के लिए बाध्य नहीं हैं; किन्तु विचित्र बात यह है कि कुमारिल द्वारा प्रवर्तित अभिहितान्वयवाद को प्रस्तुत करते समय यह सूत्र उनसे चूक गया है और वे यह नहीं देख सके हैं कि तात्पर्य एवं लक्षणा साथ-साथ चलते हैं। उनके ग्रन्थों की अतिसंक्षिप्तता तो उन्हें एक गम्भीर भूल से बचा लेती है; किन्तु उनके टीकाकारों ने अयथार्थ एवं भ्रामक टिप्पणियाँ की हैं। उदाहरणार्थ **काव्यप्रकाश** के विदग्ध टीकाकार गोविन्द ठक्कुर कहते हैं कि अभिहितान्वयवाद का समर्थन न्याय एवं अन्य सम्प्रदायों में हुआ है[2]। नागेश अपनी टीका में टिप्पणी करते हैं कि 'अन्य सम्प्रदायों' का तात्पर्य कुमारिल के अनुयायियों से है[3]। न्याय-मत की अपनी प्रस्तुति में हम स्पष्ट करेंगे कि अभिहितान्वयवाद का सिद्धान्त पूर्णरूप से कुमारिल एवं उनके सम्प्रदाय की रचना है और प्राचीन एवं नव्य-नैयायिकों, दोनों ने इसका खण्डन किया है। काव्यशास्त्र के अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं प्रमाणभूत आचार्यों की इस भ्रान्ति ने एक ऐसी अनर्थ-परम्परा को जन्म दिया है, जो आज तक भी असंशोधित और अप्रतिवादित रही है। विश्वनाथ ने तो और भी भयंकर घपला किया। वे कहते हैं कि अभिहितान्वय-वादियों ने तात्पर्य-नामक एक अन्य शब्दव्यापार की परिकल्पना की है और इसे वाक्यार्थ के सम्प्रेषण के लिए आवश्यक माना है। वे यह भी कहते हैं कि इस व्यापार का अधिष्ठान सम्पूर्ण वाक्य है[4]। हम आगे देखेंगे कि यह पक्ष वस्तुतः जयन्त का है, जिन्होंने कुमारिल से असहमति प्रकट की है। यदि विश्वनाथ इस मत को सीधे अभिहितान्वयवादियों के साथ न जोड़ते, तो इसमें कोई भी आपत्ति न थी। यह भ्रान्ति लगभग पारम्परिक हो गई। न्याय-मत एवं कुमारिल-मत असाध्य रूप से गड्डमड्ड हो गये। अभिहितान्वयवाद पर अपने इस विवेचन का समापन करते हुए हम इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि कुमारिल वाक्य को पदों से पृथक् कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते और प्रबल शब्दों में वे इस मत का खण्डन करते हैं कि वाक्य तात्पर्य-नामक एक नई शक्ति का वाहक है। यदि तात्पर्य को एक पृथक् शक्ति या व्यापार मान भी लें, तो यह एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्वीकृत वाक्य में नहीं; अपितु पदों के भीतर स्वतः निहित है।

---

१. ....जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते। —का. प्र., पृ. ४४.

२. केषुचिन्न्यायादिनयेषु। —का. प्र. प्र., पृ. २४.

३. आदिना भाट्टमीमांसकाः। —का. प्र. प्र. उ., पृ. २४.

४. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे॥

.........तात्पर्यं नाम वृत्तिस्तदर्थं च तात्पर्यार्थं तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वय-वादिनां मतम्। —सा. द., पृ. ७३.

३. नैयायिक-मत

जयन्तभट्ट ने **न्यायमञ्जरी** में कुमारिल के अभिहितान्वयवाद और प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद का विस्तार से निरूपण किया है। जैसा कि जयन्त का स्वभाव है, अन्त में इन मतों का खण्डन करने के बावजूद उन्होंने इन्हें इतनी स्पष्टता, प्रबलता, ओजस्विता और उत्साह के साथ प्रस्तुत किया है कि इन सम्प्रदायों का निष्ठावान् और परम्परावान् अनुयायी भी शायद इससे अधिक सक्षम प्रतिपादन न कर पाता। प्राभाकर-मत के दोषों और बाधाओं के विषय में वे मूलतः कुमारिल के अनुयायियों से सहमत हैं। अतः हम जयन्त के दृष्टिकोण से प्राभाकर-मत की नये सिरे से आचोलना नहीं करेंगे; क्योंकि इसमें अनिवार्यरूप से पहले कही हुई बातों की आवृत्ति होगी। प्रभाकर के इस कथन को जयन्त सर्वथा उचित मानते हैं कि शब्द विच्छिन्न अर्थों को व्यक्त नहीं करते; क्योंकि वैसा होने पर भाषा के प्रयोग का कोई अर्थ नहीं रहेगा। निश्चय ही, व्याकरण और कोश-ग्रन्थों के अतिरिक्त कहीं भी पद स्वतन्त्र नहीं होते और उनके अर्थों का बोध किसी अलंघ्य पार्थक्य या निजबद्धता में नहीं होता। यथार्थतः जीवित भाषा में पद एक दूसरे से संयुक्त होते हैं और उनके अर्थ परस्पर सम्बद्ध होते हैं। अतः पदों में अन्वय के सम्प्रेषण की सामर्थ्य होनी चाहिए। जयन्त के अनुसार जब प्रभाकर यह मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि पदों द्वारा संप्रेषित अन्वय प्रकृत्या केवल अमूर्त व सामान्य है, जो कि असंख्य सम्भावित अर्थों में से किसी भी, और प्रत्येक, के साथ जुड़ सकता है, तो वे मुख्यतः यह मान रहे हैं कि अन्वय का कोई व्यावहारिक फल नहीं है, जबकि अपने विलक्षण मत के प्रतिपादन में उन्होंने अन्वय पर ही बल दिया है। उदाहरण के लिए 'गो' शब्द किसी गुण एवं क्रिया से अन्वित माना जाता है; किन्तु यह 'कोई गुण या क्रिया' इतना अनिश्चित, या कहें कि इतना अधिक व्यापक है कि वह सभी सम्भव गुणों या क्रियाओं का समावेश कर सकता है। सभी गुणों या क्रियाओं के साथ अन्वय की सम्भावना, ज्ञात होने पर भी, निष्प्रयोजन है। यहाँ सभी के ज्ञान का अर्थ है: पूर्णतः अनभिज्ञता या अनिश्चय। अथाह जल का भण्डार होने पर भी समुद्र किसी प्यासे व्यक्ति के लिए मरुस्थल जैसा ही बेकार है। एक सम्भावित अन्वय के ज्ञान पर भरोसा रखने वाले प्रभाकर की स्थिति भी बिल्कुल ऐसी ही है, जबकि वह अन्वय सर्वथा अनिर्धारित है और किसी भी व प्रत्येक अर्थ या अवधारणा का समावेश करता है[1]।

जयन्त में यह स्वीकार करने की उदारता और ईमानदारी है कि वाक्यगत अन्वय को सीधे पदभूत शब्दों से व्युत्पन्न मानने में प्रभाकर ने एक मूलभूत प्रश्न को छुआ है। प्रभाकर का यह वाक्य यथार्थ है कि पदभूत शब्दों की कोई एकाकी स्थिति नहीं है और, कि वाक्यार्थ में उनके अर्थ आवश्यक रूप से परस्पर अन्तर्ग्रथित हैं;

---

१. न हि रसविदां पूर्णोऽप्यब्धिर्मेरोरतिरिच्यते सलिलकार्यानिष्पत्तेः, नियतगुणक्रियानुरक्त-स्वार्थप्रतिपादने तु गोशब्दस्य न हेतुमुत्पश्यामः। —न्या. म., १, पृ. ३६५.

किन्तु अनुभववादी होने के नाते प्रभाकर को प्रत्ययवादी भर्तृहरि के अतिवाद से बचना चाहिए (ऐसा जयन्त का कहना है); जो पदों की सत्यता को पूरी तरह नकारते हुए वाक्य को अविभाज्य इकाई मानकर चलते हैं। प्रभाकर सम्पूर्ण वाक्यार्थ के प्रति पदों के व्यक्तिशः योगदान को अनदेखा नहीं कर सकते। प्रभाकर का कहना है कि वे व्यष्टि अर्थों का तिरस्कार नहीं करते; किन्तु क्योंकि उनका बोध अन्वय के साथ ही होता है, अतः प्रत्येक अर्थ उस दूसरे अर्थ के साथ अन्वित रूप में गृहीत होना चाहिए, जिसका इससे आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि का सम्बन्ध है। जयन्त के अनुसार वाक्य में अर्थों के परस्पर सहयोग को देखकर यहाँ प्रभाकर को भ्रम हुआ है; किन्तु परिवर्तनीय तत्त्वों से अलग करके स्थिर तत्त्व का निर्धारण करने के लिए प्रभाकर को अन्वय (आवाप) एवं व्यतिरेक (उद्वाप) का युग्म नियम लागू करना चाहिए। पदों के साथ अन्वय में परिवर्तन अवश्यंभावी है; किन्तु अन्वय के परिवर्तन के बावजूद पदों के अर्थ अपरिवर्तित रहते हैं। एक ठोस उदाहरण लें : 'गौ को बाँध दो' और 'अश्व को बाँध दो', इन दोनों वाक्यों में संरचनागत अन्वय बिल्कुल एक ही हैं; किन्तु 'गौ' और 'अश्व' पदों के भेद के कारण वस्तुपरक अर्थ भिन्न हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अन्वय द्वारा सदैव मर्यादित होने पर भी पदार्थों की एक स्वतन्त्र स्थिति है। अपरिवर्तनीय अर्थों की अभिव्यक्ति अभिधान-शक्ति द्वारा होती है। हम देख चुके हैं कि निश्चित अन्वयात्मक संरचना में पदों की सामर्थ्य नहीं है; और अमूर्त अन्वय की दलील सर्वथा असंगत व निरर्थक है; किन्तु यह एक वास्तविकता है कि अन्वयविहीन अर्थ मस्तकविहीन प्रतिमाएँ हैं। अतः अर्थ में या शब्द में अन्वय का ज्ञान देने वाली कोई शक्ति अवश्य होनी चाहिए। कुमारिल यह शक्ति अर्थों में मानते हैं; किन्तु जैसा हम (जयन्त के अनुसार) अभी स्पष्ट करेंगे, यह अनुभवविरुद्ध है और स्वयं कुमारिल के स्वीकार—जो शायद किसी असावधान क्षण में हुआ है—के विपरीत है। इस शक्ति को पदों में मानने की हद तक जयन्त प्रभाकर से सहमत हैं; किन्तु वे यह भी याद दिलाते हैं कि अभिधा-शक्ति सदैव पहले जाने हुए 'प्रदत्त' तक सीमित होती है, जबकि वाक्य का अन्वयात्मक अर्थ सदैव ज्ञान का एक अपूर्व उदाहरण है। अतः अभिधा से भिन्न किसी अन्य शक्ति की परिकल्पना आवश्यक है। जयन्त इस शक्ति को तात्पर्यशक्ति का नाम देते हैं। उनके अनुसार, प्रभाकर इन दो युगपत् व्यापारवान् शक्तियों के बीच भेद नहीं कर सके हैं[1]।

जयन्त पदों की भूमिका से निरपेक्ष, मात्र विच्छिन्न पदार्थों की उपलब्धि को वाक्यार्थ का एकमात्र पूर्वभावी निमित्त नहीं मानते और यहाँ उनका कुमारिल से मतभेद है। वे यह भी नहीं मानते कि पद अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा वाक्यार्थ को सम्प्रेषित करते हैं; इस प्रकार वे प्रभाकर से भी असहमत हैं। दोनों मतों का पक्ष

---

१. नाभिधात्री शक्तिरन्वितविषया किं त्वन्वयव्यतिरेकावगतनिष्कृष्टस्वार्थविषयैव, तात्पर्यशक्तिस्तु तेषामन्वितावगमपर्यन्ता सहव्यापाराद् व्यापारस्य च तदीयस्य निराकाङ्क्षप्रत्ययोत्पादनपर्यन्तत्वात्। —न्या. म., १, पृ. ३७१.

प्रस्तुत करने के बाद वे अपना मत प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि वाक्य में पदभूत सभी शब्द वाक्यार्थ को उत्पन्न करने के लिये सहयोग करते हैं, जिसमें एक अर्थ अनिवार्यतः अन्य अर्थों से प्रधान होता है, जबकि अन्य अर्थ उसके विशेषणभूत निर्धारकों के रूप में उससे सम्बद्ध होते हैं। इस पक्ष को प्रभाकर का ही पक्ष मानना एक भ्रान्ति होगी। इसके अनुसार पद एक वाक्यार्थ को उत्पन्न करने के लिए सहयोग करते हैं, उसे अपने सामान्यतः स्वीकृत अर्थ के रूप में व्यक्त नहीं करते। अपनी अभिधा-शक्ति के माध्यम से पद ऐसे अर्थों को व्यक्त करते हैं, जो उनके साथ अनिवार्यतया संयुक्त हैं; किन्तु दूसरी सामर्थ्य, अर्थात् तात्पर्यशक्ति के द्वारा वे अन्वित अर्थ को जन्म देते हैं। यह शक्ति अभिधा-शक्ति के ताल-मेल में कार्य करती है और एक स्वतः पूर्ण वाक्यार्थ के उत्पन्न होने तक इसका व्यापार समाप्त नहीं होता।

कुमारिल के इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में, कि वाक्यगत अन्वय की शक्ति पदार्थों में है, जिनका व्यापार पदों के विरत हो जाने के बाद प्रारम्भ होता है। जयन्त का कहना है कि इससे पदार्थ स्वतन्त्र प्रमाण हो जाएगा और इससे उत्पन्न वाक्यार्थ को फिर शाब्द नहीं कहा जा सकेगा। कुमारिल ने स्वयं कहा है कि पदों में वाक्यार्थ के प्रति एक अनिवार्य तात्पर्य एवं प्रवृत्ति होती है, और कि व्यष्टि पदार्थ पदों और वाक्यार्थ के बीच घटित होने वाली अवान्तर स्थितियाँ हैं। इससे भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि व्यष्टि अर्थों की अभिव्यक्ति पदों का एक आवश्यक व्यापार है, जिसकी पूर्णता वाक्यार्थ में होती है और वाक्यार्थ को ही अन्तिम एवं वास्तविक अर्थ मानना चाहिए। न्याय-दर्शन की बिलकुल यही स्थिति है। इसके अनुसार पद करण हैं, पदों के अर्थों का बोध अवान्तर व्यापार है और वाक्यार्थ उनके परस्पर सहयोग द्वारा प्राप्त अन्तिम फल है।

शबरस्वामी ने कहा था कि पद अपने प्रचलित अर्थों का अभिधान करके विरत हो जाते हैं। इस पर जयन्त का कहना है कि वे और उनके अनुयायी यह नहीं देख सके हैं कि पदार्थों को व्यक्त करके अभिधा-व्यापार के विरत हो जाने पर भी वाक्य के मूल अभिप्राय के विषय में, जिसके विना वाक्य-प्रयोग का कोई औचित्य नहीं हो सकता, पद सक्रिय रहते हैं। शब्दों की तात्पर्यशक्ति के नाम से अभिहित इस अभिधानेतर व्यापार की सततता ही प्रतिफलित निर्णय को शाब्दस्वरूप प्रदान करती है। वाक्य का अर्थ सदैव एक ऐसी निजी विशिष्टता से युक्त निर्णय है, जिसमें अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से उत्पन्न निर्णय सहभागी नहीं हो सकते। यदि अनुमान से प्राप्त निष्कर्ष को आनुमानिक निर्णय कहने का कोई औचित्य है, तो वाक्यार्थ के ज्ञान को शाब्दनिर्णय के रूप में लक्षित करने का भी वही औचित्य है। अब, इस अनुभूत लक्ष्यीकरण का औचित्य तभी हो सकता है, जब वाक्यार्थ अपनी सत्ता के लिए वाक्य में पदभूत शब्दों के उपकार का ऋणी हो। कुमारिल की यह दलील वाक्छल-मात्र है कि शब्दों से अपने अप्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण वाक्यार्थ का इस प्रकार लक्षित किया जाना सर्वथा उचित है। यदि शब्दों से अप्रत्यक्ष उत्पत्ति वाक्यार्थ के

शाब्दस्वरूप का कारण हो सकती है तो, यह इसे श्रव्यता का लक्षण भी प्रदान कर सकती है; क्योंकि शब्द तो अन्ततः श्रव्य-ध्वनियाँ हैं। यदि पदार्थ को शाब्दनिर्णय के कारण का स्तर दिया जाए, तो यह प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द आदि से भिन्न एक अतिरिक्त प्रमाण की स्वीकृति होगी; किन्तु कुमारिल और उनके अनुयायी ऐसी हालत का सामना करना नहीं चाहेंगे[1]।

शबरस्वामी का एक अन्य तर्क है, जो कुमारिल द्वारा अनुमोदित है। किसी लम्बे वाक्य में पद विस्मृत हो जाते हैं; किन्तु वाक्यार्थ का बोध पदार्थों के माध्यम से हो जाता है। नैयायिक के मत में यह केवल हठधर्मिता है, निरपेक्षभाव से सत्य की खोज का प्रयास नहीं। इस कल्पित तथ्य से शबरस्वामी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पदों का वाक्यार्थ पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं होता। नैयायिक का मानना है कि ऐसी स्थिति में भी पदों का व्यापार पूर्णतया विरत नहीं होता। यह सही है कि किसी लम्बे वाक्य में व्यष्टि-पदों का सदैव स्पष्टतया बोध नहीं होता; किन्तु यह बात व्यष्टि पदार्थों के प्रसंग में भी उतनी ही सत्य है। वाक्य और उसका अर्थ संश्लेषात्मक तथ्य हैं, जहाँ अन्तिम वर्ण के उच्चारण और अन्तिम पदार्थ के बोध होने के समय पूर्ववर्ती अवयव, अर्थात् क्रमशः पद एवं पदार्थ, किसी हद तक साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। व्यक्तिगत अर्थों या पदों के अपने-अपने योगदान की अस्वीकृति वस्तुतः प्रत्ययवादी वैयाकरण के पक्ष की ओर हो प्रेरित करेगी, जो वाक्य और वाक्यार्थ की उपलब्धि को अविभाज्य एकात्मक सत्ताएँ मानता है। शबरस्वामी और नैयायिक समान रूप से यह मानते हैं कि वाक्य और उसका अर्थ वैयक्तिक घटकों के योगदान से निर्मित मिली-जुली संश्लेषात्मक इकाई हैं[2]।

शबरस्वामी ने इस तथ्य पर भी विशेष-रूप से बल दिया है कि श्रोता की अनवधानता के कारण यदि किसी पद का अर्थ छूट जाता है, तो वाक्य के अर्थ का ग्रहण नहीं हो पाता। वे इस तथ्य का उपयोग अपने इस पक्ष के समर्थन में करते हैं कि स्वयं पदार्थ अपने जनक पदों की सहायता के विना ही वाक्यार्थ को उत्पन्न करते हैं। नैयायिक का कहना है कि यहाँ एक अतिसामान्य तथ्य पर ही अनावश्यक बल दिया गया है। यह सत्य है कि कोई भी पदार्थ ध्यान से ओझल होने पर वाक्यार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वाक्यार्थ तो इन अर्थों के अन्वय की उपलब्धि में ही निहित है। अन्वित के ज्ञान के विना अन्वय का ज्ञान किस प्रकार सम्भव है? यह तथ्य तो स्वतः ही स्पष्ट है; किन्तु इसका मीमांसक के मुख्य पक्ष से, जिसमें पदों से निरपेक्ष केवल पदार्थों को ही महत्त्वपूर्ण माना गया है, कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वाक्यार्थ की उत्पत्ति में पदों की भूमिका के विरुद्ध प्रमाण नहीं बन

१. तदिदं सप्तमं प्रमाणमवतरति पदार्था नामेति। —न्या. म., पृ. ३५९.
२. यदपि चिरतिरोहितवर्णप्रबन्धानुसन्धानं दुर्घटमिति कथितं तदपि न चारु, कयाचित्कल्पनया वर्णानामिव पदबुद्धौ पदानामपि वाक्यबुद्धौ उपारोहसम्भवात्। —न्या. म. १, पृ. ३५८.

सकता। पदार्थों और वाक्यार्थ के बीच अन्वय और व्यतिरेक की व्याप्ति के जिस नियम पर शबरस्वामी ने इतना बल दिया है, उसे नैयायिक भी मानता है; किन्तु वह मीमांसक का ध्यान इस ओर दिलाता है कि पदों और वाक्यार्थ के बीच भी यह नियम सक्रिय है। हम देखते हैं कि श्रोता का ध्यान किसी अन्य दिशा में चले जाने पर वह वक्ता से अपने शब्दों का पुनः उच्चारण करने के लिये आग्रह करता है। वह बतलाता है कि दूसरी ओर ध्यान आकृष्ट हो जाने के कारण वह वक्ता के शब्दों को नहीं सुन सका और इसलिये उसके द्वारा उच्चरित वाक्य का अर्थ नहीं समझ सका। इससे स्पष्ट है कि पदों का ज्ञान भी उतना ही अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण है, जितना पदार्थ का। यदि स्थिति यह होती कि श्रोता को पदों का तो स्मरण है; किन्तु अर्थों का ग्रहण नहीं हुआ, तो वह पुनर्विचार के उपरान्त अर्थों का ग्रहण कर लेता और वाक्य की पुनरावृत्ति का आग्रह न करता। यदि उच्चरित पद उसके लिये अपरिचित होते, तो वह उनके अर्थों का स्पष्टीकरण माँगता। अतः वाक्यार्थ की उपलब्धि के लिये श्रोता के मस्तिष्क में पद और अर्थ दोनों की ही उपस्थिति आवश्यक है; किन्तु या तो असावधानी के कारण अथवा अपने मत के प्रति पक्षपात के कारण शबरस्वामी ने एक ही प्रकार के निमित्त पर जोर दिया है और दूसरे की उपेक्षा कर दी है[1]।

शबरस्वामी और कुमारिल ने कुछ ऐसी स्थितियों की ओर संकेत किया है, जहाँ पदों की पूर्वोपस्थिति के विना, अवधारणाओं की प्रस्तुति होने भर से निर्णय भी प्रस्तुत हो जाता है। दौड़ते हुए घोड़े के उदाहरण की व्याख्या हम भाट्टमत का प्रतिपादन करते समय कर चुके हैं। इस उदाहरण में यह बतलाया गया है कि श्वेत आकृति, टापों की ध्वनि और घोड़े की हिनहिनाहट के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के अनन्तर यह निर्णय उभरता है कि 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है'। मीमांसकों ने इस स्थिति का उपयोग अपने पक्ष के समर्थन में किया है। वे इसी प्रकार अनुमान इत्यादि प्रमाणान्तरों से उत्पन्न निर्णयों के आधार पर अपने उदाहरणों में वृद्धि कर सकते हैं। वे जो भी करें, इस प्रसंग में यही कहना पर्याप्त है कि कोई भी मत केवल शाब्दनिर्णय को ही निर्णय मानने की भूल नहीं करता। दौड़ते हुए अश्व का यह विशेष उदाहरण अनुमान का सीधा-सा उदाहरण है। प्राभाकर-मत के अनुयायी इसका निर्देश कर चुके हैं और नैयायिक उनके निष्कर्ष से सहमत हैं[2]।

१. यदप्युक्तम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थनिमित्तकत्वं वाक्यार्थस्यावगम्यते इति तत्र पदार्थसंसर्गस्वभावत्वाद्वाक्यार्थस्य सत्यं तत्पूर्वकत्वमिष्यत एव, वाक्यार्थप्रतिपत्तेस्तु शब्दव्यापारानुपरमात्। मानसे चापचारे सति पदानामपि ग्रहणं नास्त्येव; यतः क्षणान्तरे समाहितचेतास्स वक्ति—'नाहमेतदश्रौषमन्यत्र मे मनोऽभूत् पुनर्ब्रूहि' इति। इतरथा हि पदानि स्मृत्वा तदर्थमेवावगच्छेन्न पुनः पृच्छेत्। तस्मात्पदार्थानां ग्रहणमेव तत्र वाक्यार्थावगमे निमित्तम्। —न्या. म., १ पृ. ३५९.

२. यदपि पश्यतः श्वेतिमरूपमिति, तदपि न किञ्चित्, किं प्रत्यक्षेण शुक्लो गौर्गच्छन्न दृश्यते, स किं शुक्लो गौर्गच्छतीति वाक्यस्यार्थो न भवति, प्रत्यक्षप्रतिभासात्तु प्रत्यक्षार्थं एवासौ

न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयन ने कहा है कि सही है कि अवधारणाएँ चाहे शाब्द हों या अन्य प्रमाणों से प्राप्त हों, उनमें एक निर्णय के रूप में संहत होने की प्रवृत्ति है; किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शाब्द-अवधारणाएँ (अर्थात् पदार्थ) पदों से स्वतन्त्र रूप में वाक्यार्थ की कारण हैं। शाब्द-अवधारणाएँ जब अतीत या अनागत घटनाओं का निर्देश करती हैं, तो उनमें कारणता सम्भव नहीं; क्योंकि अतीत समाप्त हो चुका है और अनागत की अभी सत्ता ही नहीं है; किन्तु पदार्थभूत अवधारणाएँ अनिवार्यतः वर्तमान 'प्रदत्त' तक सीमित नहीं हैं। अतीत या अनागत घटनाओं का निर्देश करते समय भी वे वाक्यार्थ को उत्पन्न करती हैं; किन्तु ये अवधारणाएँ वाक्यार्थ का प्रयोजक-कारण नहीं हो सकतीं; क्योंकि अविद्यमान तथ्यों के लिए किसी प्रकार की कारण-सामर्थ्य का कथन नहीं हो सकता। जब उनमें कारणता ही सम्भव नहीं, तो फिर मीमांसक उन्हें ज्ञान के करण का स्तर कैसे दे सकता है? करण तो आवश्यक रूप से कारणता का ही एक विशेषीकृत रूप है। मीमांसक एक भी ऐसा उदाहरण नहीं दे सकते, जहाँ किसी स्वीकृत प्रमाण के साहाय्य के विना शुद्ध अवधारणाएँ एक निर्णय के रूप में संयुक्त हों और निर्णय यथार्थ-ज्ञान का उदाहरण हो। अप्रामाणिक अथवा संदिग्ध प्रामाणिकता वाले ज्ञान में अवधारणाओं के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की उपस्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः ऐसे स्थलों में निर्णय केवल अवधारणाओं का ही परिणाम नहीं है। दौड़ते हुए अश्व के उदाहरण में निर्णय अनुमान द्वारा प्राप्त होता है। काव्य-रचनाओं में निर्मित वाक्य भले ही किसी ठोस भौतिक सत्य के वाहक न हों; किन्तु वहाँ कल्पना द्वारा भावों का आह्वान किया जाता है और निर्णय की रचना मन द्वारा कवि-कल्पना के सहयोग से की जाती है। यहाँ भी ज्ञान का एक स्वीकृत करण, अर्थात् मन सक्रिय है। इससे स्पष्ट है कि अवधारणाएँ अपने आप में, किसी संज्ञानात्मक करण के सहयोग के विना प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक, किसी भी प्रकार का निर्णय प्रस्तुत नहीं कर सकतीं और इससे सिद्ध होता है कि पदार्थ कदापि ज्ञान के करण का स्तर नहीं पा सकते। अतः वाक्यार्थ को ही परिणाम मानना उपयुक्त है और शब्द को ही अधिकांश दार्शनिकों ने ज्ञान के करण का स्तर दिया है[1]।

इसके अतिरिक्त, ज्ञान के करण का मूलभूत लक्षण भी पदार्थ में नहीं है। संज्ञानात्मक इन्द्रियज्ञान का करण है। करण वह कारण है, जो अवान्तर व्यापार के

न वाक्यार्थ इत्युच्यते। एवं श्वेतोऽश्वो धावतीत्यानुमानिकोऽयं पर्वतेऽग्निरितिवद् वाक्यश्रवणात्तु विना न वाक्यार्थो भवितुमर्हति।—वही.

१. तस्मात्प्रकारान्तरेण संसर्गप्रत्ययो भवतु मा वा, पदार्थानामाकाङ्क्षादिमत्त्वे सति अभिहितानामवश्यमन्वय इति कुतोऽतिप्रसङ्गः। न चैवं सति पदार्था एव करणम्, तेषामनागतादिरूपतया कारकत्वानुपपत्तौ तद्विशेषस्य कारणत्वस्यायोगात्। तत्संसर्गे प्रमाणान्तरासंकीर्णोदाहरणाभावाच्च। —न्या० कु० ३, पृ० ७७.

माध्यम से कार्य को उत्पन्न करे। स्पष्ट तौर पर यह कहें कि यह तुरन्त बाद कार्य को उत्पन्न करने वाले व्यापार को उत्पन्न करके अन्तिम कार्य के उत्पादन में उपयोगी होता है। कुल्हाड़ी वृक्ष के कटने में करण है; किन्तु यह करण तभी बनती है, जब इसे क्रिया से अनुप्राणित किया जाए, अर्थात् जब लकड़हारे द्वारा वृक्ष पर इससे प्रहार किया जाए। निष्क्रिय कुल्हाड़ी तो इस कार्य को नहीं कर सकती। अतः करण सदैव वह सत्ता है, जो किसी व्यापार को कार्य की अव्यवहित पूर्व अवस्था के रूप में उत्पन्न करे। वाक्यार्थ के प्रसंग में, पदार्थों का बोध अव्यवहित पूर्व में रहता है और इन दोनों के मध्य कोई भी व्यापार नहीं होता। यदि करण की परिभाषा का अनुगमन किया जाए, तो पदार्थों को वाक्यार्थ का करण नहीं माना जा सकता। उस परिभाषा के अनुसार यह स्तर केवल पदों को दिया जा सकता है। पद पदार्थों का अभिधान करते हैं और यह अभिधान-क्रिया वाक्यार्थ को उत्पन्न करती है. इसलिए पद ही वाक्यार्थ के करण हैं। दूसरे शब्दों में, पद इसलिये करण हैं; क्योंकि वे अर्थाभिधान के रूप में अवान्तर-व्यापार को उत्पन्न करके उसके माध्यम से वाक्यार्थ को उत्पन्न करते हैं। अव्यवहित पूर्ववर्ती को वाक्यार्थ का करण मानने का अर्थ है—करण शब्द के प्रसिद्ध अर्थ का त्याग। यह नहीं कहा जा सकता कि व्यापार कारण और कार्य के मध्य व्यवधान है और इस प्रकार कारण को उसके कारणात्मक स्वरूप से वञ्चित करता है। व्यापार कारण द्वारा कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित अनिवार्य-वृत्ति है। यह कारण में उसके सत् के अंगभूत अंश के रूप में समवेत रहता है और इसलिए इसे व्यवधानकारक नहीं माना जा सकता[1]।

इसके अतिरिक्त भाषा सीखने की प्रारम्भिक अवस्था में बालक वाक्य के उच्चारण के तुरन्त बाद आदिष्ट व्यक्ति को क्रियावान् होते हुए देखता है। इसी क्रिया से वह वाक्यार्थ के ज्ञान का अनुमान करता है। वाक्यार्थ के इस ज्ञान से पूर्व वाक्य का और पदार्थों का ज्ञान होता है। अब, कारणता पदों में है या पदार्थों में? इस सन्देह का निराकरण इस प्रकार से हो जाता है कि पदों की प्रथमता के आधार पर पदों को ही वाक्यार्थ का कारण मानना चाहिए और फिर यह भी अवेक्षणीय है कि वाक्य में पदों की एक विशिष्ट सन्निधि ही पदार्थों के अभिधान के माध्यम से वाक्यार्थ को उत्पन्न कर सकती है। यदि केवल पदार्थ वाक्यार्थ को उत्पन्न करने में सक्षम होते, तो वे सन्निधिविशेष की अपेक्षा किये विना भी उसे उत्पन्न कर सकते थे। किसी विभक्तिप्रधान भाषा में, जहाँ अर्थों के परिवर्तित स्तर का अभिधान करने के लिए संज्ञाओं और क्रियाओं में रूपगत परिवर्तन होता है, मात्र अर्थों का कथन वाक्यार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, 'देवदत्तः मामादिशत्' (देवदत्त ने मुझे आदेश दिया) एक वाक्य है, जिसके अवयवार्थों का कथन इस प्रकार किया जा सकता है: कर्तृकारक में देवदत्त, कर्मकारकयुक्त 'माम्' सर्वनाम,

१. पदानां तु पूर्वभावनियमेन पदार्थस्मरणावान्तरव्यापारवत्तया तदुपपत्तेः, व्यापारस्याव्यवधायकत्वात्। —न्या. कु., ३, पृ. ७७.

भूतकालिक आदेश की क्रिया। सभी अर्थ पदों द्वारा अभिहित हैं; किन्तु वाक्यार्थ फिर भी उत्पन्न नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि केवल मात्र अर्थ वाक्यार्थ के लिये उत्तरदायी नहीं हैं। वाक्यार्थ केवल उसी स्थिति में उत्पन्न हो सकता है, जब ये सभी अर्थ पदों द्वारा एक विशेष क्रम एवं सन्निधि में अभिहित हों[1]। यदि कहें कि इस विन्यास की आवश्यकता अर्थों की परस्पर आकांक्षा और उनके सम्बन्ध को अभिहित करने के लिये है, तो भी वाक्यार्थ के सहयोगी तत्त्व के रूप में पदों की सामर्थ्य को स्वीकार करना होगा। नैयायिक इस तथ्य को निर्णायक मानता है, यद्यपि वह पदार्थों या वाक्य में प्रयुक्त पदों में से किसी की भी भूमिका को उपेक्षित नहीं करता। इस मत की यह विशेषता है कि यह वाक्यार्थ के शाब्दस्वरूप को भी भलीभाँति ध्यान में रखता है, जबकि भाट्टमत ने शब्दजाल द्वारा इसकी यथाकथंचित् व्याख्या करने का प्रयास किया है।

अन्त में, नैयायिक वाक्यार्थ के कारण के रूप में लक्षणा की प्राक्कल्पना पर आपत्ति करता है। वह उन सभी तर्कों का खण्डन या अनुमोदन करने की आवश्यकता नहीं समझता, जो भाट्टमत के समर्थकों ने लक्षणा के संज्ञातन्त्र की उपयुक्तता और औचित्य के समर्थन में दिये हैं। उसके विचार में ये तर्क वैदग्ध्यपूर्ण तो हैं; किन्तु प्रत्यायक नहीं हैं। ये तर्क तभी सफल हो सकते हैं, जब लक्षणा की सभी मूलभूत विशेषताएँ विद्यमान हों। वैसे लक्षणा भी केवल मुख्य शक्ति का विस्तार ही है और दोनों ही अपने तार्किक मूल्य की दृष्टि से एक ही प्रकृति के सहभागी हैं। दोनों ही शक्तियों का व्यापार उन्हीं तथ्यों के विषय में होता है, जो अन्य स्रोतों से पूर्वतः ज्ञात हों। इसलिए स्वरूपतः दोनों ही ज्ञापक हैं, और इनका कोई सृजनात्मक कार्य नहीं है। पदार्थ कोई नई सूचना नहीं देते और इसलिए वे मानवीय ज्ञान के भण्डार में नया कुछ नहीं जोड़ते। लक्षणा का कोई भी उदाहरण लें, जैसे : 'नदी पर एक नगर है'। यहाँ नदी का लक्ष्यार्थ 'नदी तट' है, जो पहले से ज्ञात है। तट को न जानने वाला व्यक्ति लक्ष्यार्थ को नहीं समझ सकेगा; किन्तु वाक्यार्थ सदैव किसी नवीन निर्णय को प्रस्तुत करता है। तार्किक रूप से संगत होने के लिए वाक्यार्थ वस्तुतः एक निर्णय होना चाहिए। इसी को दूसरे ढंग से कहें कि तार्किक रूप से संगत होने के लिए वाक्य वस्तुतः तर्कवाक्य (Proposition) होना चाहिए। निश्चय ही, न तो नैयायिक और न भाट्ट ही विश्लेषणात्मक निर्णयों (Analytical Judgments) एवं विश्लेषणात्मक वाक्यों की सम्भावना को अस्वीकार करते हैं; किन्तु उनका तार्किक

१. अपि च व्युत्पत्तिकाले प्रयोजकवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं प्रयोज्यव्यापारदर्शनादन्वितज्ञानोपपत्त्यर्थमन्वितबोधकत्वं शब्दस्य गृह्यते। तदत्र तन्निर्वाहार्थमर्थोपस्थितिरपि सहकारिणी कल्प्यते इति न तया शब्दस्यान्यथासिद्धिरिति शब्दतदर्थयोरुपस्थितयोरन्वयबोधात् कुत्रान्वयज्ञानशक्तत्वमिति संशये प्राथम्याच्छब्दानामेव कारणत्वमवधारयति। किञ्चाग्निः करणमोदनः कर्मता पाकः कर्तुरिष्टसाधनमिति ज्ञानेऽप्यग्निनौदनं पचेतेत्यत्रेव कुतो नान्वयबोधः ? तावत्पदार्थोपस्थितेरविशेषात्। —न्या. कु. प्र., ३, पृ. ८०.

मूल्य केवल पराश्रित एवं अमौलिक है। अतः विश्लेषणात्मक वाक्यों को छोड़कर, वास्तविक तर्कवाक्य द्वारा प्रस्तुत ज्ञान सदैव नवीन एवं अपूर्व होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसे अज्ञात अर्थ के विषय में अभिधा या लक्षणा का व्यापार सम्भव है? हम देख चुके हैं कि अभिधा और लक्षणा प्रकृति से सदैव ज्ञापक होती हैं, वह भी पूर्वज्ञात तथ्यों की। इसीलिए भाट्ट-मत की प्राक्कल्पना की सहजता और लाघव के बावजूद नैयायिक उससे अरुचि प्रकट करता है। लक्षणा को पूर्वतः अज्ञात अर्थ का वाहक मानकर एक सृजनात्मक व्यापार बना देना और इस प्रकार व्यवहारतः इसे प्रमा के करण का स्वरूप दे देना किसी पद को ऐसे अर्थ में प्रयुक्त करना है, जो सर्वतो-मान्य नहीं है। यदि अब भी भाट्ट-मीमांसक वाक्यार्थ को लक्ष्यार्थ कहने का आग्रह करें, तो वह एक सुप्रसिद्ध पद को बिल्कुल नया अर्थ देने का दोषी होगा। ऐसा मानने में व्यवहारतः उसकी उपलब्धि है—मात्र एक प्रतीकात्मक लाघव, जिसकी कीमत है जबर्दस्त सांकर्य। वाक्य के अर्थ और पद के लाक्षणिक अर्थ के बीच जो मूलभूत भेद है, उससे भाट्ट-मीमांसक अवगत हैं; किन्तु प्राभाकरों के प्रति, जो वाक्य के सदस्यों के रूप में पदों को वाक्यार्थ का कारण ठहराते हैं, अपने द्वेष के कारण वह इस आधारभूत भेद की उपेक्षा कर देता है। निःसन्देह प्राभाकरों ने अभिधा को एक अज्ञात अर्थ के अभिधान में समर्थ मानने की भूल की है। कुमारिल के मत में केवल यही भेद है कि वे यह सामर्थ्य लक्ष्यार्थ में मानते हैं। दोनों ही सुप्रतिष्ठित तार्किक धारणाओं के उच्छेद के दोषी हैं; क्योंकि मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ अनिवार्यतः उन तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं, जो स्वतन्त्र रूप से अन्य प्रमाणों से पहले ही ज्ञात हों। यह बात भुला दी गई है कि लक्ष्यार्थ सदैव किसी अन्य अभिव्यक्ति का मुख्यार्थ होता है, जबकि वाक्यार्थ किसी भी पद का अर्थ ही नहीं हो सकता, मुख्यार्थ होने का तो प्रश्न ही भिन्न है।

इसलिए वर्धमान का निष्कर्ष यह है कि पद में वाक्यार्थ को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है और, कि यह सामर्थ्य वाक्यार्थ के ज्ञान से पूर्व व्यक्त नहीं हो सकती। शाब्द-सामर्थ्य एवं अर्थ के बीच के सम्बन्ध की अनुभवपूर्व प्रत्याशा नहीं हो सकती। इसे वाक्य द्वारा उत्पन्न वाक्यार्थ से निगमित किया जा सकता है। कोई अन्य कारण न भी हो, तो भी कम से कम इस विचार से ही यह सामर्थ्य अभिधा और लक्षणा से भिन्न मानी जानी चाहिए कि इसके द्वारा सम्प्रेषित अर्थ या ज्ञान अपूर्वज्ञात तथ्य हैं। यह सामर्थ्य ज्ञापक न होकर सृजनात्मक है। जयन्त इसे तात्पर्यशक्ति के नाम से अभिहित करते हैं, जबकि नव्य-नैयायिकों ने इसे संसर्गमर्यादा कहा है। दूसरे शब्दों में, यह शक्ति अभिधा और लक्षणा से सर्वथा भिन्न है और ये सभी शक्तियाँ अर्थों में नहीं, अपितु पदों में निहित हैं।

संक्षेप में : इन तीनों मतों के परस्पर भेदों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि ये अत्यन्त सूक्ष्म भेद हैं, जो किसी तटस्थ समीक्षक को केवल बलाघात के भेद मालूम होंगे। प्रभाकर मानते हैं कि पदों में अवश्य ही वाक्यार्थ को

उत्पन्न करने की सामर्थ्य है; क्योंकि, (१) वाक्यार्थ पदों के अनन्तर उत्पन्न होता है और, (२) पद केवल वाक्य के सदस्यों के रूप में ही अर्थवान् हैं। ये दोनों तथ्य मिलकर अन्विताार्थ को पदों से सम्बद्ध मानने के लिए उन्हें प्रेरित करते हैं। पदों में इस अर्थ की सामर्थ्य वे सर्वस्वीकृत अभिधाशक्ति के माध्यम से मानते हैं; किन्तु अन्वितार्थ में पदों की सामर्थ्य पर बल देते हुए भो वे परिस्थितिवश यह मानने के लिए बाध्य हैं कि यह अभिहित अन्वय अपनी प्रकृति में अत्यन्त सामान्य है, जिसे वाक्य के अन्य पदों द्वारा निर्धारित एवं विशेषीकृत किया जाता है। अर्थों का सही बोध जिन विशिष्ट सम्बन्धों में होता है, उनका अवधारण वाक्य में पदों के घटित हुए विना कदापि नहीं हो सकता। इस सीमा तक प्रभाकर को यह मानना पड़ता है कि वाक्य के सदस्यभूत पदों के वास्तविक अर्थ नवीन तथ्य हैं। इस प्रकार उनका यह कथन कसौटी पर खरा नहीं उतरता कि मुख्यार्थ सभी अपेक्षाओं की पूर्ति कर देता है। फिर वाक्य के ज्ञान एवं वाक्यार्थ के बीच शुद्ध अनन्वित अर्थों की स्मृति को स्वीकार करना भाट्टमत के समक्ष वस्तुतः आत्मसमर्पण है। प्रभाकर का मत इन कुछ वाक्यों में आ जाता है : पद अनुभवपूर्व रूप में अन्वययुक्त अर्थों का अभिधान करते हैं; किन्तु यह अन्वय इतना अधिक सामान्य और अनिश्चित है कि व्यवहार में इसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। विशेष अन्वय केवल समग्र वाक्य से समझा जा सकता है। वाक्य के ज्ञान एवं वाक्यार्थ के मध्य में पद शुद्ध अनन्वित अर्थों की स्मृति उत्पन्न करते हैं। भाट्टमत के अनुसार, पद अनन्वित अर्थों का अभिधान करते हैं और ये अर्थ, जहाँ तक इनकी अन्तर्वस्तु का प्रश्न है, एक अकथनीय शक्ति के माध्यम से संसर्गात्मक वाक्यार्थ को जन्म देते हैं। शुद्ध अर्थों के अभिधान—जैसा कि कुमारिल ने माना है—और इन अर्थों के स्मरण—जैसा प्राभाकर स्वीकार करते हैं—के बीच कोई तात्त्विक भेद नहीं प्रतीत होता। दोनों मतों के बीच भेद वाक्यगत अन्वय के माध्यम की अवधारणा में है। प्रभाकर पदों को, और कुमारिल पदार्थों को माध्यम मानते हैं। प्रभाकर का मत हमारी मनोवैज्ञानिक धारणा से मेल खाता है कि वाक्य द्वारा उत्पन्न निर्णय शाब्द है। कुमारिल का व्याख्यान निर्णय के शाब्दस्वरूप को प्रातिनिधिक एवं अमौलिक बना देता है। जहाँ तक अन्वित अर्थ की सामर्थ्य सीधे पदों में निहित मानने का प्रश्न है, नैयायिक प्रभाकर से सहमत हैं; किन्तु उसका मतभेद इस कारण है कि वह इसे अभिधान-सामर्थ्य के रूप में स्वीकार नहीं करता। वह अभिधा-शक्ति से अनन्वित अर्थों की अभिव्यक्ति मानता है और यही स्थिति कुमारिल की भी है; किन्तु इन दोनों मतों में भी एक मूलभूत भेद है। नैयायिक अन्वितार्थ के लिए पदों की एक पृथक् सामर्थ्य की परिकल्पना करता है, जबकि कुमारिल लक्षणा का उपयोग करके तार्किक लाघव प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यह लाघव इस रूप में है कि यहाँ अभिधा एवं लक्षणा, दो शक्तियाँ ही स्वीकार करनी पड़ती हैं; जबकि नैयायिक को इन दो शक्तियों के अतिरिक्त भी एक तीसरी शक्ति अन्वितार्थ के लिए माननी पड़ती है। इस शक्ति का दोनों स्वीकृत व्यापारों से इस अर्थ में भेद है कि इस शक्ति और प्रस्तुत अर्थ के बीच का सम्बन्ध पहले से नहीं जाना जा सकता। हम देख चुके हैं कि वाक्यार्थ

सदैव एक ऐसी स्थिति है, जो पहले से ज्ञात नहीं हो सकती। अन्वयार्थ के लिए आहूत होने पर प्रभाकर की अभिधा या कुमारिल की लक्षणा अनिवार्यरूप से पूर्वतः अज्ञात शक्तियाँ होंगी और परिस्थितिवश दोनों ही इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए हैं। अतः प्रभाकर और नैयायिक का भेद बलाघात और संज्ञातन्त्र तथा शब्दावली का है। प्रभाकर अभिधा का नाम देकर भी इसे अज्ञात अन्वयार्थ के ज्ञान का कारण मानते हैं। कुमारिल और नैयायिक ने अभिधा का जो व्यापार स्वीकार किया है, उसकी पूर्ति प्रभाकर ने स्मृति के माध्यम से करने का प्रयास किया है; फिर भी यह निश्चित है कि प्रभाकर की अभिधा नैयायिक द्वारा अन्वयार्थ के लिए परिकल्पित सामर्थ्य से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। इसे एक ओर भाट्ट एवं नैयायिक तथा दूसरी ओर प्रभाकर के अनुयायियों ने अलग-अलग अर्थ दिया है।

अब यदि नैयायिक और प्रभाकर को एक ओर रखें और भाट्टों को दूसरी ओर, तो दोनों का भेद लक्षणा की भूमिका को लेकर है। लक्षणा का जो अर्थ सामान्यतया स्वीकृत है, इसके अनुसार लक्षणा का व्यापार तभी होता है, जब मुख्यार्थ द्वारा प्रस्तुत किसी तार्किक विसंवाद के कारण वाक्यान्वय बाधित हो। दूसरे शब्दों में, इसका आश्रय केवल उसी स्थिति में लिया जाता है जब मुख्यार्थ के माध्यम से अपेक्षित वाक्यार्थ तक न पहुँचा जा सके; किन्तु सामान्यतया ऐसा होने पर भी, भाट्ट-मत के प्रतिपादन में हम देख चुके हैं कि मुख्यार्थ की अवधारणा को व्यापक बनाना होगा, जिससे वक्ता द्वारा विवक्षित अर्थ का समावेश इसके क्षेत्र में हो सके। अतः परवर्ती विकास-क्रम में तार्किक विसंवाद की स्थिति वह मानी गई है, जब मुख्यार्थ की स्वीकृति वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल न हो, अर्थात् जब मुख्यार्थ को स्वीकार करने पर तात्पर्यार्थ, अर्थात् वाक्यार्थ बाधित होता है।

वैसे देखने में यह गतिरोध तब उत्पन्न होता है, जब मुख्यार्थ का साथ के दूसरे शब्द के मुख्यार्थ से अन्वय न हो सके, जैसा 'गङ्गायां घोषः' जैसे वाक्यों में देखा जाता है। लेकिन ध्यान से देखने पर हम पाएँगे कि विरोध उन वाक्यों में भी सदा विद्यमान है, जहाँ संघटक शब्दों के मुख्य अर्थों के बीच कोई विसंगति नहीं है। यदि समस्त शब्द-व्यापार मुख्यार्थों को सम्प्रेषित करके रुक जाँय, तो उससे केवल ज्ञात-तथ्यों का ही ज्ञान हो सकेगा और इस प्रकार वाच्य सर्वथा निष्फल होगा। वक्ता की इच्छा किसी निर्णय को सम्प्रेषित करने की है; किन्तु मुख्यार्थ स्वतः इस विवक्षित निर्णय को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। इसलिए मुख्यार्थों के बीच आपस में कोई विरोध न होने पर भी, एक ओर मुख्यार्थ और दूसरी ओर विवक्षित निर्णय, के बीच विरोध है। वाक्यार्थ का ग्रहण होने तक इस विरोध का बने रहना अपरिहार्य है। मुख्य अर्थों के साथ विरोध के कारण विवक्षित निर्णय का बाधित होना वैसे ही गतिरोध को उत्पन्न करता है, जैसे लक्षणा के सुपरिचित उदाहरणों में एक पद के मुख्यार्थ का दूसरे पद के मुख्यार्थ से विरोध। उस प्रसिद्ध विरोध का लक्षणा के माध्यम से परिहार सर्वमान्य है; किन्तु इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि यह विरोध मुख्यार्थ के

अपने सन्दर्भ में नहीं उठता, यह तभी उपस्थित होता है, जब मुख्यार्थ का दूसरे मुख्यार्थ से वाक्यगत संसर्ग स्थापित करने का प्रयास किया जाए। अतः विरोध का केन्द्र है अभिप्रेत अन्वय, जिसे मुख्यार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता। इस प्रकार, सदैव वाक्यगत अन्वय के बाध से उत्पन्न गतिरोध ही लक्षणा का आश्रय लेने का निमित्त है। हम देख चुके हैं कि यदि हम केवल मुख्यार्थ से सन्तुष्ट हो जाएँ, तो भी वाक्यगत अन्वय का यही बाध उपस्थित होगा। अन्य स्थलों पर हम लक्षणा द्वारा इस गतिरोध का परिहार देखते हैं और यदि भाट्ट-मीमांसक प्रत्येक वाक्य में गतिरोध के निवारक के रूप में लक्षणा की सहायता लें, तो इसमें आपत्ति का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

नैयायिकों ने वाक्यान्वय के लिये एक अन्य शक्ति की परिकल्पना की है। प्रभाकर के अनुयायी अभिधा-शक्ति से ही इस कार्य का सम्पादन करते हैं; किन्तु एक अन्य शक्ति की सहायता के विना मुख्यार्थ अन्वय के ज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ हैं और इसीलिए एक अतिरिक्त शक्ति की परिकल्पना अनिवार्य हो जाती है। इस अतिरिक्त शक्ति को प्राचीन-नैयायिकों ने तात्पर्यशक्ति और नव्य-नैयायिकों ने संसर्गमर्यादा कहा है। भाट्ट यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार लक्षणा-शक्ति इस भूमिका को पूरा करती है, जिसकी अपेक्षा नैयायिकों द्वारा परिकल्पित इस नवीन शक्ति से की जाती है। यदि वाक्यान्वय के लिये एक पृथक् शक्ति की कल्पना करें, तो लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरणों में होने वाली प्रक्रिया इस प्रकार माननी होगी। सर्वप्रथम व्यष्टि-पद अलग-अलग अपने मुख्यार्थों का अभिधान करते हैं। दूसरी अवस्था में वाक्यान्वय की शक्ति अपना कार्य करती है। तीसरी अवस्था में अर्थों में परस्पर योग्यता के अभाव के कारण उत्पन्न तार्किक विरोध प्रत्याशित वाक्य-व्यापार को विफल कर देता है और इसका परिहार तब होता है, जब लक्षणा इसके स्थान में एक संगत अर्थ को प्रस्तुत करती है। चतुर्थावस्था में पदों में निहित वाक्य-शक्ति अपेक्षित वाक्यार्थ को उत्पन्न करती है। अब, यदि द्वितीय और चतुर्थ अवस्था में इसी शक्ति का व्यापार चल रहा है, तो इसका अर्थ होगा—एक ही शाब्दव्यापार की द्विधा वृत्ति, जबकि यह सभी भाषिक नियमों के प्रतिकूल है। यदि कहा जाए कि तार्किक-विरोध के कारण पदों की वाक्य-शक्ति का व्यापार न होता है, न सम्भव है, तब अवश्य द्विधा वृत्ति का यह दोष निराकृत हो सकता है; किन्तु तार्किक विरोध तो तभी उत्पन्न होता है, जब दो असंगत अर्थों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाए। मुख्य अर्थ अपने आप में कोई तार्किक आपत्ति उत्पन्न नहीं करते; क्योंकि ऐसी आपत्ति का सम्बन्ध सदैव वाक्यार्थ से होता है। अतः यह मानना होगा कि या तो अन्वय बाधित और अवरुद्ध रहता है और तभी व्यापारवान् होता है, जब लक्षणा के द्वारा तार्किक विसंगति का निवारण हो जाता है अथवा कि तार्किक विसंगति के बावजूद वाक्यान्वय घटित होता है और तार्किक विसंगति के बोध से उत्पन्न तार्किक अप्रामाण्य के निराकरण के लिये लक्षणाशक्ति प्रयुक्त होती है। पहली सम्भावना को मानने पर वाक्यशक्ति का व्यापार तृतीयावस्था में घटित होगा, प्रथमावस्था की रचना मुख्यार्थ से, द्वितीयावस्था की लक्षणा से और तृतीयावस्था

की वाक्यान्वय से होती है। अभिनवगुप्त के विचार में वाक्य-व्यापार द्वितीयावस्था में घटित होता है और लक्षणाशक्ति का व्यापार तृतीयावस्था में होता है[1]; किन्तु अन्तिम वाक्यार्थ किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस सम्बन्ध में वे मौन हैं। वे इस पर कुछ नहीं कहते कि क्या मूल वाक्यशक्ति को पुनरुज्जीवित किया जाता है। दोनों ही स्थितियों में, वाक्य-शक्ति की द्विधा वृत्ति का आरोप अनुत्तरित रहता है। नैयायिक यह तो स्वीकार नहीं करेंगे कि वाक्य-शक्ति का व्यापार लक्षणा से पूर्व होता है; किन्तु उन्हें यह मानना पड़ेगा कि जिन उदाहरणों में लक्षणाशक्ति का प्रयोग होता है, वहाँ तीन अवस्थाएँ पार करनी पड़ती हैं। कुमारिल के अनुयायी जो लक्षणा को तार्किक गतिरोध के परिहार के साथ ही वाक्यान्वय का भी साधन मानते हैं, विपक्षी मत में अपरिहार्य इस तीसरी अवस्था को बड़ी सरलता से छोड़ सकते हैं।

संक्षेप में, कुमारिल के अनुयायी अब इस प्रकार तर्क कर सकते हैं कि लक्षणा-शक्ति का प्रयोग वाक्यान्वय के मार्ग में आने वाली बाधा के निराकरण के लिये किया जाता है और इसका प्रवेश होते ही अन्वय की सिद्धि हो जाती है। यह मानना सर्वथा औचित्यपूर्ण होगा कि वाक्यान्वय और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले वाक्यार्थ, की उत्पत्ति लक्षणा-शक्ति के हस्तक्षेप द्वारा होती है। 'लक्षणा केवल योग्यताविहीन मुख्यार्थ के स्थान में तार्किक रूप से संगत अर्थ को रखकर बाधा का निराकरणमात्र करती है और वाक्यान्वय पदों की तात्पर्य-शक्ति के द्वारा सम्भव होता है', ऐसा कथन एक अनावश्यक उलझन ही पैदा करता है। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि 'लक्ष्यार्थ का अवसर तात्पर्य-शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है और 'एक शाब्दव्यापार एक से अधिक बार सक्रिय नहीं हो सकता', इस न्याय के अनुसार तात्पर्य-शक्ति का दुबारा आह्वान नहीं किया जा सकता। अतः भाट्ट-मीमांसक की यह दलील बहुत हद तक युक्तिसंगत है कि तार्किक विरोध या गतिरोध के उदाहरणों में लक्षणा अकेले ही वाक्यान्वय का कारण होती है। अब, गतिरोध तो केवल एक प्रसङ्ग है और वाक्या-न्वय की सिद्धि में यह कोई योगदान नहीं करता। यह वाक्यान्वय तो केवल लक्षणा द्वारा ही उत्पन्न होता है। अतः कारणता-नियम की एकरूपता को बनाए रखने के लिए यह उपयुक्त प्रतीत होता है कि लक्षणा को सभी स्थलों में वाक्यान्वय का साधन माना जाए। जहाँ तक गतिरोध का प्रश्न है, वह तो प्रथमावस्था में सदा ही रहता है और वाक्यान्वय की उपलब्धि होने तक बना रहता है। जब प्रसिद्ध उदाहरणों में लक्षणा गतिरोध का परिहार करती है, तो यह मानना सर्वथा उपयुक्त एवं संगत है कि जहाँ-जहाँ भी विवक्षा होती है, इसका यही कार्य होता है। अतः भाट्ट जब वाक्यान्वय के लिए लक्षणा को उत्तरदायी बनाकर किसी अन्य शक्ति का आश्रय

---

१. 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्षानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासनान्तरम-भिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकशक्तिविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति। —ध्व., पृ० १७.

लेना अनावश्यक मानते हैं, तो ऐसा नहीं लगता कि वे तर्क और सहज बोध का उल्लंघन कर रहे हैं।

पिछले अनुच्छेदों में हमने भाट्ट-मत के सशक्त स्थलों पर प्रकाश डाला है। लक्षणा को वाक्यान्वय का माध्यम और वाहक बनाकर इस मत के प्रवर्तकों ने तार्किक प्रक्रिया में अद्भुत लाघव प्राप्त किया है; किन्तु इसके लिए उन्होंने लक्षणा के स्वरूप और कार्य में आमूल परिवर्तन करने का प्रयास किया है और उन पूर्ववर्ती स्थितियों में भी, जो अधिकांश उदाहरणों में मुख्यार्थ के उत्सर्ग को आवश्यक बनाती हैं। अब, जहाँ तक स्थितियों का प्रश्न है, सामान्यतः तार्किक विसंवाद लक्षणा का निमित्त होता है। अन्वयात्मक एकीकरण के सार्वत्रिक माध्यम एवं वाहक के रूप में लक्षणा का आश्रय लेकर कुमारिल के सम्प्रदाय ने वस्तुतः अभिधा और लक्षणा के भेद को ही तिरस्कृत कर दिया है। यह सही है कि वाक्य में पदों के बीच अन्वय स्थापित करने का प्रयास होने पर तार्किक विरोध उभरता है। 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा पर ग्वालों की बस्ती है) इस वाक्य में 'गङ्गा' के मुख्यार्थ की 'घोष' के मुख्यार्थ से अनुपपत्ति और साथ ही यह विचार कि वक्ता को वस्तुतः दोनों पदों के बीच सम्बन्ध अभिप्रेत है, हमें मुख्यार्थ के त्याग और उसके स्थान में एक सम्बद्ध अर्थ को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है। लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से एक मान्य सम्बन्ध सदैव होना चाहिए। यदि तार्किक अनुपपत्ति का परिहार ही एकमात्र निकष होता, तो वह परिहार तो किसी भी पद के अर्थ के स्थान पर किसी सुविधाजनक अर्थ को रख देने से हो सकता था। उदाहरणार्थ, पूर्वोदाहृत वाक्य में 'घोष' के अर्थ में परिवर्तन सुझाकर भी हम गतिरोध से बच सकते थे। 'घोष' का अर्थ 'मछली' या 'नौका' भी लिया जा सकता था; किन्तु यह इसलिए उपयुक्त नहीं है; क्योंकि ये अर्थ किसी मान्य सम्बन्ध के द्वारा जुड़े हुए नहीं हैं। इस प्रकार लक्ष्यार्थ के चुनाव का क्षेत्र तार्किक रूप से सीमित है। इससे स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ केवल मुख्यार्थ का विस्तार है। लक्षणा के एक प्रभेद (अजहल्लक्षणा) में, जहाँ मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ का एक अनिवार्य अंग है, इस स्थिति को स्वीकार भी किया गया है। उदाहरण के लिए, 'कलम तलवार से अधिक शक्तिशाली है', 'सड़क और संसद दोनों ने विरोध किया है', 'ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया है', इत्यादि वाक्यों में मुख्य अर्थ असंगत हैं; किन्तु लक्ष्यार्थ अर्थात् 'कलम एवं तलवार का चलाने वाला', 'सड़क की जनता एवं संसद के सदस्य', या 'ब्रिटेन और जर्मनी के लोग', स्पष्टतया मुख्यार्थ ही के विस्तार हैं। लक्षणा के अन्य सभी उदाहरणों में भी यही स्थिति है। वैसे इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता कि लक्ष्यार्थ के अभिन्न अंग के रूप में मुख्यार्थ की अनुभूति होती है या नहीं। यह मनोविज्ञान का विषय है; किन्तु तार्किक रूप से कहें, तो मुख्यार्थ निश्चित रूप से लक्ष्यार्थ को प्रभावित करता है।

फिर, लक्ष्यार्थ पहले ही मुख्यार्थ से सम्बद्ध तथ्य के रूप में जाना जाता है। कुमारिल के अनुयायी वाक्यार्थ को लक्ष्यार्थ मानते हैं, जबकि वाक्यार्थ वही होता

है, जो प्रमाणान्तर से ज्ञात नहीं था। अतः लक्षणा को एक पूर्वतः अज्ञात और अज्ञेय अर्थ के सम्प्रेषण में समर्थ मानने का अर्थ है इसे सृजनात्मक क्षमता प्रदान करना। यह एक स्वीकृत परम्परा का उल्लंघन होगा। भाट्टों को यह स्वीकार करना होगा कि एक अज्ञात अर्थ की वाहक लक्षणा उस लक्षणा से भिन्न होनी चाहिए, जो मुख्यार्थ से सम्बद्ध एक पूर्वज्ञात अर्थ को व्यक्त करती है। इन दोनों व्यापारों की अन्तर्वस्तु में मूलभूत भेद होते हुए, इन्हें एक ही नाम देना कदापि उचित नहीं है।

दूसरे, भाट्ट लक्षणा को पद का व्यापार न मानकर मुख्यार्थ का व्यापार मान लेते हैं। यह सही है कि मुख्यार्थ की अयुक्तता का बोध होने पर ही लक्षणा का आश्रय लिया जाता है; किन्तु यह इसे मुख्यार्थ से सम्बद्ध करने का आधार नहीं हो सकता; क्योंकि शब्द के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस तर्क का, कि शब्द का व्यापार अब पूरा हो चुका है, मानव-मनोविज्ञान द्वारा समर्थन नहीं होता। जयन्त ने सुदृढ़ तर्कों के आधार पर पदज्ञान को वाक्यार्थ के ज्ञान की अनिवार्य पूर्वशर्त सिद्ध किया है। भर्तृहरि ने शब्दों के साथ अर्थों के अविच्छेद्य सम्बन्ध पर जोर दिया है और वाक्यार्थ के विषय में तो यह और भी सही है।

तीसरे, यह दोष अभी यथावत् है कि वाक्यार्थ की उत्पत्ति में पदों के विना ही पदार्थों की भूमिका को स्वीकृत करने पर वाक्यार्थ को शाब्द मानना अनधिकृत एवं अव्याख्येय होगा। इसके परिणामस्वरूप शब्द या वाक्य की स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकृति एक औचित्यविहीन प्रक्रिया हो जाती है। इस प्रभेदक विशेषता को वाक्य से परोक्ष रूप से उपलब्ध मानकर इसकी व्याख्या का प्रयास एक चालाकी-भरा उपाय प्रतीत होता है। यदि हम ईमानदारी से वाक्यार्थ के शाब्दस्वरूप का कारण खोजना चाहते हैं, तो हमें इस पर पदों के प्रभाव को स्वीकार करना चाहिए। और फिर, जब यह स्पष्ट हो चुका है कि वाक्यार्थ की कारणभूत लक्षणा, प्रसिद्ध उदाहरणों में व्यापारित लक्षणा से गुणात्मक रूप से भिन्न है और व्यवहारतः एक सर्वथा नवीन व्यापार है, तो भाट्टमत में चर्चित उपलब्धि वास्तविक न होकर मात्र शाब्दिक सिद्ध होती है। इसे पृथक् नाम देना ही सर्वथा उपयुक्त है। यदि शाब्दिक-लाघव ही पर्याप्त कारण होता, तो अकेले मुख्यार्थ की परिकल्पना ही उचित होती। लक्ष्यार्थ को भी हम मुख्यार्थ का ही एक उदाहरण मान सकते थे और वास्तव में तो ऐसा एक मत दार्शनिकों के एक वर्ग ने प्रस्तुत किया है, जो शब्द-व्यापार को बाण की क्रिया की भाँति एक सुदीर्घ प्रक्रिया मानते हैं।

नैयायिक-पक्ष के विवेचन में हमने इन सभी प्रश्नों पर विचार किया। अब इतना कहना पर्याप्त है कि यह पक्ष तार्किक-लाघव की युक्तियों के प्रभाव से मुक्त हमारी सहज-बुद्धि से मेल खाता है और तार्किक-लाघव किसी स्वतन्त्र-प्रमाण द्वारा पुष्ट हुए विना अपने आप में निर्णायक नहीं हो सकता। नैयायिकं का पक्ष वस्तुतः अभिधा को वाक्यार्थ का वाहक बना देने वाले प्राभाकर-मत का उत्कृष्टतर रूप है। जैसा हम देख चुके हैं, प्रभाकर को यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि

पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध परिवर्तनीय है और इसलिए वाक्यार्थ से पूर्व इसका ज्ञान नहीं हो सकता। उन्हें यह मानना पड़ा है कि वाक्य के अवयवभूत पदों में इस पूर्वतः अज्ञात सम्बन्ध को सम्प्रेषित करने की क्षमता है। इस क्षमता को अभिधा कहकर वे एक सुप्रतिष्ठित परम्परा के उच्छेद के दोषी बन जाते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि विसंगति-प्रदर्शक के कारण प्रभाकर पृथक्-पृथक् पदार्थों के ज्ञान को वाक्यार्थ की पूर्वशर्त मानने पर विवश हुए हैं। यह ठीक है कि प्रभाकर इस पूर्वज्ञान को स्मृति का नाम देते हैं; किन्तु स्मृति यहाँ पदों एवं अर्थों के वास्तविक सम्बन्ध के बल पर ही सम्भव होती है। नैयायिक पदार्थों के इस ज्ञान को सीधे पदों की शक्ति से व्युत्पन्न करता है, जिसे वह अभिधा कहता है। फिर, एक अतर्कित सम्बन्ध के सम्प्रेषण की पदों की सामर्थ्य को प्रभाकर ने अभिधा का नाम दिया है, जबकि नैयायिक इसे तात्पर्य अथवा केवल संसर्गमर्यादा कहते हैं। इस प्रकार दोनों का भेद अधिकांश में तात्त्विक की अपेक्षा पारिभाषिक शब्दावली का है।

जहाँ तक तार्किक गौरव का प्रश्न है, यह मतवादी पूर्वाग्रह से प्रेरित है। तथाकथित तार्किक लाघव की उपलब्धि सहज-बुद्धि के अपमिश्रण की कीमत पर होती है। नैयायिक वाक्यार्थ की उत्पत्ति में तीन अवस्थाएँ मानता है। सर्वप्रथम पदों का बोध, फिर व्यष्टि पदार्थों का ज्ञान और तीसरी अवस्था में वाक्यार्थ में इन पदार्थों का अन्वय। वाक्यावयवों के रूप में, पदों में दो सुनिश्चित क्षमताएँ हैं, एक मुख्यार्थ के लिए और दूसरी अन्वयात्मक एकीकरण के लिये। पहली क्षमता संकेत के पूर्वज्ञान द्वारा पुष्ट होने पर कार्यरत होती है, अर्थात् यह **संज्ञानात्मक कारण** के रूप में कार्य करती है। दूसरी सामर्थ्य **स्वतः कारण** के रूप में कार्य करती है। प्रभाकर ने इन दोनों शक्तियों को एक शक्ति के रूप में मिला देने का जो प्रयास किया है, उसका नैयायिक ने प्रत्याख्यान किया है। वाक्यान्वय की सामर्थ्य का लक्षणा में समावेश करके तार्किक लाघव प्राप्त करने का प्रयास करने वाले भाट्टों से भी उसका मतभेद है; क्योंकि वे वाक्यार्थ पर पदों के प्रभाव का तिरस्कार करते हैं। इस प्रयास के विरुद्ध नैयायिक की ईमानदार आपत्तियाँ हैं और इनमें अकृत्रिम सहज-बुद्धि का भी समर्थन उसे प्राप्त है।

४. प्रतिभा

हमने मीमांसादर्शन के दोनों प्रतिपक्षी सम्प्रदायों के वादों का विस्तृत विवेचन कर लिया है और साथ ही नैयायिक-मत का भी, जो इन दोनों के बीच एक निष्पक्ष सन्तुलन रखने का प्रयास करता है। इन मतों के महत्त्व, प्रतिष्ठा एवं प्रामाणिकता के कारण इन्हें यथोचित गौरव तथा आदर देना हमारे लिये आवश्यक था। वैयाकरण इन मतों से और इनमें निहित तत्त्वों के ही परिवर्तन-परिवर्धन से निर्मित अन्य मतों से पूर्णतया परिचित था। इनमें अन्य मतों की अपेक्षा किसी एक मत की कालक्रमिक

पूर्ववर्तिता या उत्तरवर्तिता का अनुमान लगाना निरापद नहीं। निश्चय ही कालक्रम में भर्तृहरि, कुमारिल, प्रभाकर तथा हमारे अधुनातन परिचित ग्रन्थों के रचने वाले न्यायदर्शन के व्याख्याताओं के भी पूर्ववर्ती हैं। लेकिन हमने देखा है कि ये सभी मत भर्तृहरि द्वारा प्रत्याशित हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालना निरापद है कि ये सभी मत साथ-साथ विद्यमान थे, यद्यपि प्राचीनतर आचार्यों के ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं।

भर्तृहरि अपने विपक्षियों के उन तर्कों से सहमत नहीं हैं, जिनमें वाक्यार्थ को विश्लेषण और संश्लेषण की दुहरी प्रक्रिया के द्वारा व्याख्यात करने का प्रयास किया गया है। भर्तृहरि इससे इनकार नहीं करते कि व्यष्टि पदों के अपने-अपने अर्थ हैं और, कि अन्त में वाक्य इन अंशभूत विविध अर्थों को किसी प्रकार से एकात्मक समग्रता में ग्रथित कर देता है। निःसन्देह ऊपरी तौर पर प्रक्रिया यही है; किन्तु संश्लेषण के उपकरण के विषय में ये मत एक-दूसरे से कितने ही भिन्न हों—चाहे वह उपकरण पद हैं या पदार्थ अथवा उनका एक विशेष क्रमानुसार संयोजन—इस सम्बन्ध में वे पूर्णतया सहमत हैं कि संघटक पदों के विच्छिन्न अर्थ किसी न किसी प्रकार संश्लेषण को प्राप्त होते हैं। भर्तृहरि चमत्कार-सी दीखने वाली इस प्रक्रिया की व्यवहार्यता और बुद्धिगम्यता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

यह माना जाता है कि विभिन्न अवधारणाओं तथा वस्तुजगत् में उनकी अनुरूपी प्रतिवस्तुओं व उन द्रव्यों, जिनमें ये प्रतिवस्तुएँ समवेत हैं, का एकीकरण संसर्ग द्वारा किया जाता है। यदि संसर्ग स्वयं एकात्मक तथा वास्तविक सत्ता होता, तो यह बात समझ में आ सकती थी; किन्तु संसर्ग तो कपोल-कल्पनाओं के बीच भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, 'वन्ध्यापुत्र', 'शशशृङ्ग' और 'आकाशपुष्प' की अवधारणाएँ दो प्रत्ययों की संसृष्टि हैं और इनकी कोई वास्तविक प्रतिवस्तुएँ नहीं हैं। इन अवधारणाओं के अपने भीतर ही एक आभ्यन्तर सम्बन्ध है और जब किसी निर्णय में इन्हें उद्देश्य और विधेय बनाया जाता है, तो एक बाह्य सम्बन्ध भी है। इस प्रकार 'वन्ध्या का पुत्र जाता है' आकारिक दृष्टि से एक वैध-निर्णय है; किन्तु यहाँ संसर्ग अवास्तविक है; क्योंकि संसर्गी स्पष्टतः ही मिथ्या हैं। इस प्रकार संसर्ग में कोई अन्तर्भूत वास्तविकता नहीं हो सकती। अब यह कहा जा सकता है कि कल्पित संसर्गियों का संसर्ग भले ही मिथ्या हो, वास्तविक संसर्गियों के संसर्ग को तो सत्य मानना ही होगा; किन्तु इस दलील की भी कोई प्रामाणिकता नहीं है। संसर्ग एक से अधिक सत्ता में विद्यमान रहने वाला तथ्य माना जाता है; किन्तु कोई भी स्वतो-अभिन्न सत्ता एक से अधिक आश्रयों में नहीं रह सकती। यह एक सामान्य-सी बात है कि जो कुछ भी दो भिन्न-भिन्न आश्रयों में विद्यमान रहता है, वह एक सत्ता नहीं है; अपितु उसकी संख्या आश्रयों की संख्या के अनुसार होगी। दो या तीन तश्तरियों में रखे हुए सेबों में से प्रत्येक सेब दूसरी तश्तरियों के सेब से भिन्न है। जिन तश्तरियों में वे रखे हुए हैं, उनकी भाँति सेब भी संख्या की दृष्टि से भिन्न हैं। संसर्ग सही अर्थों में दो संसर्गियों में होना चाहिए और इसलिए संख्यागत दृष्टि से भिन्न होना

चाहिए। एकत्व की, और अनेक आश्रयों में समकालिक अस्तित्व की अवधारणाएँ परस्पर असंगत हैं। अतः संसर्ग का एकत्व केवल कपोल-कल्पित है और इस प्रकार निर्णय या वाक्य अथवा वस्तुस्थिति के अनुभूत एकत्व से इसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह एक तत्त्वीकृत चिन्तन-कल्पना है, जो अविचारशील व्यक्तियों को आकर्षित करती है। अवश्य, सहज-बुद्धि और सर्वसहमति इस कल्पना को ठोस वास्तविकता प्रदान करती है और पिछले अनुभागों में समीक्षित मीमांसकों और तार्किकों के मतों की समस्त आभासित अकाट्यता एवं प्रतिष्ठा सहज-बुद्धि द्वारा किये गये आकलन पर आधारित है; किन्तु तार्किक मापदण्ड द्वारा वाधित होने पर सहज-बुद्धि भी दार्शनिकों के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होनी चाहिए।

भारतीय और साथ ही योरोपीय चिन्तकों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि उन संसर्गियों के अतिरिक्त, जो इसके माध्यम से सम्बद्ध माने जाते हैं, संसर्ग को एक तृतीय सत्ता के रूप में देखने पर अनवस्था-दोष उत्पन्न होगा। दो संसर्गियों का सम्बन्ध संसर्ग द्वारा स्थापित किया जाता है, जो कि व्यवहारतः एक तीसरा संसर्गी है और इसलिए यह संसर्गियों से एक अन्य संसर्ग के माध्यम से सम्बद्ध होना चाहिए; किन्तु इस दूसरे संसर्ग की भी वही दशा है और इसे भी अपने सम्बन्ध के लिए एक दोषपूर्ण अनन्त श्रृङ्खला उत्पन्न होगी। दूसरी ओर, यदि संसर्ग को संसर्गियों से अभिन्न माना जाए, तो इसकी एकात्मकता उतने ही टुकड़ों में विभाजित हो जाएगी, जितने संसर्गी हैं। यदि संसर्ग संसर्गियों से निश्चल रूप में सम्बद्ध हो और उनका अंगभूत हो, तो एक ही संसर्गी की उपलब्धि से संसर्ग की उपलब्धि हो जाएगी। इतना ही नहीं, एक संसर्गी के अंगभूत संसर्ग की उपलब्धि में ही दूसरे संसर्गियों की उपलब्धि निहित होगी; क्योंकि संसर्ग एक ही स्वरूप वाला अभिन्न तथ्य माना गया है। संसर्ग अपनी प्रकृति से ही अनेक संसर्गियों में विद्यमान है। अब संसर्ग का स्वरूप चूँकि एक स्वतो-अभिन्न तथ्य (स्वयं संसर्ग) का है, अतः यह स्वरूप अनन्य है। इसलिए विभिन्न संसर्गियों में इसकी सत्ता भी एक ही प्रकार की होगी। इस प्रकार, एक संसर्गी में संसर्ग की उपलब्धि अन्य सभी संसर्गियों की उपलब्धि को भी अनिवार्य बना देगी; क्योंकि अन्य सभी में भी इसकी सत्ता उसी रूप में है। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अतः एक संसर्गी में संसर्ग की उपलब्धि और अन्य संसर्गियों में इसकी अनुपलब्धि एकात्मक सत्ता में परस्पर विसंगत होने के कारण, इसके एकत्व के आग्रह को ध्वस्त करने के लिए पर्याप्त हैं[1]।

संसर्ग की धारणा की वैधता के विरुद्ध एक और भी तर्क दिया जा सकता है। मान लें कि संसर्ग, जैसा सहजबुद्धिवादी यथार्थवादी ने माना है, अनेक संसर्गियों में

---

१. अथैकस्मिन्नेव संसर्गिणि गृह्यमाणे तद्गतः संसर्गोऽपि गृह्येत, तेनैव स्वभावेन संसर्ग्यन्तरेष्वप्यस्तीति तान्यपि ग्रहीतव्यानि। न च तानि गृह्यन्ते इति संसर्गोऽपि न गृह्येत······।

—न्या. कु., पृ. २८७.

विद्यमान है; किन्तु क्या संसर्ग अनेक संसर्गियों में भागशः विद्यमान है या प्रत्येक संसर्गी में अपने सम्पूर्ण रूप में ? संसर्ग प्राक्कल्पनानुसार एक अविभाज्य समग्रता है और इसलिए इसकी भागशः विद्यमानता का प्रश्न ही नहीं उठता। उल्टे, भागों की स्वीकृति से अनवस्था-दोष उत्पन्न होगा। अनन्त मात्रा में विभाज्य भागों की अवधारणा में असंख्य भाग निहित होंगे और फिर एक मध्यम परिमाणवाला भाग एक समग्रता होने के नाते संसर्गी के अनेक भागों में अपने स्वयं के अनेक भागों के माध्यम से रह सकता है और वे भाग भी यदि अवयवों के संश्लेष हों; तो उनके प्रसंग में भी वही समस्या खड़ी होगी। यदि अन्तिम भाग पारमाणविक हों, तो भी तार्किक कठिनाइयाँ उठेंगी। संसर्ग के एक पारमाणविक भाग का संसर्गी के एक पारमाणविक भाग से संयोग बुद्धिगम्य नहीं है; क्योंकि संयोग तो सदैव अवयवों में सम्भव होता है; जबकि परमाणुवों में अवयवों की सत्ता नहीं मानी जाती। यदि इस कठिनाई से बचने के लिए संसर्ग की संसर्गी में विद्यमानता उसके सम्पूर्ण रूप में मानी जाए, तो एक ही संसर्गी में संसर्ग निःशेष हो जाएगा और अन्य संसर्गियों में इसकी विद्यमानता सम्भव नहीं होगी। इस प्रकार संसर्ग की अवधारणा विप्रतिषेधों से पूर्ण है : सो संसर्ग एक असम्भव कल्पना है[1]।

पूर्वोल्लिखित सभी मत संसर्ग की सम्भावना को मानकर चलते हैं और इसी पर अवलम्बित हैं। संसर्ग की अवधारणा में निहित अन्तर्विरोध के उद्घाटन के साथ ही इन सभी मतों की तर्कगत चमक समाप्त हो जाती है, तो फिर शाब्द-निर्णय के उद्भव के पीछे क्या कारण है ? संसर्गवादी-विचारपद्धति के प्रति संशयशील वैयाकरण वाक्यार्थ की अखण्डता की किस प्रकार व्याख्या करेगा ? किन्तु संसर्ग को लेकर वैयाकरण-दार्शनिक को कोई कठिनाई नहीं है। वह इसे वाक्यार्थ की अन्तर्वस्तु के रूप में न प्रस्तुत करता है, न ही कर सकता है। वाक्यार्थ के अनुभूत एकत्व का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता; किन्तु संसर्ग इसका कारण नहीं हो सकता। भर्तृहरि के अनुसार तो एकमात्र शब्द ही वस्तुसत्ता है और यदि वाक्यार्थ का प्रामाणिकता के लिए कुछ भी दावा हो, तो उसे इस वस्तुसत्ता पर आधारित होना चाहिए। एकत्व की व्याख्या इन प्राक्कल्पनाओं में से किसी एक के आधार पर की जा सकती है : अर्थों की अनेकता पर एकात्मक शब्द का अध्यारोप करके अथवा अनेकत्व को शब्द-तत्त्व का विकासज अथवा विवर्त मानकर[2]। अध्यारोप की प्राक्कल्पना सुपरिचित अनुभवों पर आधारित है। सफेद फूलदान यदि लाल द्रव्य के घोल से रँगा

---

१. तथा नानासंसर्गिषु वर्तमानः संसर्गो भागशो वर्तते, कार्त्स्न्येन वा ? न तावत् भागशो निर्भागत्वात्। सभागत्वे वाऽनवस्थापातात्। नापि कार्त्स्न्येन, संसर्ग्यन्तरे तदभावप्रसङ्गात्।
—न्या. कु., पृ. २८७.

२. न ह्यवस्तुषु संसर्गसमूहात्यन्तासदादिषु संसर्गिषु वा नानात्मस्वेकवस्तुप्रतिभासः सम्भवति। विनैकस्य शब्दात्मनः प्रत्यासात् परिणामाद्विवर्ताद्वेति। —वि. वि., पृ. २८६-८७

हो अथवा यदि लाल फूल इसमें रखे हों, तो यह लाल प्रतीत होने लगता है। इसकी लालिमा स्वाभाविक नहीं है; अपितु इसमें लालिमा का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण यह लाल प्रतीत होता है। इसी प्रकार विभिन्न शब्दार्थों पर शब्द को आरोपित करके उनके संख्यात्मक और गुणात्मक भेद छिपा दिये जाते हैं। अर्थों का एकत्व केवल उन पर आरोपित शब्दैकत्व का प्रतिबिम्ब है। व्यवहारतः भेद मिट जाते हैं और उनमें शब्द प्रतिबिम्बित होने पर भी वाक्यार्थ शब्द से अभिन्न प्रतीत नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे काँच का फूलदान फूलों के साथ अभिन्न प्रतीत नहीं होता। अध्यारोप केवल आरोपित सत्ता के गुण को आश्रय में संक्रमित करता है। शब्द-तत्त्व ज्ञाता के जाने विना स्वतः ही अपने स्वभाव को संक्रमित कर देता है और इस प्रकार वाक्यार्थ का एकत्व शब्दतत्त्व के एकत्व का ही प्रतिबिम्ब है। यह आक्षेप उचित नहीं कि यह मत एक ही वस्तु को वाच्य भी मान लेता है और वाचक भी; क्योंकि द्वैत-सत्ता की परिकल्पना के लिए कोई उचित कारण नहीं है। एकमात्र सत्ता शब्द-तत्त्व की है और अर्थ केवल इसका प्रतिबिम्ब है। भिन्न-भिन्न शब्दार्थं वास्तव में शब्द-सत्ता की अभिव्यक्ति के निमित्त हैं; किन्तु शब्द-सत्ता का ग्रहण उसके अपने रूप में नहीं होता और इसका कारण सहजात अविद्या है, जो समस्त व्यावहारिक चिन्तन को अपने संपर्क से प्रभावित करती है। वैयाकरण और अद्वैत-वेदान्ती के मतों के बीच सादृश्य को सहज ही देखा जा सकता है। दृश्य-जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र है और ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित् और आनन्द से युक्त है। ये तीनों अवधारणाएँ अपनी वस्तुनिष्ठ सत्ता में एक ही हैं। यद्यपि दृश्य-जगत् की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; अपितु यह ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है, जिस पर दृश्य-प्रपञ्च आरोपित कर दिया जाता है और फिर ब्रह्म स्वयं उसके माध्यम से प्रतिबिम्बित होता है, तथापि दृश्य-प्रपञ्च स्वतो-अभिन्न ब्रह्म के रूप में अनुभूत नहीं होता, केवल सत्तावाला पहलू ही समस्त भावों के सामान्य स्वभाव के रूप में प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार, वाक्यार्थ का शब्द-तत्त्व से—जो वेदान्त के ब्रह्म का पूर्ण सही प्रतिरूप है—पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न होते हुए भी यह शब्द-तत्त्व से अभिन्न रूप में नहीं; अपितु एक इकाई के रूप में प्रतीत होता है। एकत्व वस्तुतः शब्द-तत्त्व से लिया हुआ धर्म है और केवल शब्द-तत्त्व ही इसके द्वारा लक्षित किया जा सकता है। इस प्रकार निर्णय का एकत्व अवधारणाओं पर आरोपित एकत्व है।

दूसरी कल्पना में दृश्य-प्रपञ्च शब्द-तत्त्व का परिणाम है। शब्द-तत्त्व ही परम सत्य है और प्रत्येक सत्ता का नियत पूर्ववर्ती है। इस प्राक्कल्पना का पहली से यह आधारभूत भेद है कि इसके अनुसार जगत् की अपनी वस्तुसत्ता है; क्योंकि यह अपने नियत पूर्ववर्ती ब्रह्म से भेदाभेद रूप में सम्बद्ध है। वास्तविक परिणाम में विकासजों की सत्यता सदैव अपरिहार्य है और भेदाभेद सम्बन्ध की स्वीकृति इसका अनिवार्य परिणाम है।

तीसरी अर्थात् विवर्त की प्राक्कल्पना को अद्वैतवेदान्त वाली प्राक्कल्पना के अनुसार ही समझना चाहिए। शब्द-तत्त्व ही एकमात्र सत्य है, जो प्रपञ्च-बहुत्व के

रूप में उसी प्रकार भासित होता है, जिस प्रकार एक ही चेहरा दर्पण, मणि, पानी और तेल आदि जैसे विभिन्न माध्यमों में अलग-अलग आकारों और रंगों में दिखलाई देता है। अब, यह तर्क भी सर्वथा वैध है कि वहाँ माध्यम के भेद के कारण आभास-भेद सम्भव है; किन्तु शब्द-तत्त्व के प्रसंग में तो किसी यथार्थ माध्यम की सत्ता को ही नहीं माना जा सकता; क्योंकि शब्द-तत्त्व ही एकमात्र सत्ता है। फिर उसमें आभासभेद कैसे सम्भव है? यह प्रश्न सही स्थिति को न समझ पाने के कारण उठाया गया है। माध्यम आवश्यक है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह उसी अर्थ में सत्य हो, जिस अर्थ में ब्रह्म सत्य है। यद्यपि शब्द-तत्त्व ही चरम सत्ता है और इसके समान्तर कोई दूसरी सत्ता नहीं है, तथापि एक छद्मसत्ता तो है ही और वह है अनादि अविद्या, जो एक वस्तुनिष्ठ तत्त्व के रूप में, इसके प्रसार के प्रारम्भ की दृष्टि से इसकी समवयस्क है। अविद्या निषेधात्मक तत्त्व है और एक को अनेक के रूप में प्रतीति कराती है। लेकिन, यद्यपि अविद्या सदैव ब्रह्म के साहचर्य में ही द्वितीय सत्ता के रूप में स्वीकृत की जाती है, फिर भी यह ब्रह्म की भाँति चरम नहीं है। ब्रह्मज्ञान के आविर्भाव के साथ ही यह उसी प्रकार लुप्त हो जाती है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सम्मुख अन्धकार। निष्कर्षतः स्थिति यह है: आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ, दोनों ही प्रकार के विविध अर्थों के रूप में शब्द-तत्त्व ही प्रकट होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अर्थ मिथ्या विवर्त हैं। वाचक और वाच्य का भेद एक अवधारणा-मात्र है, जिसकी नियामक व उत्पादक एक मूल अविद्या है।

यह समस्या की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या है। अब इस दर्शन के पक्षधर को मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक आधार पर इसकी मान्यताओं की प्रामाणिकता सिद्ध करनी है। अपने अभिप्राय में एक-दूसरे से संख्यागत भेद रखने वाले लौकिक वाक्यों में भी प्रत्येक का अर्थ वैयाकरण के मत में एक स्वतो-अभिन्न तथ्य है—एक अव्यवहित अन्तः-प्रज्ञात्मक प्रकाश, जिसे वैयाकरण ने प्रतिभा कहा है।

वैयाकरण-दार्शनिक के अनुसार चरम-सत्ता शब्द है और शब्द चैतन्य है। चैतन्य में से यदि शब्द को घटा दें, तो वह केवल एक अनर्गलता होगी। पिछले उन्मेषों में चैतन्य और शब्द का अभेद वजनदार दलीलों से सिद्ध किया जा चुका है। चैतन्य एक अविभाज्य और अविश्लेषणीय निरवयवसत्ता है। विविध अन्तर्वस्तुओं के साहचर्य के कारण यह अनेक प्रतीत होता है। अन्तर्वस्तुएँ चैतन्य से अभिन्न मान ली जाती हैं और फलतः उन्हें एकत्र संयुक्त रखने वाले चैतन्य के आधारभूत एकत्व पर वे अपनी अनेकता को अध्यारोपित कर देती हैं। निर्णयात्मक चिन्तन का एकत्व एक अविच्छेद्य तथ्य है और बहुत्ववादी के लिए यह पेचीदा सिद्ध हुआ है। क्या अनेकत्व को एकत्व में बदलना सम्भव है? अनुभवमूलक चिन्तन की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति चिन्तन की अन्तर्वस्तुवों के सतही रूपों को ही अन्तिम 'प्रदत्त' मानती है और एक रासायनिक-सी प्रक्रिया के द्वारा एकत्व को अनेकत्व से व्युत्पन्न करने का प्रयास करती है। यथार्थ-वादी इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने में असफल रहा है। प्रपञ्चगत बहुवाद का पक्षधर इस समस्या पर पहुँचकर लड़खड़ा जाता है। वह एक ऐसा स्पष्टीकरण खोजने की

जल्दी में है, जो सरल हो और देखने में विश्वसनीय भी लगे और इसलिए वह विविध अन्तर्वस्तुवों वाले प्रत्यय के एकत्व को पश्चाद्भावी घटना मानता है, जो एक चामत्कारिक ढंग से घटती है। एकत्व को अनेकत्व से निष्कृष्ट करने का यह प्रयास अव्यवस्थित चिन्तन का द्योतक है। अन्तिम विश्लेषण में अनेकत्व केवल एककों का योगमात्र है। यह एक का ही बहुवचन है; किन्तु एक में वहुवचन असमाधेय रूप से विसंगत है। यह 'मैं' के बहुवचन जितना ही मिथ्या और निरर्थक है। एक अनेक कैसे हो सकता है ? यदि यह मान कर भी चलें कि अनेक इकाइयों का होना सम्भव है और अनेकों इकाइयाँ अनेकत्व का निर्माण करती हैं, तब भी एकत्व को ही अनेकत्व का आधार एवं प्रस्थान-बिन्दु मानना अनिवार्य है। एकत्व अनेकत्व का पूर्ववर्ती है। एकत्व की अनेकत्व के साथ विसंगति की यह समस्या यदि हमारे सम्मुख आ खड़ी हो और हमें दो विरोधियों में से एक को अस्वीकार करना पड़े, तो हमें तार्किक अनिवार्यता की दृष्टि से बहुत्व को त्यागकर एकत्व को स्वीकार करना होगा। हम देख चुके हैं कि अनेकत्व एकत्व के बहुवचन के अलावा कुछ नहीं है और इस प्रकार एकत्व के विना अनेकत्व की अवधारणा असम्भव है।

वैयाकरण शब्द को चैतन्य के रूप में प्रस्तुत करता है। दोनों संज्ञाएँ व्यवहारतः पर्यायवाची हैं और चैतन्य एक अविभाज्य सत्ता है। विभाज्य तो जड़ पदार्थ है और चैतन्य की अविभाज्यता ही आत्मिक-तत्त्व के रूप में इसका जड़ पदार्थ से विभेद दर्शाती है। अब, जड़ पदार्थ और इसे संदूषित करने वाले अनेकत्व को हमारी एतद्विषयक चेतना द्वारा ही प्रमाणित किया जाता है। चैतन्य को जड़ पदार्थ से निष्कृष्ट करने का प्रयास करने वाला भौतिकवादी उल्टी गङ्गा वहाता है। जड़ पदार्थ की चेतना हुए विना हम इसे मान ही कैसे सकते हैं ? अतः चेतना मूल प्रदत्त है और बहुवादी पूर्वाग्रह के वशीभूत होकर इसे तिरस्कृत करना आत्मघाती होगा। 'जड़ पदार्थ और इससे फलित अनेकत्व की अन्तिम रूप से प्रामाणिकता है या नहीं,' इस प्रश्न को यदि छोड़ भी दें, तो भी चिन्तन-प्रक्रिया का तटस्थ विश्लेषण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि चैतन्य का एकत्व तर्कमूलक चिन्तन की पूर्वमान्यता है। चैतन्य ही वह रूप-विधान है, जिसमें अन्तर्वस्तुएँ एकत्र ग्रथित होती हैं और जो उन्हें एकत्व प्रदान करता है। यह एकत्व एक अव्यवहित, अविश्लेषणीय, अविच्छिन्न एवं निरवयव प्रकाश है, जिसे वैयाकरण ने प्रतिभा का नाम दिया है। इसी से तर्कमूलक चिन्तन और व्यावहारिक व्यापार की सिद्धि सम्भव हो पाती है।

वाक्य का चरम अर्थ भी यही अविच्छिन्न प्रतिभा है। प्रारम्भ में ही हम देख चुके हैं कि शब्द चैतन्य है और चैतन्य अपनी मूल प्रकृति में अव्यवहित, स्वयंप्रकाश और अन्तःप्रज्ञात्मक है। इस प्रकार शब्द एवं प्रतिभा एक ही हैं। अतः प्रतिभा को किसी शब्द या वाक्य का अर्थ कहकर हम यही कह रहे हैं कि शब्द का अर्थ शब्द है। यह निरर्थक पुनरुक्ति है। शब्द या कहें कि वाक्य, से किसी अर्थ के अभिधान का स्पष्ट अनुभव होता है और यह अर्थ अनिवार्यतः शाब्द रूप से आगे का तथ्य है।

यह कहना कि शब्द स्वयं अपना अभिधान करता है, इस कथन के समकक्ष है कि शब्द एक अर्थहीन प्रलाप है। यदि चैतन्य के साथ शब्द के समीकरण को सत्य का सही मूल्याङ्कन मानकर स्वीकार कर लें, तो भी शाब्द-अभिव्यक्ति और उसके द्वारा चित्रित प्रत्ययात्मक चिन्तन का आत्मातीतता का मूल स्वरूप तब तक उपेक्षित नहीं नहीं किया जा सकता, जब तक वस्तुनिष्ठ निर्देश, अर्थात् किसी स्वभिन्न स्थिति के निर्देश, को जान-बूझ कर अनदेखा न किया जाए।

यह आपत्ति इतनी सतही है और ऐसी सपाट सहज-बुद्धि पर आधारित है कि इसका खण्डन करना भी मूर्खता होगी। यह सीधी-सी बात वैयाकरण को नहीं ज्ञात हुई, ऐसा सोचना व्यर्थ होगा। वैयाकरण इससे इनकार नहीं करता कि वाक्य का एक अर्थ है, अर्थात् यह अपने से भिन्न किसी वस्तुनिष्ठ तथ्य का संकेत करता है। स्पष्टतया वाक्य रूप है और अर्थ पदार्थ है और दोनों सत्तामीमांसीय दृष्टि से पृथक् सत्ताएँ प्रतीत होते हैं। अतः इस अधार पर वैयाकरण के खण्डन का प्रयास करना हवाई किले पर आक्रमण करने जैसा है कि उसने प्रत्यक्ष-बोध और मनोवैज्ञानिक साक्ष्य को अस्वीकार किया है। विपक्षी द्वारा एक ऐसा तथ्य प्रमाणित किया जा रहा है, जिस पर वैयाकरण ने कभी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया। वह इसे अस्वीकार नहीं करता कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शब्द का निर्देश आत्मनिष्ठ निर्देश से इतर है; किन्तु समस्या उतनी सरल और स्पष्ट नहीं है, जितनी विपक्षी कल्पना करता है। अनुभवमूलक चिन्तन के बल पर यह माना गया है कि किसी स्वभिन्न अन्तर्वस्तु के विना चैतन्य का होना असम्भव है। हमारे अनुभवाश्रित प्रत्यय सदैव किसी पदार्थ के बारे में होते हैं और यह पदार्थ एक अन्य तथ्य है जो किसी प्रकार उनके साथ संलीन हो जाता है; किन्तु वस्तुवों के सही स्वरूप को समझने के इच्छुक एक दार्शनिक के रूप में, वैयाकरण चैतन्य के साथ सम्बन्ध में अन्तर्वस्तु के सत्तामीमांसीय स्वरूप और स्तर के विषय में प्रश्न उठाता है। यह सम्बन्ध देखने में तो एकदम सपाट और स्पष्ट लगता है; किन्तु परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि यह बड़ा कामचलाऊ और सुविधावादी साधन है, जिसमें किसी तार्किक व्याख्या की गुंजाइश नहीं है। चैतन्य के साथ ऐसा तथ्य कैसे जोड़ा जा सकता है, जो स्वतः एक चेतनाविहीन और विचारहीन जड़ सत्ता है? निश्चय ही उनका सम्बन्ध न अभेद का है और न भेद का; क्योंकि दोनों ही विकल्पों में सम्बन्ध असम्भव हो जाता है। फिर, चैतन्य एक आभ्यन्तर सत्ता है, जबकि विजातीय भौतिक पदार्थ एक बाह्य तथ्य है; दोनों स्वभावतः एक दूसरे से स्वतन्त्र व स्वायत्त हैं। दोनों के बीच एक अपूरणीय अन्तराल है। यथार्थवादी सत्ता के दोनों क्षेत्रों की स्वायत्तता स्वीकार करता है और फिर भी यह मान लेता है कि किसी न किसी प्रकार उनका गठबन्धन हो ही जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो उसके द्वारा सम्बन्ध की स्फुटता पर जोर दिया जाना सर्वथा न्याय्य है; किन्तु इस अनुभूत एकीकरण को तार्किकता कों समझने की इच्छा होने पर जब यथार्थवादी को इस पर प्रकाश डालने के लिए आमन्त्रित किया जाता है, तो वह समस्या को ही पूर्णतः अस्वीकार करके इस निर्व्याज जिज्ञासा को ही वर्जित कर देता है। प्रतिपक्षी के विचार की ईमानदारी

असंदिग्ध होने पर भी, उसके द्वारा समस्या के प्रस्तुतीकरण को ही समस्या का स्पष्टीकरण मान लेना दार्शनिक-दृष्टि से सन्तोषजनक प्रक्रिया नहीं है।

वैयाकरण इस स्फुट तथ्य को अस्वीकार नहीं करता कि वाक्य में शब्द अपने-अपने अर्थों को व्यक्त करते हैं। यह बात तो अतिसामान्य बुद्धि के समक्ष भी स्पष्ट है और मीमांसकों एवं नैयायिकों ने इसी को अपने-अपने मत की आधारशिला बनाया है। निःसन्देह व्यष्टि अर्थ प्राथमिक सामग्री एवं प्रस्थानबिन्दु हैं और वाक्यार्थ की अनिवार्य शर्त हैं; किन्तु वैयाकरण जिस बात पर जोर देना और विपक्षी को समझाना चाहता है, वह है विभिन्न अवधारणाओं को एक साथ रखने वाली एकत्व की अचिन्तित और अविमर्शित चेतना। निःसन्देह, अवधारणाओं की परस्पर योग्यता पर नैयायिक उचित ही जोर देता है। उसके विचार में यही उनके एकता-सूत्र में बंधने का रहस्य है; किन्तु तथाकथित योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि वास्तव में निमित्त हैं और एकता-सूत्र पर वे कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं डाल सकते। नैयायिक को यदि किसी अन्य स्पष्टीकरण की आवश्यकता अनुभव नहीं होती, तो इसमें पूरी तरह से बौद्धिक जड़ता व आलस्य ही कारण हैं। इसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भर्तृहरि सांश्लेषिक ज्ञान और उसके समर्थ साधन के रूप में विश्लेषणात्मक चिन्तन में निष्ठा रखने वाले अपने प्रतिपक्षियों से मतभेद व्यक्त करते हैं। अनेक विविध तत्त्वों के एक एकता-सूत्र द्वारा ग्रथित हो जाने की अवधारणा में तार्किक कठिनाई निहित है, जो नितान्त दुस्तर है।

नैयायिक परमाणुवादी है। उसके मत में परमाणु अन्तिम सत्य हैं और वे ही अपने परस्पर संघात एवं क्रमचय के द्वारा पदार्थ-जगत् को उत्पन्न करते हैं। शाब्द-निर्णय और वस्तुतः सभी निर्णयों के विषय में उसके द्वारा विश्लेषण-संश्लेषण-आत्मक मतों के प्रतिपादन के मूल में यही परमाणुवादी चिन्तन-प्रवृत्ति है; किन्तु एक समस्या उसकी पकड़ से छूट गई है और वह इसका सामना करना भी नहीं चाहता कि स्वायत्त परमाणु अपनी परमाणविकता को त्यागे बिना किस प्रकार एक स्थूल आकार में विलीन हो सकते हैं। यदि परमाणु अनन्य सत्ताएँ हैं और अपनी स्वायत्तता और पारमाणविक संरचना को कभी त्याग नहीं सकते, तो किसी भी प्रकार के सामञ्जस्य से एक पिण्डभूत समग्रता की उत्पत्ति सम्भव नहीं। पिण्डभूत समग्रता में सूक्ष्मतर अवयवों की स्थिति दृष्टिगोचर नहीं होती। बौद्ध दार्शनिक का पक्ष फिर भी समझा जा सकता है, जो एकात्मक समग्रता के अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है। बौद्धों के मतानुसार समग्र मूलतः अवयवों की अनेकता है और एकत्व की धारणा भ्रममात्र है। नैयायिक परमाणुवों की अविश्लेषणीय संरचना में भी विश्वास रखता है और एक समग्रता में उनके यथार्थ विलय को भी स्वीकार करता है, अर्थात् वह दोनों ओर का लाभ लेना चाहता है। परमाणुवाद की विसंगतियों को वसुबन्धु और प्रत्ययवादी दर्शनों के आचार्यों ने उजागर किया है। वे सर्वविदित हैं और यहाँ उन्हें दुहराना अनावश्यक है। पदों और वाक्यों के सम्बन्ध तथा अवधारणाओं और निर्णयों के सम्बन्ध की

नैयायिकों की संकल्पना में यही तर्कदोष दिखलाई पड़ता है। उनके विचार में अनेक इकाइयाँ अपनी व्यक्तिगत सत्ताओं को भी सुरक्षित रखती हैं और फिर भी किसी अव्याख्येय ढंग से एक वृहत्तर इकाई में विलीन हो जाती हैं। वाक्यार्थ के विषय में भी वे आत्मतुष्ट भाव से यह मान लेते हैं कि विभिन्न अर्थ किसी न किसी प्रकार से एक सांश्लेषिक समग्रता में मिल जाते हैं। वे एकत्व को बहुत्व का परिणाम बना देते हैं। भर्तृहरि इस तर्काभास से धोखा नहीं खाते। वे यथार्थवादी की अपेक्षा सूक्ष्मतर अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि एकत्व कोई परवर्ती घटना नहीं है। यह तो प्रारम्भ से विद्यमान है, जिसका अन्वेषण अन्त में होता है। चिन्तन-व्यापार में अनेक पड़ावों की प्रतीति होती है; किन्तु उसका चरम बिन्दु निर्विवाद रूप से एकत्व का ग्रहण व अन्तःप्रज्ञात्मक प्रकाश का स्फुरण है। यह खण्डयुक्त कार्यव्यापार का परिणाम नहीं; अपितु सर्वथा भिन्न तथ्य है[1]। यह अग्नि की ज्वाला की भाँति एकदम से प्रकट होता है और विश्लेषणात्मक चिन्तन-प्रक्रिया से इसमें कुछ भी समान नहीं है, यद्यपि वह इसके दर्शन में सहायक है[2]। यह अव्यवहित तथा सुनिश्चित एवं विलक्षण है। यह बौद्धिक निर्णय नहीं; अपितु प्रबोधन है। यह एकात्मक उद्भास विभिन्न अवधारणाओं को व्याप्त कर लेता है और वे मात्र शोभा की वस्तुएँ हो जाती हैं[3]। यह प्रकाश या प्रतिभा कोई सुविचारित चिन्तन-प्रक्रिया नहीं है, जैसा शायद नैयायिक समझता है। वाक्य का अर्थ अन्ततः यही अन्तःप्रज्ञात्मक स्फुरण है, जो विविध पदार्थों के साहचर्य के कारण विविध रूप धारण करता हुआ अनुभूत होता है। यह कोई अव्याख्येय रहस्य या चमत्कार नहीं है[4]; अपितु पिछले संचित अनुभवों का फल है। यह **प्रतिभा**, शब्द के स्वरूपतः उपस्थित होने पर साक्षात् शब्द से, और उसके अनुपस्थित होने की स्थिति में उसके द्वारा छोड़े गये अचेतन संस्कारों से उत्पन्न होती है[5]।

---

१. विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते। —वा० प० २.१४५।

२. (क) उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्नं विषयत्वेन वर्तते॥ —वा० प०, २.१४७।

(ख) विच्छिन्नप्रतिपत्तीनामपि च पदार्थानां किं कथमनुसन्धीयेत, विचारविकल्पाऽप्रत्यवमृष्टपूर्वशक्तिः समाविष्टपूर्वशक्तिप्रतिभासेव…… । —वि॰ वि०, पृ० २४९।

३. विच्छिन्नप्रतिपत्तीनां तापह्लदतोयादीनां सहसोपश्लेषं विदधाति।
—न्या० कु०, पृ० २५२।

४. न चेयमाकस्मिकी न वाऽप्रमाणभूता…… । —वही।

५. (क) साक्षाच्छब्देन जनिता भावनानुगमेन वा।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते॥ —वा० प०, २.१४८।

(ख) किं पुनरस्या निमित्तम् शब्दः। तत्र व्युत्पन्नानां साक्षाद्भावनामुखेन वाऽप्रसिद्धशब्दनिबन्धनव्यवहाराणां बालानामनादिशब्दभावना। —वि० वि०, पृ० २४८।

हम पहले कह चुके हैं कि शब्द चैतन्य है और चैतन्य ही शब्द है। फिर भी व्यावहारिक चिन्तन में इस शब्द-चैतन्य को बुद्धि के वैचारिक रूपों (categories of understanding)—जिन्हें काण्ट ने उपस्थापित किया है—और व्यावहारिक अवधारणाओं द्वारा परिभाषित और परिसीमित किया जाता है। पूर्ण चैतन्य के निश्चित सन्दर्भों एवं स्थितियों के प्रसंग में यह सीमाबद्धता ही व्यावहारिक निर्णयों को सम्भव बनाती है; किन्तु यह स्मरणीय है कि वस्तुनिष्ठ निर्देश की दृष्टि से इन अवधारणाओं अथवा निर्णयों में किसी की भी चरम प्रामाणिकता नहीं है। यह विविध रूपों और व्युत्पत्तिकों वाली एक आद्य अविद्या की सृष्टियाँ हैं और यथार्थ वस्तुनिष्ठ सामग्री पर आधारित प्रतीत होती हैं। वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ सत्य का विभाजन भी इसी मौलिक अविद्या का परिणाम है। उनके व्यावहारिक महत्त्व पर आपत्ति न होने पर भी, वास्तविकता में कर्ता अथवा विषय में से किसी की भी तात्त्विक प्रामाणिकता नहीं है। यह निष्कर्ष तत्त्वमीमांसीय दृष्टि पर आधारित होते हुए भी तथाकथित व्यावहारिक निर्णयों के विश्लेषण द्वारा भी पुष्ट होता है। जैसा हम देख चुके हैं, वाक्य का वास्तविक अर्थ तो एक अन्तःप्रज्ञात्मक प्रकाश है; इससे सामयिक रूप में उत्पन्न होने वाला निर्णय केवल अविश्लेषणीय निरवयव प्रज्ञा का एक आवश्यक उपाय एवं सोपान है। यथार्थवादी ने तर्क दिया है कि इस निष्कर्ष का अर्थ यह हुआ कि चिन्तन का स्वयं अपने अतिरिक्त अन्य कोई विषय ही नहीं है और यह सर्वथा अनर्गल स्थिति है। वैयाकरण-दार्शनिक इस अभियोग को स्वीकार करेगा। यह अभियोग वाक्यार्थ की अविचारित, सतही एवं अयथार्थ समझ पर आधारित है। यथार्थवादी पदार्थों एवं विषयों के सतही आभास से भ्रमित होकर तथाकथित वस्तुनिष्ठ निर्देश के निहितार्थ की गहराई से जाँच करने का प्रयास नहीं करता। वैयाकरण के पक्ष की सत्यता और न्याय्यता नितान्त सामान्य दैनन्दिन कथनों के अर्थों का भी विश्लेषण करने पर स्वतः स्पष्ट हो जाएगी।

सर्वप्रथम हम एक ऐसे व्यावहारिक वाक्य का परीक्षण करेंगे, जो किसी व्यक्ति को कर्तव्य-रूप में कोई कार्य करने के लिये प्रेरित करता है। इसके लिये हम एक वैदिक विधिवाक्य को लेते हैं: 'स्वर्ग की प्राप्ति के इच्छुक को अग्निष्टोम यज्ञ करना चाहिए'। एक क्रिया करने की अन्तःप्रज्ञा के अतिरिक्त—जो निःसन्देह एक फल और उसकी प्राप्ति के साधन के निर्देश द्वारा परिसीमित है—इसका और क्या अर्थ है? कोई यथार्थ वस्तु इस वाक्य का विषय नहीं है और यह अन्तःप्रज्ञा ही इसका वास्तविक अर्थ है। यह मूलतः विषयरहित प्रतिभा है। यह कहा जा सकता है कि यह प्रतिभा एक क्रिया का निर्देश करती है और वह क्रिया ही इसका विषय है; किन्तु यह परिकल्पना सर्वथा अयुक्तियुक्त है। किसी भी वास्तविक क्रिया में समय-विभाजन का निर्देश होना चाहिए। क्रिया वर्तमान, भूत या भविष्यत्कालिक हो सकती है; किन्तु प्रस्तुत विधिवाक्य में निर्देशित क्रिया वर्तमान, भूत या भविष्यत्कालिक व्यापार नहीं है। सहायक निपात—'चाहिए'—किसी वर्तमान, भूत या भविष्यत् क्रिया के साथ अन्वित नहीं हो सकता। प्रत्येक स्थिति में क्रिया का रूप

भिन्न होता है। यदि समय-विभाजन विवक्षित होता, तो क्रिया की अभिव्यक्ति 'करता है', 'किया' अथवा 'करेगा' इस रूप में होती। सो, 'करना चाहिए' इस शब्दरूप से किसी कालिक निर्देश का ग्रहण नहीं हो सकता। यदि कोई क्रिया इसके द्वारा सूचित होती भी है, तो वह कालातीत कृत्य होगा, जो कि अनर्गल है। अ-कालिक क्रिया एक मिथ्या-कल्पना है और इसलिये इसे वाक्य का विषय कहने का अर्थ होगा कि वाक्य का कोई वास्तविक विषय है ही नहीं[1]।

कहा जा सकता है कि विषयरहित कथन और अवास्तविक क्रियावाले विधि-वाक्य की कोई तार्किक वैधता नहीं हो सकती; किन्तु यह कोई आपत्ति ही नहीं है; क्योंकि वैयाकरण शाब्द-कथनों एवं तथाकथित तार्किक निर्णयों की तार्किक वैधता का कोई दावा प्रस्तुत नहीं करता। लेकिन अपनी तार्किक वैधता के अभाव में यह सांकल्पिक क्रिया को कैसे प्रेरित कर सकता है? यह प्रश्न क्रिया के स्रोतों के स्वरूप की गलत समझ से उठा है। तार्किक प्रामाणिकता सांकल्पिक क्रिया की समस्या से सर्वथा असम्बद्ध है। संशय एवं भ्रान्ति ही व्यावहारिक महत्त्व से शून्य हैं। संशय संकल्प को स्थगित करके गतिरोध उत्पन्न करता है और भ्रान्ति निराशा को उत्पन्न करके सांकल्पिक यत्न को विफल करती हैं; किन्तु अन्तःप्रज्ञात्मक प्रकाश या प्रतिभा जिसे वाक्य का अर्थ कहा गया है, न तो संशयात्मक है, न भ्रान्त्यात्मक। इसे संशय नहीं कह सकते; क्योंकि यह एक निश्चित तथ्य का निश्चित बोध है। यह भ्रान्ति भी नहीं है; क्योंकि यह किसी परवर्ती क्रिया द्वारा बाधित नहीं होती, इसके विपरीत यह क्रिया की सार्वत्रिक शर्त है। जैसा कि हम अगली पंक्तियों में स्पष्ट करेंगे। क्रिया मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता के कारण प्रतिभा का अनुसरण करती है। किन्तु भ्रान्ति या संशय में से कहीं भी वर्गीकृत न होने पर भी यह तार्किक प्रामाणिकता का दावा नहीं कर सकती; क्योंकि इसमें निहित वस्तुनिष्ठ निर्देश का कोई सत्तामूलक आधार नहीं है[2]।

भर्तृहरि की यह मान्यता अवश्य ही हमारे सहजबोध को झटका देगी कि समस्त क्रिया-कलाप अव्यवहित प्रतिभा का सीधा परिणाम है और निर्णयात्मक चिन्तन केवल इसीलिये प्रभावी है; क्योंकि यह हमें वस्तुस्थिति को एक झटके में समझ लेने वाली अन्तःप्रज्ञा तक ले जाता है। हम प्रवृत्तिवश क्रिया को पर्यालोचन एवं तर्क-वितर्क के साथ जोड़ते हैं। भर्तृहरि इसे अस्वीकार नहीं करते कि ऐसे मामलों में निर्णय अन्तःप्रज्ञा के पूर्व आता है; किन्तु न तो अन्तःप्रज्ञा और न ही क्रिया, उस धीमी बौद्धिक गतिविधि का साक्षात् परिणाम हैं, जो किसी विशेष क्रिया-पद्धति के

१. नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा। क्रियाविषयत्वे हि क्रियाप्रतीतिः स्यात्। —वि. वि., पृ. २४६-४७.

२. सा च प्रवृत्तिहेतुः। अप्रमाणं न व्यवहाराङ्गम्। संशयविपर्ययौ हि तथा। न होदमित्थमनेन कर्तव्यमित्यनुपजातप्रतिभाभेदः प्रवर्तते प्रत्यक्षाद्यवगतेऽप्यर्थे।—वि.वि., पृ. २४७.

पक्ष-विपक्ष के मनन में निहित है। बौद्धिक प्रक्रिया की तुलना एक ऐसी स्थिति से की जा सकती है, जहाँ हम मानो अँधेरे में टटोलते हैं और अटकते हैं और फिर अचानक अन्तर्दृष्टि के एक सुखद स्पर्श से तथ्य हमारे समक्ष प्रकाशित हो जाता है। यह जो 'कुछ होने' की प्रतीति होती है, वह एक आकस्मिक उपलब्धि है, स्वतःस्फूर्त प्रतिभा है। यही आकस्मिक अप्रत्याशित और अविमर्शित निर्णय क्रिया को सम्भव बनाता है। इसीलिये भर्तृहरि इस प्रतिभा के विना किसी भी क्रियाविधि का ज्ञान असंभव बताते हैं। जाने या अनजाने प्रत्येक व्यक्ति इसके द्वारा दिखाए हुए मार्ग का अनुसरण करता है और इस प्रकार यह व्यवहारतः क्रिया और उसकी अभिज्ञा का कारण है। पर्यालोचन कितना भी हो, किन्तु ज्ञान-प्रक्रिया या इतिकर्तव्यता कोई विमर्शपूर्वक सम्पादित प्रक्रिया नहीं है। यह सहज व आकस्मिक है। सम्भव है कि यह अतीत की सुदीर्घ चिन्तन-प्रक्रिया और अभ्यास का परिणाम हो; ऐसा लगता है कि स्वयं भर्तृहरि भी इसका अनुमोदन करते हैं; किन्तु हमारी वर्तमान चेतना के समक्ष यह सारी तैयारी स्पष्ट नहीं है और कितनी भी अतिरञ्जित कल्पना अथवा तर्कणा का उपयोग करके भी चरम अन्तःप्रज्ञा का बौद्धिक प्रक्रिया से कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता, भले ही तथ्यतः बौद्धिक प्रक्रिया इससे पूर्व घटित होती है[1]।

सहज क्रिया (reflex action) और मूलप्रवृत्तिक प्रतिक्रिया (instinctive reaction) से यह मान्यता पुष्ट होती है कि क्रिया किसी जटिल तर्कणा का परिणाम नहीं है; अपितु प्रसंगगत स्थिति के प्रातिभ ज्ञान के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। वागिन्द्रिय की प्रथम चेष्टा अथवा प्राणवायु का नासाछिद्रों में से संचालन और स्वरतन्त्रियों पर इसका आघात निश्चय ही किसी जटिल बौद्धिक प्रक्रिया के परिणाम नहीं हैं। इन क्रियाओं को मात्र अचेतन या अनायास कहकर टाल देना भी कोई समाधान नहीं है। आखिर, ये क्रियाएँ चेतन कर्ताओं में घटित होती हैं, जिनकी चेष्टाओं और चालक-क्रियाओं को जड़ मशीनों के क्रिया-कलाप से पृथक् करके देखना चाहिए। इन क्रियाओं का सचेत प्राणियों में घटित होना और इनमे एक निश्चित सोद्देश्यता की अभिव्यक्ति इनकी अचेतनता का निषेध करने के लिये पर्याप्त हैं। स्वचालित यन्त्र की सोद्देश्य क्रिया का कारण किसी विवेकवान् प्राणी की पूर्वदृष्टि है, जो अपनी योजना और प्रयोजन के अनुकूल यन्त्र-रचना का निर्माण करता है। किन्तु तथाकथित सहज क्रियाओं और मूलप्रवृत्तिक व्यवहार का प्रयोजनमूलक अभिप्राय किसी विजातीय कर्ता की योजना में नहीं खोजा जा सकता। सोद्देश्यता का कारण आवश्यक रूप से सप्राण अवयवी में निहित होना चाहिए और उसके भीतर कार्यरत मानसिक उपकरण में खोजा जाना चाहिए। वैज्ञानिक का यह स्पष्टीकरण दोषपूर्ण तत्त्वमीमांसा पर आधारित है कि यह योजना बदलते हुए परिवेश के प्रति अनुकूलन की आवश्यकता

---

१. ....विचारविकलाऽप्रत्यवमृष्टपूर्वशक्तिः समाविष्टपूर्वशक्तिप्रतिभासेवोदीयमाना........ ।

—वि. वि., पृ. २४९.

से उत्प्रेरित आनुवंशिक आदतों से उत्तराधिकार में मिलती है। यह अधिक से अधिक एक प्राक्कल्पना है, जिसे अन्तिम निष्कर्ष या एकमात्र समाधान नहीं कहा जा सकता। किसी घटना का स्पष्टोकरण ऐसे कारण के माध्यम से करना, जो इससे काल एवं देश के काफी लम्बे अन्तराल एवं स्थान परिवर्तन के पृथक् है, दोषयुक्त तत्त्वमोमांसा है। कारण एवं कार्य एक ही आश्रय में सहवर्ती होने चाहिए। यदि यह भी मान लें कि विचाराधीन क्रियाएँ मानसिक की अपेक्षा दैहिक अधिक हैं, तो भी इन क्रियाओं की सोद्देश्य प्रकृति अपने सचेतन स्वरूप के अनुकूल कुछ अधिक समन्जस स्पष्टीकरण की अपेक्षा करती है, चेतन कर्ता की सहजात क्रियाओं की व्याख्या दूरस्थ पूर्वजों के प्रयोजन के सन्दर्भ में किया जाना एक कठिन समस्या को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करता। एक विशेष वर्ग या परिवार में बालक का जन्म मात्र सांयोगिक नहीं कहा जा सकता। यदि यह संयोग भी हो, तो भी यह बालक के लिए महत्त्वपूर्ण परिणाम वाला है और उसकी जीवन-यात्रा की मूलभूत दिशा के लिए उत्तरदायी है। पिता के पाप बालक को मिलते हैं, ऐसा कहना गैर जिम्मेवार बयान है और गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता। यह नैतिक दायित्व के मूल पर ही आघात करता है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यह मानना अधिक उपयुक्त है कि बालक अपने विगत कर्मों का फल प्राप्त करता है और वही अपनी भावी बुद्धिमत्ता अथवा मूर्खता के लिए उत्तरदायी होगा। इसके अतिरिक्त मनुष्यों में एवं पशु-पक्षियों में निहित चेतन जीवन में प्रकार-भेद मानकर उनका सीमांकन करना निष्पक्ष चिन्तन से प्रेरित नहीं है; अपितु पूर्वाग्रह-ग्रस्त है। यह सही है कि बौद्धिक विकास की पराकाष्ठा विवेकशील प्राणी के रूप में स्वीकृत मनुष्य-जाति में व्यक्त होती है। बौद्धिक विकास की अभिव्यक्ति अवधारणात्मक चिन्तन और तर्कणा की विस्तृत प्रक्रियाओं में होती है और अवमानवीय प्राणि-जगत् में इस सामर्थ्य का कोई निर्भ्रान्त साक्ष्य नहीं मिलता; किन्तु चैतन्य और बौद्धिक क्रिया केवल पर्याय नहीं हैं; अपितु उनका कोई एक मिलन-बिन्दु होना भी आवश्यक नहीं है। यह सच है कि मनुष्य ने काव्य, तत्त्वमीमांसा, विज्ञान एवं धर्म का सृजन किया है। उच्चतर मूल्यों की चेतना मानव-जाति का विशेषाधिकार है। इन उच्चतर शक्तियों—बौद्धिक, नैतिक एवं सौन्दर्यपरक—का अधिष्ठान निम्नतर प्राणियों में खोजना शुद्ध हठधर्मिता होगी; किन्तु निम्नतर प्राणियों में चैतन्य के अल्पतम अंश को भी नकारना और समस्त जीवधारी प्राणियों में समान आधार की उपेक्षा करना भी उतना ही अविचारपूर्ण होगा। मानव को बौद्धिक या नैतिक पूर्णता का प्रतिमान नहीं माना जा सकता। 'परे' कुछ होने का और एक अप्राप्त स्तर का भाव एकदम स्पष्ट है। भारतीय और योरोपीय दार्शनिकों ने समान रूप से स्वीकार किया है कि मानव उच्चतर सत्य को शुद्ध एवं असंकीर्ण अन्तःप्रज्ञा पाने में नितान्त असमर्थ है। अभी भी हमारे दर्शन की परिणति—अविश्वास व संशयवाद में चाहे न भी मानें—अनिर्णय और अनिश्चय में होती है। काण्ट का कहना है कि मानवीय बुद्धि आत्म-तत्त्व की अन्तर्दृष्टि को पाने में असमर्थ है; क्योंकि आत्म-तत्त्व चिन्तन के प्रवर्गों से परे है। हमारा ज्ञान हमारे अपने बारे में भी अनिश्चित, विशृङ्खल और भ्रामक है। जो भी

हो, रहस्यवादियों द्वारा वर्णित और उपनिषद् आदि धर्मग्रन्थों में प्रतिपादित आत्मा का स्वरूप अधिकांश मानव-जाति के लिए असाक्षात्कृत ही रहेगा। इसके अतिरिक्त विस्तार, सूक्ष्मता और प्राञ्जलता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का बौद्धिक और आत्मिक विकास भिन्न है। प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति अपने साथ के लोगों की अपेक्षा अपरिमेय रूप से श्रेष्ठ होता है; किन्तु बौद्धिक, नैतिक व सौन्दर्यपरक शक्तियों में विस्मयावह भेद के बावजूद मानव-मन की मूलभूत एकता और मानव-प्रकृति की चारित्रिक समानता संदेहास्पद या अस्वीकरणीय नहीं है। इस भेद को प्रकारगत न मानकर मात्राभेद ही मानना उपयुक्त है।

अब यदि हम इसी कसौटी को लागू करते हुए अपनी दृष्टि का विस्तार करें और अपने मानस को परम्परागत पूर्वाग्रहों व आत्मतुष्ट पूर्वधारणाओं से मुक्त रखें, तो सहज ही यह देख सकेंगे कि निम्नतम से उच्चतम तक, प्राणिजगत् के समस्त विस्तार में एक समान चेतना का सूक्ष्मांश विद्यमान है। आदिम मूलप्रवृत्ति (instinct) और उच्चतम अन्तःप्रज्ञा में एक परिवारगत साम्य का दृष्टिगत होना कोई आश्चर्यजनक नहीं। एक औसत मनुष्य को बेहद परेशान करने वाली समस्या प्रतिभाशाली मनुष्य की पकड़ में तुरन्त आ जाती है। जिस बात को औसत बुद्धि अत्यन्त आयास के बाद समझ पाती है, उसी को प्रतिभाशाली व्यक्ति मानो प्रतिभा के अचानक स्फुरण के द्वारा जान लेता है। इस बौद्धिक अन्तर्दृष्टि के मूल में निहित जटिल प्रक्रिया और तैयारी प्रतिभाशाली व्यक्ति के प्रसंग में प्रत्यक्ष नहीं है; किन्तु अन्तिम परिणाम—सत्य की पकड़—में कहीं कोई भेद दिखलाई नहीं देता। यद्यपि एक उदाहरण में बुद्धि के कार्य करने की प्रक्रिया लम्बे आयास वाली है और दूसरे में अस्तित्वहीन ही है; किन्तु दोनों की परिणति एक प्रतिभात्मक समझ है।

भर्तृहरि हमारे बौद्धिक चिन्तन के अन्तिम फल पर जोर देते हैं। ऐसा लगता है कि उनके मतानुसार सत्य की समझ तथा अन्त र्दृष्टि व अन्तःप्रज्ञा, जो इस समस्त क्रिया-कलाप की अनिवार्य चरम परिणति और पूर्णता है, पूर्वगत चिन्तन-प्रक्रिया के साथ न तो कारणात्मक रूप से सम्बद्ध है और न सत्तामीमांसीय दृष्टि से एक-तत्त्वात्मक है। पूर्वगत चिन्तन-प्रक्रिया इसका उपाय तो है; किन्तु दोनों तत्त्वतः भिन्न हैं। पक्षी सरलता से आकाश में उड़ लेता है, जबकि मनुष्य वही कार्य वायुयान से करता है—पूर्वगत प्रक्रिया भिन्न होने पर भी परिणाम वही है। भर्तृहरि जब प्रतिभा की अवधारणा की व्याख्या सहसा उद्भास की क्रिया के रूप में करते हैं, तो वे इसके पूर्वभावी प्रारम्भिक अभ्यास को महत्त्व देने की चिन्ता नहीं करते। इसीलिए वे विस्तृत चिन्तन-प्रक्रिया से प्रतिफलित प्रतिभात्मक प्रकाश के साथ निम्नतर प्राणियों की तथाकथित मूलप्रवृत्तिक क्रियाओं की तुलना को असंगत या प्रतिष्ठा के विपरीत नहीं समझते। बर्गसां की भाँति ही वे प्रतिभा की तुलना मूलप्रवृत्ति से करते हैं। भर्तृहरि के पक्ष को बर्गसां से पृथक् करने वाला उनका यह स्पष्ट कथन है कि मूल-प्रवृत्तिक क्रिया स्थिति की सचेतन समझ को प्रदर्शित करती है। इस विषय पर मतभेद

सम्भव है; किन्तु भर्तृहरि यहाँ बिल्कुल स्पष्ट व निश्चित हैं और हमने उनकी व्याख्या उन्हीं के शब्दों में की है।

शायद यह मात्र संयोग हो कि भर्तृहरि ने अवधारणात्मक चिन्तन से प्रतिफलित बोध के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया है, वही शब्द भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में कविदृष्टि की संज्ञा बना है। कवि की दृष्टि को प्रतिभा कहा गया है और जगन्नाथ के वर्णनानुसार, यह अनुकूल भाव एवं पदयोजना की स्वतःस्फूर्त, अव्यवहित व अचिन्तित प्रस्तुति, है जो कवि के वचनों को कलात्मक उत्कर्ष प्रदान करके वैशिष्ट्य की छाप लगाती है[1]। यह कोई परासामान्य शक्ति है या सामान्य अन्तःप्रज्ञा का समुन्नत रूप? इस तत्त्वमीमांसीय प्रश्न से जगन्नाथ नहीं उलझते। वे प्रतिफल की दृष्टि से इसकी व्याख्या करते हैं। न्यूनतर प्रतिभा वाला व्यक्ति भी परीक्षण-त्रुटि-सम्मार्जन के प्रयोगों में अपेक्षित कठिन श्रम के माध्यम से उत्तम काव्य की रचना कर सकता है। जगन्नाथ की रुचि प्रक्रियावस्था में उतनी नहीं, जितनी अन्तिम परिणाम में है। कवि को सही और उपयुक्त भाव और शब्द का चुनाव करना होता है और इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता कि वह इस सुखद लक्ष्य तक अनायास पहुँचता है या सचेत आयास और माथा-पच्ची के बाद। अवश्य ही कवि की भाषा-सामर्थ्य औसत व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न और कहीं श्रेष्ठ हैं; किन्तु अन्तिम अर्थ की खोज की दृष्टि से उनमें एक सादृश्य है। यह खोज अपनी चरमावस्था में अन्तःप्रज्ञात्मक उपलब्धि है, जो तार्किक विश्लेषण का विषय नहीं है।

मानव-मस्तिष्क की समानता का एक स्पष्ट प्रमाण इससे मिलता है कि क्रोचे ने भी कविदृष्टि, या वस्तुतः कलाकार की दृष्टि, को अन्तःप्रज्ञा (intuition) कहा है। कला-प्रतिभा का वर्णन अन्तःप्रज्ञा की शक्ति के रूप में किया गया है। हम देख चुके हैं कि यही भारतीय काव्यशास्त्रियों का मत है। हम यह भी देख चुके हैं कि अन्तःप्राज्ञिक ज्ञान की यह क्षमता स्वयं में चेतन जीवन के साथ समसीम है। इसे प्रतिभा कहा गया है, जो समस्त सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्रिया का निमित्त एवं निष्कर्ष है। भर्तृहरि पशु की एवं मनुष्य की अन्तःप्रज्ञा में भेद नहीं करते और दोनों को स्वरूपतः अभिन्न तत्त्व मानते हैं। क्रोचे यद्यपि पशु के व्यापार को स्पष्टतः अन्तःप्रज्ञा के क्षेत्र में समाविष्ट नहीं करते, फिर भी वे कवि-प्रतिभा को सामान्य मनुष्य की अन्तःप्रज्ञा से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न वस्तु मानने के लिये तैयार नहीं हैं। वे इस भेद को गुणात्मक नहीं, अपितु परिमाणात्मक मानते हैं। अपने पक्ष में हम क्रोचे के ही शब्दों को उद्धृत कर रहे हैं :

"न ही हम यह मानने को तैयार हैं कि **प्रतिभा** (genius) या कलाकार की प्रतिभा जैसे शब्द, साधारण जन की अ-प्रतिभा से पृथक् रूप में, परिमाणात्मक वैशिष्ट्य से अधिक किसी अर्थ के बोधक हैं। कहा जाता है कि महान् कलाकार हमें

---

१. सा च काव्यघटनानुकूलः शब्दार्थोपस्थितिः। —रसगंगाधर, पृ. ९.

हमारे ही सम्मुख उद्‌घाटित करते हैं, किन्तु ऐसा कैसे सम्भव था, यदि उनकी और हमारी कल्पना की प्रकृति एक ही न होती और इनका भेद केवल परिमाण का ही भेद न होता?..........इस परिमाणात्मक भेद को गुणात्मक भेद मान लेने से ही 'प्रतिभा का पंथ' अपने सभी संलग्न अन्धविश्वासों के साथ उद्‌भूत हुआ है। यह भुला दिया जाता है कि प्रतिभा कोई स्वर्ग से उतरी वस्तु नहीं है; अपितु मानव-धर्म ही है। जो प्रतिभावान् मनुष्य मानवता से पृथक् होने का दिखावा करता है या उस प्रकार से दिखाया जाता है, तो उसका दण्ड उसे इस रूप में मिलता है कि वह किसी हद तक हास्यास्पद बन जाता है[1]।"

भर्तृहरि और क्रोचे इस विषय में पूर्णतः एकमत हैं कि अन्तःप्रज्ञात्मक प्रतिभा सदैव चेतन होती है। भर्तृहरि की प्रतिभा और क्रोचे की अन्तःप्रज्ञा अन्धयान्त्रिकता नहीं हैं; अपितु तथ्य की चेतन पकड़ हैं[2]।

एक अन्य विषय का भी उल्लेख करना हमें आवश्यक प्रतीत होता है। अपने उदात्ततम रूप में प्रतिभा को ब्रह्म की दैवी अन्तःप्रज्ञा, अर्थात् पश्यन्ती से अभिन्न माना गया है; किन्तु भर्तृहरि इसे पशु-पक्षियों की मन्दतम अन्तःप्रज्ञा के समकक्ष रखने में भी किसी संकोच का अनुभव नहीं करते। वे कवि की प्रतिभा की ओर अवश्य संकेत नहीं करते, फिर भी औसत मनुष्य के अन्तःप्राज्ञिक ज्ञान के साथ कलात्मक प्रतिभा की सजातीयता देखने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुयायियों की भाँति प्रतिभा को अन्तःप्रज्ञा का दैवी साधन माननेवाले महिमभट्ट स्पष्ट शब्दों में कवि-प्रतिभा को इसके सदृश बताते हैं। सत्य की कवि की दृष्टि साक्षात् अन्तःप्रज्ञा है। अतः यह सत्य को उसकी समग्र विशिष्टता में प्रत्यक्ष करती है और कवि के पाठक के मस्तिष्क में भी ऐसे प्रतिभात्मक ज्ञान को उत्पन्न करती है। इसलिए यह उस धुँधले अवधारणात्मक ज्ञान से भिन्न है, जो हमारे भीतर वैज्ञानिक या दार्शनिक रचना के शाब्दिक प्रस्तुतीकरण द्वारा उत्पन्न होता है[3]।

५. वेदान्ती-मत

वाक्यार्थ के सम्बन्ध में वैयाकरण-मत के विवेचन के प्रसंग में हमने अन्य दार्शनिक मतों की भी तुलना की है; किन्तु इसी प्रसंग में यदि हम वेदान्ती के मत की चर्चा न करें तो यह विवेचन अधूरा ही रहेगा। इस मत के अनुसार वाक्यों की एक कोटि ऐसी भी है, जिसका अर्थ विशुद्ध स्वरूप, अर्थात् अखण्डार्थ की अभिव्यक्ति है। वैयाकरण एवं वेदान्ती-मतों की प्रणाली भिन्न होने पर भी अन्तिम अर्थ के विषय में उनमें गहरी समानता है। दोनों मत इस दृष्टि से विशिष्ट हैं कि वे

---

१. Aesthetic, पृ. १४.
२. Aesthetic, पृ. १५.
३. व्य. वि., पृ. ३९०-९१.

वाक्यार्थों की तार्किक उपयोगिता के रूढ़िगत मूल्याङ्कन से हटकर अपनी असाधारण मौलिकता प्रदर्शित करते हैं। वेदान्ती का कथन है कि किसी औपचारिक वाक्य का अर्थ अपनी प्रकृति में आवश्यक रूप से निर्णयात्मक नहीं होता और ऐसा कहते समय उसके विश्वास की दृढ़ता स्पष्ट परिलक्षित होती है, जिसका साम्य केवल अभी-अभी समीक्षित वैयाकरण-मत में मिलता है। वाक्य की उपयोगिता का निर्णय के साथ समीकरण एक चिरप्रचलित रूढ़ि है और इसके व्यतिक्रम से दार्शनिकों की आत्म-मुग्धता को आघात लगना अनिवार्य है। इसलिये शास्त्रानुसारी दार्शनिकों द्वारा इस मत पर कठोरतापूर्वक आक्षेप किया जाना कदापि आश्चर्यजनक नहीं है। सौभाग्य से, सम्प्रदायबद्ध दार्शनिक की परम्परानिष्ठता की प्रतिज्ञा से मुक्त होने के कारण हम इस विषय को तटस्थ दृष्टि से देखने तथा प्रस्तुत मत का शान्त और निष्पक्ष विवेचन करने की स्थिति में हैं। हमने वैयाकरण-मत के तात्पर्य को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है; यह मत पूरी तरह समझे विना बदनाम किया गया है। अब हम वेदान्ती के मत का मूल्याङ्कन करेंगे।

शंकर के अद्वैत-सम्प्रदाय का वेदान्ती यह मानता है कि ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान इसे परिभाषित करने वाले उपनिषद्-वाक्यों द्वारा प्रदान किया जाता है; किन्तु ब्रह्म तो एक निरवयव अविश्लेषणीय अखण्डता है और आभ्यन्तर एवं बाह्य, सभी प्रकार की विशेषताओं से रहित है। परिभाषा एक ऐसा वाक्य है, जिसमें उद्देश्य के किसी धर्म का विधेयरूप में निर्देश किया जाता है। उपनिषद् की परिभाषाएँ भी उद्देश्य-विधेय-रूप कथनों द्वारा आरोपित सीमाओं से मुक्त नहीं रह सकतीं। यदि यह माना जाता कि ब्रह्म की परिभाषाएँ प्रायोगिक एवं अनन्तिम संकेतक हैं, कि इसके वास्तविक स्वरूप का पूर्ण आभास उनकी सीमा से बाहर है और, कि इस प्रकाश की प्राप्ति के लिये शब्दों की सहायता से निरपेक्ष अन्य प्रमाणों का आश्रय लेना आवश्यक है, तो अखण्डार्थ की अन्तर्दृष्टि प्रदान करने में भाषा की सामर्थ्य का प्रश्न ही निष्कारण होता; किन्तु सबसे सरल होने पर भी विवरण-सम्प्रदाय के वेदान्तियों ने इस मार्ग का त्याग किया है। उनका दृढ़ मत है कि चरम सत्य की अन्तःप्रज्ञा केवल उपनिषद्-वाक्यों द्वारा प्रदान की जा सकती है और यही अन्तःप्रज्ञा इन वाक्यों का अन्तिम अर्थ है। विपक्षी सम्प्रदायों के दार्शनिकों के मत में यह कथन श्रुति के शाब्दिक अर्थ के प्रति अतिरंजित निष्ठा का द्योतक है। वे ऐसे अर्थों में शब्द की सामर्थ्य मानने वाले मत को चुनौती देते हैं। वेदान्तियों ने इस चुनौती को स्वीकार किया है। उनके मत में विपक्षी का संशयवाद भाषा की क्षमता के सम्बन्ध में उसके अपूर्ण मूल्याङ्कन से उद्भूत है। अखण्डार्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य केवल वैदिक भाषा तक ही सीमित नहीं; अपितु लौकिक वाक्यों में भी, विशेषतः परिभाषा-वाक्यों में, दिखलाई पड़ती है।

विपक्षी प्रश्न करता है कि वाक्यार्थ के रूप में कल्पित यह विशुद्ध स्वरूप या अखण्डार्थ आखिर है क्या? इसे न तो परिभाषित किया जा सकता है और न ही किसी मान्य प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। मान लें कि 'विशुद्ध स्वरूप' का

अर्थ किसी विभेदक लक्षण से रहित सत्ता है (निर्विशेषवस्तुपरत्वम्)। इस मान्यता को एक उभयपाश की कसौटी पर परखा जा सकता है। क्या शब्द इस निर्विशेष सत्ता को मुख्यार्थ द्वारा अभिहित करते हैं या लक्षणा के द्वारा? प्रथम विकल्प तो सम्भव नहीं; क्योंकि निर्विशेष सत्ता, यदि अस्तित्व में हो तो भी, एक अज्ञात और अज्ञेय तथ्य है और ऐसे अर्थ के साथ शब्द के रूढ़िगत सम्बन्ध का ग्रहण सम्भव नहीं[1]। दूसरा विकल्प भी अनुपयुक्त है; क्योंकि लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ का सम्बन्ध लक्षणा की पूर्वशर्त है। जब मुख्यार्थ ही एक असम्भव कल्पना है, तो किसी अन्य पदार्थ के साथ इसका सम्बन्ध भी उतना ही असम्भव है[2]। यह कहा जा सकता है कि मुख्यार्थ का सम्बन्ध लक्षणा की सार्वत्रिक शर्त नहीं है। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच कोई अभिज्ञेय सम्बन्ध न होने पर भी वस्तुस्थिति अथवा परम्परा से संचित मानवीय ज्ञान के साथ प्रथम-दृष्ट्या प्रतीत वाक्यार्थ की तार्किक असंगति लक्षणा को अनिवार्य बना देती है। यह दलील उपयुक्त हो सकती है; किन्तु यह भी किसी तर्कविरुद्ध कल्पना को लक्ष्यार्थ सिद्ध नहीं कर सकती। हर हालत में, अनुभव और तार्किक नियमों द्वारा अविसंवादित तथ्य ही मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ हो सकता है। अतः लक्षणा द्वारा किसी निर्विशेष सत्ता की अन्तःप्रज्ञा की बात एक नैराश्यजनित युक्ति है।

अब, मान लें कि 'विशुद्ध स्वरूप' का अर्थ निर्भेद सत्ता है। तो फिर, निर्भेदत्व का क्या तात्पर्य है? यदि भेदाभाव से तात्पर्य है, तो क्या यह भेदाभाव अंगभूत विशेषण के रूप में इस सत्ता को विशेषित करता है या आगन्तुक बाह्य निर्धारण (उपलक्षण) के रूप में? दोनों ही स्थितियों में लक्ष्य-वस्तु का बोध विशुद्ध-सत्ता के रूप में न होकर गुणविशिष्ट वस्तु के रूप में होगा। किसी तथ्य का अभाव भी उसके भाव की ही भाँति एक निर्धारण है और इस प्रकार विशेषण-विशिष्ट वस्तु ही वाक्य का अर्थ होगी। यदि कहें कि भेदाभाव केवल विशुद्ध स्वरूप की उपलब्धि का उपायभूत एक आगन्तुक निर्धारण है, तो इससे भी उपलक्षित वस्तु का विशुद्ध-सत्ता के रूप में ग्रहण सम्भव नहीं। आगन्तुक गुण भी ससक्त गुण की भाँति आखिर एक निर्धारण ही तो है। यदि उपलक्षित वस्तु इतर वस्तुओं से व्यावृत्त रूप में गृहीत होती है, तो भी यह एक अविशेषित विशुद्ध सत्ता नहीं रह जाती। दूसरी ओर, यदि निर्धारण उपलक्षित वस्तु का अन्य वस्तुओं से भेद नहीं दिखाता, तो यह सिर्फ एक बेमानी पुछल्ला हो जाएगा[3]। अतः भेदाभाव की सम्भावना को स्वीकार भी कर लें, तो

---

१. तस्यात्यन्तमप्रसिद्धतया सम्बन्धाग्रहणेन पदानां तत्पर्यवसायित्वासम्भवेन लक्षणस्यासम्भवित्वप्रसङ्गात्। —त. प्र., पृ. १०६.

२. अप्रसिद्धत्वादेवाभिधेयाविनाभावस्य लक्षणाहेतोरसम्भवेन प्राचीनदोषानुषङ्गप्रसङ्गात्। —वही.

३. उपलक्ष्यमाणस्य स्वेतरेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतीतावखण्डार्थत्वासम्भवात्। —त. प्र., पृ. १०६.

भी यह विशुद्ध स्वरूप की उपलब्धि का आधार नहीं बन सकता और फिर, पृथक्-पृथक् अपर्याय-शब्दों द्वारा घटित वाक्य एक अखण्डार्थ का अभिधान कैसे कर सकता है? यह माना जा सकता है कि परिभाषा-वाक्य में, पृथक्-पृथक् पदों में पृथक् अर्थों को व्यक्त करने की क्षमता के होते हुए भी अर्थों की योजना इस प्रकार की होती है कि उन सभी का एक शब्दविशेष के अर्थ में लय हो जाता है और, कि इस एकमात्र शब्द का एकमात्र अर्थ सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ बन जाता है। इस प्रकार से एक अर्थ, अर्थात् एकाकी तथ्य में पर्यवसान को अखण्डार्थ या अखण्ड-स्वरूप की अभिव्यक्ति कहा गया है। यह अखण्डार्थ इस अर्थ में है कि अन्य पदों के अर्थ इस स्वरूप में ही विलीन हो गए हैं, अतः वे इसके विशेषक नहीं हैं; किन्तु, यदि परिभाषा में एक ही पद को सार्थक मानेंगे, तो अन्य पदों का प्रयोग व्यर्थ सिद्ध होगा और इस प्रकार परिभाषा ही असम्भव होगी। इसके बचाव में यह तर्क दिया गया है कि भिन्न-भिन्न शब्दों के अपने-अपने अर्थ हैं अवश्य, किन्तु उनका अभिप्राय सर्वथा निषेधात्मक है; क्योंकि उनका उद्देश्य विपरीत अर्थ की व्यावृत्ति करना है। किन्तु निषेधात्मक अभिप्राय का यह तर्क तब तक समझ में नहीं आ सकता, जब तक विवक्षित निषेध को परिभाष्य पद के अर्थ का निर्धारक न माना जाए। यदि यह मान लें कि विपरीतार्थ का निषेध विशेषण का कार्य कर रहा है, तो लक्ष्य पद का अर्थ विशुद्ध स्वरूप न हो कर एक विशेषित तथ्य होगा[1]। यह मानने पर कि परिभाषा एक शब्द के अर्थ में पर्यवसित होती है और वह अर्थ स्वरूपमात्र का प्रतिपादन है, पदान्तर-प्रयोग की व्यर्थता के आरोप से बचना दुष्कर है। अन्तिम विकल्प में, यह माना गया है कि वाक्यार्थ के रूप में प्रस्तुत अखण्डार्थता का अभिप्राय अन्य किसी पदार्थ द्वारा असंसृष्ट, विशुद्ध तथ्य का प्रतिपादन मात्र है, दूसरे शब्दों में, अर्थ एक संसर्गरहित सत्ता है। किन्तु संसर्गरहित सत्ता एक कपोल-कल्पित वस्तु है, जिसका कोई संज्ञान सम्भव नहीं है।

फिर भी, यह दलील दी गई है कि परिभाषा का प्रयोजन मात्र परिभाष्य तथ्य का ज्ञान देना है, अन्य किसी वस्तु का नहीं। किसी तथ्य के बारे में किये गए प्रश्न के कारण इसकी आवश्यकता पड़ती है। बालक का प्रश्न है: 'आकाश की अनेक ज्योतियों में चन्द्र कौन है?' उत्तर मिलता है: 'प्रकृष्टतम प्रकाश वाला चन्द्र है।' प्रश्न का विषय स्वयं तथ्य अर्थात् चन्द्र है; अन्य कुछ भी, उसका गुण अथवा उसका सम्बन्ध, प्रश्न का विषय नहीं है। विशेषण का प्रयोग अन्य ज्योतियों से इसका भेद करने के लिए है और इससे बालक को इसे पहचानने में सहायता मिलती है। इस प्रकार यहाँ चन्द्र की परिभाषा का अर्थ एक विशुद्ध तथ्य है। इसलिए अखण्डार्थक वाक्यों की बात सत्य से दूर नहीं है। यह प्रतिवाद चतुराईपूर्ण तो है; किन्तु प्रत्यायक

---

१. व्यवच्छेद्यभेदादवैयर्थ्यमिति चेन्न। तदनिरुक्तेः। तथा हि, किं व्यवच्छेद्यानां व्यावृत्तयः पदैः प्रतिपाद्यन्ते, अथवा तद्विशिष्टम्, आहोस्विदुपलक्षितं स्वरूपमात्रं वा। तत्र न प्रथमद्वितीयौ। तथा सति संसृष्टार्थत्वेनाखण्डार्थत्वानुपपत्तेः। —त. प्र., पृ० १०७.

नहीं; क्योंकि परिभाषित चन्द्र अन्य ज्योतियों से व्यावृत्त रूप में ही जाना जाता है। यही स्थिति अन्य सभी परिभाषाओं की है। अतः कोई भी वाक्य अखण्डार्थ (अर्थात् विशुद्ध स्वरूप) का बोधक नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदान्ती न तो अखण्डार्थक वाक्य की परिभाषा दे पाता है और न ही इसको सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है[1]।

इस सम्बन्ध में वेदान्ती का उत्तर इस प्रकार है: अखण्डार्थक वाक्यो की परिभाषा न बन पाने का आरोप स्थिति के सही मूल्यांकन पर आधारित नहीं है। अखण्डार्थक वाक्य (अर्थात् विशुद्ध स्वरूप का बोधक वाक्य) की सम्भव परिभाषा के अनुसार यह ऐसा वाक्य है, जो संसर्गरहित तथ्य के प्रामाणिक ज्ञान का कारण है। एक अन्य प्रकार से भो इसे परिभाषित किया जा सकता है। यह एक ऐसा वाक्य है, जहाँ अन्य अपर्याय शब्दों के होने पर भी वाक्य के किसी एक शब्द का अर्थ अन्तिम अर्थ होता है। परिभाषाएँ इस वर्णन से मेल खाती हैं। विपक्षी का यह मानना कि परिभाषा किसी तथ्य को सदृश और असदृश वस्तुओं को व्यावृत्त करके कहती है, उल्टी गंगा बहाना है। इस भ्रान्ति को एक उभयपाश द्वारा दूर किया जा सकता है: क्या वाक्य परिभाषित तथ्य की इतर-व्यावृत्ति को साक्षात् कहता है अथवा तार्किक उपलक्षण द्वारा? जहाँ तक उभयपाशक के प्रथम पाश का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि व्यावृत्ति के साक्षात् कथन का कोई अवसर हो नहीं है; क्योंकि परिभाषा, तथ्य क्या है, इस विषय में भावात्मक कथन प्रस्तुत करती है। उदाहरण के लिए 'प्रकृष्टतम प्रकाशवाली ज्योति चन्द्र है' इस परिभाषा में चन्द्र की चन्द्रेतर से व्यावृत्ति का वाचक कोई भी पद नहीं है। यह सर्वस्वीकृत नियम है कि वाक्य केवल सशरीर विद्यमान शब्दों के ही अर्थों को व्यक्त कर सकता है, शब्द द्वारा अनभिहित अर्थ को नहीं। इस नियम का अनुसरण करते हुए यह मानना पड़ेगा कि व्यावृत्ति अथवा विपरीत तथ्य का निषेध किसी परिभाषा का प्रत्यक्ष अर्थ नहीं हो सकता। जैसा हम कह चुके हैं, परिभाषा किसी भावात्मक तथ्य का कथन 'वह क्या है' इस रूप में करती है, न कि इस रूप में कि 'वह क्या नहीं है'। यदि कहें कि निषेध तर्कगत उपलक्षण द्वारा फलित होता है, तो हम इसका प्रतिवाद नहीं करेंगे; किन्तु इतना ही कहना पर्याप्त है कि उपलक्षण वाक्यार्थ नहीं है। अन्यथा 'गामानय' (गाय ले आओ) जैसे वाक्य में अश्व आदि के निषेध को भी वाक्य का अर्थ माना जा सकता है। यह सही है कि एक तथ्य के कथन में विपरीत का निषेध निहित है; किन्तु यह निहितार्थ एक तार्किक व्यापार है, यह शाब्द अर्थ नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में हमें शबरस्वामी की उक्ति स्मरण

---

१. ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्येषु दृष्टं संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति चेन्मैवम्। लक्षणवाक्यैरपि लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतिपादनात् तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वेन प्रतिपादनाद्वा लक्षणवाक्यानामपि संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः।

—त. प्र., पृ. १०७.

रखनी चाहिए—"शब्द का अर्थ वह है, जो अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात नहीं होता, अर्थतः प्रतीत होने वाला अर्थ शब्द का अर्थ नहीं है।" निषेध की तार्किक विवक्षा वाक्यार्थ का अर्थ है, अतः यह वाक्य का साक्षात् अर्थ नहीं हो सकती[1]।

इस प्रकार, जब विपरीत की व्यावृत्ति वाक्य अथवा उसमें विद्यमान किसी शब्द का साक्षात् अर्थ नहीं हो सकती, तब यह मानना वाक्य के तात्पर्य के अविचारित और अयथार्थ मूल्याङ्कन का ही फल है कि एक वाक्य के रूप में परिभाषा किसी तथ्य को उसके विपरीत तथ्य से विशिष्ट दिखलाते हुए व्यक्त करती है; किन्तु सम्भव है कि फिर विपक्षी इस प्रकार से तर्क करे : विपरीत की व्यावृत्ति को परिभाषा का अर्थ मानने के प्रश्न को हम फिलहाल छोड़ देते हैं; किन्तु निश्चय ही परिभाषाएँ परिभाषित वस्तु की एक धारणा को हमारे समक्ष रखती हैं और इस धारणा के कारण हम उद्देश्य या विधेय के रूप में इसका प्रयोग कर पाते हैं। उदाहरण के लिए, चन्द्र की परिभाषा हमें उस ज्योति के चन्द्र होने के विषय में अवगत कराती है। एक विधिवत् निगमनात्मक तर्क द्वारा यह स्पष्ट किया जा सकता है कि यह परिभाषा का अर्थ है : "वह ज्योति विशेष चन्द्र के रूप में बोध्य है; क्योंकि वह प्रकृष्टतम प्रकाश से युक्त है। जो कुछ भी चन्द्र नहीं है, वह इस प्रकार के धर्म से युक्त नहीं है; किन्तु प्रस्तुत ज्योति इस धर्म से रहित छोटे-छोटे नक्षत्रों की भाँति नहीं है। अतः यह चन्द्र से भिन्न नहीं है"। अतः यहाँ वाक्य का अर्थ एक निर्णय है, जिसमें ज्योति उद्देश्य है और चन्द्ररूप में बोध्य होने का गुण विधेय है। इसलिए अखण्डार्थ को परिभाषा का अर्थ मानने का आग्रह ध्वस्त हो जाता है[2]।

यह तर्क काफी वजनदार लगता है; किन्तु वस्तुतः यह भ्रान्तिमूलक है। 'चन्द्र के रूप में बोध्य है' इस विधेय का आखिर अर्थ क्या है ? क्या इसका अर्थ यह है कि उद्देश्य उस वस्तुसत्ता के रूप में बोध्य है, जो चन्द्र का अर्थ है या, कि यह चन्द्र शब्द द्वारा अभिहित करने योग्य है ? प्रथम विकल्प तो मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि यह 'चन्द्र कौन सा है', इस प्रश्न के साध्य को पूर्वतः सिद्ध मानता है, विपक्षी द्वारा इस पर आरोपित अन्वय यह मानकर किया गया है कि प्रश्नकर्ता को वस्तुगत तथ्य के रूप में चन्द्रमा का पहले से ज्ञान है, जबकि प्रश्न स्पष्टतः यह सूचित करता है कि प्रश्नकर्ता को 'चन्द्र क्या है', इसकी जानकारी नहीं है। केवल वही उत्तर उपयुक्त होगा, जो प्रश्नकर्ता को चन्द्र से परिचित करा सके। उसकी जिज्ञासा चन्द्र के गुण के बारे में नहीं; अपितु उसके स्वरूप के बारे में है। चन्द्ररूप तथ्य का उसे ज्ञान हो जाने

---

१. किं प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं साक्षादन्यतो व्यावृत्तिं प्रतिपादयति किं वा स्वरूपप्रतिपादने-नार्थात्। नाद्यः, व्यावृत्तिप्रतिपादकशब्दाभावात्। नापि द्वितीयः, नान्तरीयकतया सिध्यतोऽर्थस्य शब्दार्थत्वाभावात्। —त. प्र., पृ० १०९।

२. नन्वयं चन्द्र इति व्यवहर्तव्यः प्रकृष्टत्वे सति प्रकाशत्वात्, यन्नैवं न तदेवं यथा नक्षत्रादि, न तथा चायं, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेकितया लक्षणवाक्यं पर्यवस्यति तथा च कथम-खण्डार्थता। —त. प्र., पृ० १०९।

के अनन्तर ही गुण का प्रश्न उठेगा, उससे पूर्व नहीं। इसके अलावा विपक्षी परिभाषा को एक अनुमान के रूप में प्रस्तुत करता है जिसमें चन्द्र एक वस्तुगत तथ्य के रूप में विधेय है। किन्तु अनुमान तभी सम्भव है, जब हेतु के सहवर्ती के रूप में विधेय का पूर्वज्ञान हो और यदि विधेय पहले से ज्ञात हो तो, प्रस्तुत अनुमान तो अनावश्यक एवं व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि यह ज्ञात-तथ्य का ही ज्ञान करायेगा। कहा जा सकता है कि प्रश्न सामान्य रूप में तो चन्द्र के ज्ञान की पूर्वकल्पना करता है, अर्थात् यह ज्ञान तो विद्यमान है कि चन्द्र की धारणा का विषयभूत कोई पदार्थ है; किन्तु साथ ही उसके विशेष स्वरूप का अज्ञान भी विद्यमान है। अनुमान इसी विशेष जानकारी की प्राप्ति के लिये अपेक्षित है; किन्तु सामान्यतः ज्ञात मानने वाली इस दलील का प्रस्तुत प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं। 'चन्द्र की धारणा का अर्थभूत कोई पदार्थ वस्तुजगत् में उपलब्ध है', इस जानकारी से कोई लाभ नहीं, जब तक वह पदार्थ ज्ञात न हो। वस्तुगत तथ्य का ज्ञान हुए विना तो यह धारणा किसी भी अर्थ के साथ जुड़ सकती है। दूसरी ओर, यदि अर्थ का ज्ञान पहले से होता, तो प्रश्न का उठना ही निष्प्रयोजन होता[1]। यदि विपक्षी अभी भी परिभाषा द्वारा तथ्य के अलावा गुण का भी ज्ञान दिये जाने का आग्रह करे, तो हमें यही कहना चाहिए कि वह अत्युक्ति का दोषी है। परिभाषा को उसी तथ्य का ज्ञान प्रस्तुत करना चाहिए, जो पृच्छा का विषय है और यही तथ्य विधेय-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके गुणरूप में यदि कोई अन्य तथ्य विधेय है, तो वह एक अन्य वाक्य में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह असम्भावित है कि एक ही वाक्य दो स्वतन्त्र विधेयों का ज्ञान दे। प्रश्न चन्द्र के स्वरूप के वारे में है, इस स्वरूप को व्यक्त करने भर से इसका उत्तर पूर्ण हो जाता है। इससे अधिक कोई सूचना अनपेक्षित तथा अप्रासङ्गिक है और प्रासङ्गिकता के प्रश्न के अलावा भी, वही वाक्य इसे प्रदान नहीं कर सकता। 'बृहत्तम ज्योति चन्द्र है' यह परिभाषा 'चन्द्र' शब्द के अर्थ को न जानने वाले बालक की जिज्ञासा के उत्तर में प्रस्तुत की गई थी। बालक चन्द्र नाम से व्यवहृत तथ्य को जानना चाहता है और परिभाषा उसे इस प्रकार व्यवहृत ज्योति को पहचानने में सहायक होती है। वाक्य का अर्थ स्वयं तथ्य है और यही प्रश्न का विषय है। 'तुम चन्द्र के बारे में पूछ रहे हो? अच्छा देखो यह चन्द्र है।' उत्तर अब पूर्ण है। यदि कोई अन्य जानकारी, जैसे 'यह चन्द्र है और यह आकार में गोल और चमकदार है', इत्यादि स्वेच्छया दी जाती है, तो वह अतिरिक्त जानकारी होगी। इसके अतिरिक्त, संयुक्त वाक्य (compound proposition) दो वाक्यों का समाहार है, जिनमें प्रत्येक का अपना पृथक् विधेय है। इसमें दो वाक्यों का समावेश है: (क) अमुक-अमुक प्रकार वाला चन्द्र है, और (ख) चन्द्र गोल व चमकदार है। द्वितीय वाक्य अनावश्यक है और प्रश्न के उत्तर की दृष्टि से अप्रासङ्गिक है। यदि दूसरे वाक्य को परिभाषा के अर्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाये, तो यह 'चन्द्र' शब्द का अर्थ न जानने वाले व्यक्ति के लिये दुरूह होगा। अतः विपक्षी को दो में से

---

१. त. प्र., पृ. २०९.

एक विकल्प स्वीकार करना होगा : या तो परिभाषा का कोई अर्थ है, या फिर, कि वह सर्वथा प्रलाप है। प्रश्न और उत्तर का निर्देश एक अभिन्न तथ्य की ओर होना चाहिए। घोड़े के विषय में प्रश्न होने पर गाय की ओर इङ्गित करना सही उत्तर नहीं है।

चन्द्र की परिभाषा का तात्पर्य यह बताया गया था कि बृहत्तम ज्योति चन्द्र-रूप में बोध्य है। हमने 'चन्द्ररूप में बोध्य है' इस विधेय के आशय को स्पष्ट करने का प्रयास किया और पाया कि 'चन्द्र' शब्द के अर्थ को न जानने वाले व्यक्ति के लिए इसका अर्थ वस्तुगत तथ्य नहीं हो सकता। यदि 'चन्द्ररूप में बोध्य है,' इस विधेय को 'चन्द्र शब्द का अभिधेय है' इस अर्थ में ले तो लें, तो भी स्थिति में कोई सुधार आने वाला नहीं है; क्योंकि, वैसी स्थिति में श्रोता को वस्तुगत तथ्य के साथ शब्द के सम्बन्ध का ज्ञान कराना ही परिभाषा का प्रयोजन होगा; किन्तु इस उद्देश्य के लिए परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं। शब्दार्थ जानने के लिए हमें परिभाषा की आवश्यकता नहीं पड़ती[1]। इसके अतिरिक्त, प्रश्न करते समय बालक यह जानना नहीं चाहता कि 'एक ऐसा पदार्थ है, जिसे चन्द्र कहा जाता है' या कि 'चन्द्र शब्द के अभिधेय के रूप में एक पदार्थ बोध्य है,' अपितु वह केवल शब्द के अर्थ को, अर्थात् स्वयं बाह्य तथ्य को ही जानना चाहता है। उसे यह तो पहले ही ज्ञात है कि 'चन्द्र' शब्द द्वारा निर्दिष्ट कोई सत्ता है; किन्तु वह क्या वस्तु है, यह जाने विना उसके ज्ञान में इससे रञ्चमात्र भी वृद्धि नहीं होती। उसका कुतूहल स्वयं सत्ता के बारे में है और यदि वाक्य इस सत्ता को पहचानने में उसका सहायक होता है, तो यही उसकी सार्थकता होगी। चन्द्र क्या है, यह जान लेने पर बालक सन्तुष्ट हो जाएगा। इससे आगे का तथ्य, कि वह सत्ता अमुक-अमुक शब्द द्वारा अभिहित की जाती है, प्रतिफलित निगमन होगा, जो उद्देश्य का ज्ञान हो चुकने के पश्चात् ही सार्थक हो सकता है। अतः यह मानना आवश्यक है कि परिभाषा किसी सत्ता का ज्ञान एक अखण्डार्थ के रूप में कराती है और वाक्य की संरचना में निहित उद्देश्य-विधेय-आकार इस अखण्डार्थ की खोज का एक उपायमात्र है। परिभाषा एक वाक्य के रूप में एक उद्देश्य, एक विधेय और उनके बीच एक सम्बन्ध को व्यक्त करती है, इसका खण्डन हम नहीं करते; किन्तु इसके द्वारा प्रदत्त शाब्दनिर्णय स्वतः प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा को शान्त नहीं कर सकता, जब तक यह उसे परिभाष्य सत्ता को पहचानने में समर्थ नहीं बना देता। उस सत्ता का ज्ञान हो जाने पर प्रश्नकर्ता सन्तुष्ट हो जाता है और इससे आगे की कोई भी जानकारी अतिरिक्त होगी। यह इससे सिद्ध होता है कि 'चन्द्र शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है', इस विधेय का कथन चन्द्र कहलाने वाली वस्तु के बारे में ही किया जाता है, किसी अन्य वस्तु के बारे में नहीं। अतः उद्देश्य का ज्ञान होने पर ही परिभाषा सार्थक हो सकती है और यदि प्रस्तुत परिभाषा

१. लक्षणं विनापि गवादिशब्दानामिव वृद्धव्यवहारादेव वाच्यवाचकसम्बन्धग्रहोपपत्तेः।

—त. प्र. पृ. ११०.

उद्देश्य का ज्ञान करा देती, तो वही इसका अर्थ माना जाना चाहिए। 'इसकी संज्ञा चन्द्र है' या 'यह लघुतर आकार वाली ज्योतियों से भिन्न हैं' ऐसा ज्ञान वस्तुतः स्वरूपज्ञान से अर्थतः फलित होता है। यह तर्क दिया जा सकता है कि 'चन्द्र क्या है', ऐसा प्रश्न करने वाले व्यक्ति को एक ज्योति के रूप में और एक स्वरूप से युक्त सत्ता के रूप में चन्द्र का बोध पहले से ही है। यदि स्वरूप ही अर्थ हो, तो 'अमुक-अमुक प्रकार की ज्योति चन्द्र है', ऐसा उत्तर एक अज्ञात तथ्य का ज्ञान तो नहीं करा सकेगा। यह उत्तर तभी सोद्देश्य हो सकेगा, जब हम मान लें कि वाक्य पदार्थ एवं शब्द के सम्बन्ध का ज्ञान कराता है; किन्तु यह तर्क इस निर्णायक तथ्य की उपेक्षा कर देता है कि चन्द्र यद्यपि एक ज्योति के रूप में ज्ञात था, फिर भी यह चन्द्र के स्वरूप में ज्ञात नहीं था। प्रश्न करने वाला बालक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने का इच्छुक नहीं है, वह तो स्वयं तथ्य को, अर्थात् चन्द्र को चन्द्र के रूप में, जानना चाहता है। यह ज्ञान परिभाषा द्वारा प्रदत्त ज्ञान से पूर्व विद्यमान नहीं था। अतः यह मानना होगा कि परिभाषा तथ्य का उसके विशेष स्वरूप में ज्ञान कराती है। उदाहरण के लिए, यह चन्द्र का ज्ञान चन्द्र-स्वरूप के तौर पर देती है, ज्योति के स्वरूप में नहीं। यह केवल एक शब्दार्थ का नहीं; अपितु एक तथ्य का उसके व्यक्तित्व के सन्दर्भ में ज्ञान है, जो इस रूप में पहले ज्ञात नहीं था। किसी अतिरिक्त अर्थ की उपस्थापना का अर्थ होगा वाक्य के स्पष्ट अर्थ को विकृत करना और एक पूर्ववर्ती घटना को पश्चाद्वर्ती घटना के साथ मिलाकर भ्रम की स्थिति उत्पन्न करना।

इसलिये, यह मानना होगा कि लक्ष्यभूत पदार्थ अपने आप में जैसा है, उसी रूप में उसका ज्ञान देना परिभाषा का उद्देश्य है और विभिन्न विशेषण-उपवाक्य केवल अन्य अवांछित सत्ताओं की व्यावृत्ति करके वाक्य द्वारा परिभाषित सत्ता का स्वरूप पहचानने में श्रोता की सहायता करते हैं। वाक्य के संसर्गरहित अर्थ पर बल देकर वेदान्ती इस तथ्य पर बल देना चाहता है कि लक्ष्य का अर्थ उस वाक्य के अन्य पदों के अर्थों द्वारा अविशेषित और उनके सम्बन्ध द्वारा अनिर्धारित रूप में, स्वरूपतः ही गृहीत होता है। विशुद्ध स्वरूप (अखण्डार्थ) के इस ज्ञान को प्रदान करने की परिभाषा-वाक्य की वही प्रणाली है, जो अन्य वाक्यों में अपने अर्थों को व्यक्त करने की है। यह तथ्य, कि उद्देश्य की किसी खास विशेषता का कथन करते समय परिभाषा सदृश व असदृश तथ्यों से उसके भेद के अनुमान को आधार बनती है, अखण्डार्थरूपी वाक्यार्थ से निःसृत उपपरिणाम है और इसलिए यह न तो वाक्यार्थ का पूर्ववर्ती हो सकता है, न समकालिक ही।

इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं कि यह विशेष प्रकार का अर्थ सभी परिभाषाओं का है। परिभाष्य वस्तु भिन्न-भिन्न होने पर भी यह सत्य नहीं बदलता कि परिभाष्य का अर्थ एक विशुद्ध तथ्य के रूप में ज्ञात होता है, न कि वाक्य में इसके साथ अन्वित विशेषण-पदों के अर्थों द्वारा विशिष्ट रूप में। सभी परिभाषाओं का अर्थ एक संसर्गरहित तथ्य है और इसका अपवाद तब भी नहीं होता, जब परिभाष्य वस्तु स्वयं सम्बन्ध

ही हो। उदाहरणार्थ संयोग एक प्रकार का सम्बन्ध है, जिसकी परिभाषा यह है: 'दो पृथग्भूत द्रव्यों के परस्पर मिलने को संयोग कहते हैं।' इसी प्रकार समवाय भी सम्बन्ध है और इसकी परिभाषा इसे 'नित्य सम्बन्ध' कह कर दी जाती है। इन परिभाषाओं का विषय स्वयं **सम्बन्ध** होने पर भी से पूर्वोक्त नियम की अपवाद नहीं है[1]। परिभाषा के अर्थ को एक संसर्गरहित अवधारणा कहने का तात्पर्य यही है कि परिभाष्य संज्ञा का अर्थ शेष पदों के अर्थों द्वारा असंसृष्ट है। यदि परिभाष्य तथ्य स्वतः ही 'सम्बन्ध' है, तो इससे यह अन्य तथ्यों के सम्बन्ध द्वारा विशेषित रूप में गृहीत नहीं होता। परिभाष्य संज्ञा का अर्थ एक स्वनिष्ठ तथ्य है, जो किसी बाह्य पदार्थ के संदर्भ पर अवलम्बित नहीं है। सम्बन्ध स्वयं परिभाषित होने पर अपने आप से स्थित है। इसमें किसी दूसरे सम्बन्ध का संदर्भ नहीं है और तथ्य का यही संसर्गराहित्य अर्थरूप में गृहीत होने पर अखण्डार्थ की अभिव्यक्ति कहलाता है। अन्य वाक्यों का अर्थ विशुद्ध तथ्य नहीं है; अपितु संसर्गों के विस्तार द्वारा परिवेष्टित तथ्य है। अतः ऐसे वाक्य अखण्डार्थक वाक्यों की श्रेणी में नहीं आते।

अखण्डार्थक वाक्य एक ऐसे वाक्य के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है 'जो भिन्न-भिन्न अर्थों वाले अनेक शब्दों द्वारा घटित होने पर भी केवल एक लक्ष्य शब्द के अर्थ के सम्प्रेषण में पर्यवसित होता है[2]।' सभी परिभाषाएँ इस विवरण पर खरी उतरती हैं। परिभाषा किसी एक तथ्य का निश्चयात्मक ज्ञान देने का प्रयास करती है और इसलिए इस लक्ष्य तथ्य के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द ही वह एकमात्र सार्थक कथन है, जिसका अर्थ जानने के लिए हम प्रयास करते हैं। यद्यपि परिभाषा अनिवार्यतः उद्देश्य-विधेय रूप में सम्बद्ध अनेक शब्दों वाला वाक्य है, फिर भी इस तथ्य के वाचक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करना ही इसका प्रयोजन और उद्देश्य है। उदाहरण के लिए त्रिभुज की परिभाषा का परीक्षण करें। यह परिभाषा उस विद्यार्थी के द्वारा उपलक्षित या स्पष्टतया पूछे गये प्रश्न के उत्तर में प्रतिपादित की गई है, जो जानना चाहता है कि त्रिभुज क्या है? अब 'तीन सरल रेखाओं द्वारा घिरी हुई आकृति त्रिभुज है', यह परिभाषा एक रूपात्मक वाक्य है। परिभाषा का लक्ष्य त्रिभुज के अर्थ को सम्प्रेषित करना मात्र है। इसमें त्रिभुज ही एकमात्र सार्थक शब्द है और अन्य शब्द केवल इस शब्द के अर्थ का ही कथन करते हैं। अतः सम्पूर्ण वाक्य की सार्थकता वहीं तक है, जहाँ तक यह एक शब्द-विशेष के अर्थ को प्रस्तुत करने में सफल होता है। इसे अखण्डार्थ वाक्य कहने का कारण यह है कि यह एक अखण्ड शब्द के एक अखण्ड स्वनिष्ठ अर्थ को व्यक्त करता है और इसमें अन्य पदों के अर्थों का अथवा उस सम्बन्ध का, जिसके द्वारा ये अर्थ परिभाष्य अर्थ से जुड़े हुए हैं, कोई निर्देश नहीं होता। यह आपत्ति उपयुक्त नहीं है कि इस स्थिति में अन्य शब्द

---

१. नन्वेवमपि नैतल्लक्षणम् अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगो नित्यः सम्बन्धः समवाय इत्येवमादि-सम्बन्धप्रतिपादकलक्षणवाक्येष्वव्याप्तेः। —त. प्र., पृ. १००.

२. अपर्यायशब्दानामेकप्रतिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वमखण्डार्थता। —वही. पृ. १११।

अनावश्यक और निष्प्रयोजन हो जायेंगे। उन शब्दों के अपने अर्थ हैं और इन अर्थों की एक आवश्यक भूमिका है; क्योंकि वे लक्ष्य शब्द के अर्थ को समझने में योग देते हैं। ये अर्थ वस्तुतः लक्ष्य शब्द के अर्थ, अर्थात् परिभाष्य तथ्य, के बोध के निमित्त एवं साधन हैं। उदाहरण के लिए, त्रिभुज की परिभाषा के घटक शब्दों, जैसे 'तीन सरल रेखाओं से घिरी हुई आकृति', में प्रत्येक शब्द सार्थक है; क्योंकि उनके अर्थों को अलग-अलग एवं संयुक्त रूप से जाने विना त्रिभुज का अर्थ नहीं जाना जा सकेगा। किन्तु इन शब्दों की सार्थकता विरोधी अवधारणाओं के निराकरण में है[1]। यहाँ 'आकृति' शब्द यह सूचित करता है कि यह अनाकृति नहीं है, 'तीन' शब्द से यह तात्पर्य निकलता है कि यहाँ कोई अन्य संख्या नहीं है, सरल रेखाएँ इस बात का सूचक हैं कि वे वक्र रेखाएँ नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक अर्थ त्रिभुज की अवधारणा को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक हैं; किन्तु व्यष्टि पदों के अर्थ वस्तुतः तात्कालिक और प्रतीयमान हैं। त्रिभुज का अर्थ ही वास्तविक एवं चरम अर्थ है। विभिन्न अर्थों की विवक्षा उनके अपने लिए नहीं है, अपितु त्रिभुज के अर्थ की स्वरूपतः उपलब्धि के लिए है। तात्कालिक अर्थों की उपयोगिता उन मिथ्या धारणाओं के निराकरण में है, जो वास्तविक अर्थ की ओर से ध्यान हटा सकती हैं। वे वास्तविक अर्थ, अर्थात् विशुद्ध स्वरूप पर हमारा ध्यान केन्द्रित करते हैं और उनमें से प्रत्येक की सार्थकता विपरीत धारणा की व्यावृत्ति करने के कारण है।

उपनिषदों में उपलब्ध परिभाषाओं के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। ब्रह्म को सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द एवं आत्मा के रूप में परिभाषित किया गया है। ये विभिन्न शब्द विपरीत धारणाओं की व्यावृत्ति करते हैं। सत्य मिथ्यात्व का निराकरण करता है, ज्ञान अज्ञान की, अनन्त सान्त की, आत्मा अनात्म की और आनन्द दुःख की अवधारणा की व्यावृत्ति करता है। इन विरोधी अवधारणाओं के उपलक्षित निषेध द्वारा ही शब्दों की परिणति ब्रह्म की निश्चयात्मक एवं असन्दिग्ध अवधारणा की प्रस्तुति में होती है। यद्यपि पृथक्-पृथक् पदों के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं, तथापि ब्रह्म का अर्थ इस अनेकता से प्रभावित नहीं होता। विभिन्न अर्थ, जिनका पूर्वभावी निमित्तों के रूप में तात्कालिक रूप से बोध होता है, केवल मिथ्यात्व आदि की भ्रान्त धारणाओं के खण्डन के लिए हैं; किन्तु जब वे चरम लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म के अर्थ के प्रतिपादन में पर्यवसित होते हैं, तो तात्कालिक अर्थ पीछे छूट जाते हैं और हम केवल विशुद्ध सत्य की उपलब्धि करते हैं। इन तात्कालिक अर्थों को ही अन्तिम मान लेना सत्य की विडम्बना होगी; क्योंकि श्रुति हमें केवल पूर्ण सत्य अर्थात् ब्रह्म के अर्थ का ज्ञान कराना चाहती है। विभिन्न अर्थों—भावात्मक या निषेधात्मक—में अपने आप में हमारी रुचि नहीं है और फिर भी यदि शास्त्र हमें अन्य वस्तु का ज्ञान देता, तो यह निरर्थक एवं भ्रामक होता, केवल इसलिए कि किसी भी वक्तव्य की सार्थकता केवल सत्यान्वेषी द्वारा जिज्ञासित वस्तु का ज्ञान देने में हैं। हमारी जिज्ञासा ब्रह्म, अर्थात् सम्पूर्ण सत्य

---

१. न चैवं पदान्तरवैयर्थ्यम्। व्यावर्त्यभेदादर्थवत्त्वोपपत्तेः। —त. प्र. पृ० १११।

के लिये है और प्रस्तुत वक्तव्य का अभिप्राय इसी का ज्ञान कराना है। वस्तुतः भाषा, चाहे वह दैवी हो या मानवीय अथवा धार्मिक हो या लौकिक, मानवीय बुद्धि की सीमाओं से बँधी है और हमारी सीमित बुद्धि द्वारा बोध्य हो सकने के लिये इसे अपने आपको इन सीमाओं के अनुकूल ढ़ालना पड़ता है। शुद्ध सत्य का बोध एक सरल पद के माध्यम से नहीं हो सकता। इस सत्य तक केवल मिथ्या धारणाओं के निराकरण द्वारा ही पहुँचा जा सकता है और निराकरण के लिए अनेक पदों के प्रयोग की प्रक्रिया अपरिहार्य हो जाती है; किन्तु वास्तविक अर्थ का ज्ञान हो जाने पर विभिन्न भावात्मक या निषेधात्मक अवधारणाएँ पीछे छूट जाती हैं। हमारा अभिप्रेत एक विशुद्ध तथ्य का ज्ञान है और इस अन्तिम अर्थ की उपलब्धि में सोपानभूत अनेक अवधारणाओं को भी यदि इस अर्थ से जोड़ना पड़े, तो इसका परिणाम आत्मघाती होगा। विशुद्ध अर्थ का बोध विशुद्धता में नहीं होगा और इस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्रिया ही उपहासास्पद होकर रह जायेगी[1]।

हमारे विचार में अब वेदान्ती अपनी इस स्थापना को सशक्त रूप में स्थापित कर चुका है कि विशुद्ध तथ्य का स्वरूपतः ज्ञान देना ही परिभाषा-वाक्य का लक्ष्य है। अन्य तथ्यों, गुणों व सम्बन्धों द्वारा अविशेषित एक स्वतो-अभिन्न तथ्य की अभिव्यक्ति इन वाक्यों को उद्देश्य के बारे में विधेय का कथन अथवा निषेध करने वाले अन्य वाक्यों से पृथक् और विशिष्ट बनाती है। उद्देश्य-विधेय-सम्बन्ध वाला शाब्दरूप अनिवार्यतः निर्णय का ज्ञापक नहीं है। विपक्षी द्वारा एक अभिलक्षणरहित या भेदहीन सत्ता के अर्थ में अखण्डार्थ की सम्भावना के विरुद्ध की गई आपत्तियाँ अखण्डार्थक वाक्यों की प्रकृति के अन्यथाबोध पर आधारित हैं। स्वतो-अभिन्न तथ्य वाक्यार्थ है, इसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं कि उस तथ्य का कोई स्वरूप नहीं है या, कि यह वास्तविकता की दृष्टि से, दूसरों से विशिष्ट तथ्य नहीं है। वेदान्ती का आग्रह वस्तुतः इस सत्य पर है कि यहाँ वाक्यार्थ के रूप में तथ्य का बोध वाक्य में अन्य पदों द्वारा अभिहित अन्य तथ्यों के साथ सम्बन्ध के सन्दर्भ में नहीं हुआ है। यदि, इसके विपरीत, परिभाषा द्वारा सम्प्रेषित विशेष्यभूत तथ्य को सहचरित पदों द्वारा प्रत्यायित विशेषताओं द्वारा विशेषित माना जाए, तो परिभाषा या तो मिथ्या उक्ति या फिर असम्बद्ध प्रलाप मात्र बनकर रह जाएगी। नागार्जुन ने अपनी **माध्यमिककारिका**[2] में परिभाषा की सामान्यतः प्रचलित अवधारणा में निहित समस्या की ओर ध्यान खींचा है। परिभाषा में उद्देश्य, अर्थात् परिभाष्य पदार्थ को कतिपय अनन्यसामान्य विशेषताओं का कथन होता है। अब परिभाष्य उद्देश्य से इन विशेषताओं का सम्बन्ध या तो अभेद का हो सकता है या भिन्नता का। यदि ये विशिष्ट धर्म उद्देश्य से अभिन्न हों, तो उद्देश्य उनके द्वारा अपरिभाष्य होगा। दूसरी ओर यदि वे उद्देश्य से भिन्न हों,

---

१. एवं च तत्तच्छब्दजन्यविज्ञानानां तत्तद्भिन्नाकारसमर्पिणां नान्तरीयकतया तत्तद्विरोध्याकार-निवर्तकत्वाद्वाक्यस्याखण्डार्थत्वसिद्धिः। —त० प्र०, पृ० १११।

२. २. १.

ठीक वैसे ही, जैसे उससे असम्बद्ध धर्म उससे भिन्न हैं, तो वे उद्देश्य के चरित्र को लक्षित नहीं कर सकेंगे और इस स्थिति में भी उद्देश्य अपरिभाषित ही रहेगा। इस प्रकार परिभाषा एक अर्थहीन कथन होकर रह जाती है और इससे भी बदतर यह कि यह पदार्थ को परिभाषित करने में असफल होते हुए भी उसे परिभाषित करने का मिथ्या आभास देती है। इस उभयपाश को केवल शब्दों का खेल कहकर टालना उचित नहीं। यह परिभाषा के संशयात्मक स्वरूप पर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है; यद्यपि किसी अनालोचक एवं अविमर्शी मस्तिष्क को वह सर्वथा वैध एवं सार्थक प्रतीत होता है। अपने प्रतिपक्षी को अपशब्द कहना दार्शनिक रूप से सुदृढ़ तर्क नहीं है। वेदान्ती ने इस कठिनाई को ठीक प्रकार से समझा; किन्तु उसने पाया कि यह अपने ऊपरी अर्थ में स्वीकृत एक भाषागत रूढ़ि का परिणाम है। यदि परिभाषा का अर्थ एकदम सही अर्थ में निर्णय ही होता, तो नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत कठिनाई नितान्त दुस्तर होती; किन्तु यहाँ यह समस्या उठती ही नहीं; क्योंकि परिभाषा का अर्थ उद्देश्य-विधेय-सम्बन्ध से जुड़ा हुआ निर्णय नहीं है, अपितु एक अखण्डार्थ है। उद्देश्य एवं विधेय, परिभाषित विशेष्य और परिभाषक विशेषण, के सम्बन्ध की समस्या सुलझाने की अनिवार्यता उन लोगों के लिये है, जिनके अनुसार परिभाषा किसी उद्देश्य के सन्दर्भ में एक विधेय का कथन है। वेदान्ती इस तथ्य पर बल देता है कि वाक्य का अर्थ संसर्गात्मक अवधारणाओं से निरपेक्ष एक स्वतो-अभिन्न प्रधान तथ्य है। अतः उसके दृष्टिकोण के हिसाब से यह समस्या ही अस्तित्त्वहीन है।

वेदान्ती लगातार इस सत्य पर बल देता है कि परिभाषा का अर्थ किसी भी अन्य पद के अर्थ द्वारा अविशेषित प्रधान सत्ता है। उसके द्वारा अङ्गीकृत स्थापना को यह बात प्रभावित नहीं करती कि लक्ष्य सत्ता का अपने साथ एकीकृत कोई चरित्र है या नहीं। यह परिभाषित सत्ता की प्रकृति पर निर्भर करता है। यदि लक्ष्य वस्तु का एक चरित्र हो भी, तब भी इसका बोध किसी भी बाहरी गुण द्वारा अनियन्त्रित एक सरल, स्वनिष्ठ सत्ता के रूप में होता है; किन्तु उपनिषद्-वाक्यों में ब्रह्म के सम्बन्ध में दी गई परिभाषाएँ जिस सत्ता का ज्ञान देती हैं, वह पूर्ण अर्थों में एक अखण्डता है; क्योंकि ब्रह्म अनन्त सत्ता है और असन्दिग्ध रूप से किसी भी ऐसे लक्षण द्वारा अनिर्धारित एवं अपरिभाषित है, जो इस अनन्त सत्ता से इतर एवं बाह्य है।

किन्तु एक समस्या फिर भी उठती है। जब तक हमें ब्रह्म का ज्ञान न हो, तब तक इसकी परिभाषा कैसे सम्भव है ? अज्ञात वस्तु को परिभाषित नहीं किया जा सकता और ज्ञात वस्तु को परिभाषा की अपेक्षा नहीं। हम मर्त्य प्राणी उस अनन्त सत्ता के ज्ञाता होने का दावा नहीं कर सकते, जो समस्त अस्तित्व को अपने आप में समेटे हुए है। अतः सत्तामीमांसीय दृष्टि से इस सत्ता की सम्भावना को अस्वीकार न करने पर भी इसकी परिभाषा अबोध्य होने के कारण पूर्णतः निष्फल होगी। इस आपत्ति पर वेदान्ती उत्तर देता है कि परिभाषा के लिए परिभाषित वस्तु का सम्पूर्ण

ज्ञान पूर्वापेक्षित नहीं है। इसकी सार्थकता एवं उपयोगिता उस ज्ञान को सुनिश्चित एवं विशिष्ट रूप देने में है, जो परिभाषित वस्तु के विषय में हमें पहले अस्पष्ट और अव्यवस्थित रूप में प्राप्त था। यदि परिभाष्य पदार्थ का सम्पूर्ण ज्ञान परिभाषा के ज्ञान की पूर्वशर्त हो, तो यह आपत्ति सभी परिभाषाओं की उपयोगिता को समाप्त कर देगी। परब्रह्म, जिसके लिए उपनिषदों में अनेक परिभाषाएँ एवं वर्णन उपलब्ध हैं, के विषय में तो इतना कहना पर्याप्त है कि यह हमारे 'सत्' में सर्वथा अप्रस्तुत नहीं है। हमारा आत्म-चैतन्य जीवात्मा के रूप में विद्यमान ब्रह्म का साक्षी है। जीवात्मा की ब्रह्म से बाह्य कोई सत्ता नहीं है और अपने आन्तरिक 'सत्' को जानकर हम ब्रह्म को जानते हैं, भले ही हमारा वह ज्ञान अपूर्ण एवं अपर्याप्त है। हमारा अन्तरात्मा ब्रह्म से अभिन्न है, यद्यपि इसकी सत्ता के अनन्त विस्तार का साक्षात् अभी नहीं हुआ है। परिभाषा का कार्य केवल इतना है कि यह हमें हमारे अपने स्वरूप के अज्ञान द्वारा आरोपित सीमाओं से मुक्त आत्म-तत्त्व का ज्ञान प्रदान करती है। इस प्रकार परिभाषा हमें अधिक विस्तृत एवं व्यापक ज्ञान देती है और पूर्ववर्ती अवधारणा को सन्देह एवं साङ्कर्य से मुक्त करती है[1]।

हम परिभाषा के अभिप्राय और साथ ही उसके प्रथमदृष्टया प्रतीत अर्थ पर चर्चा कर चुके हैं और उन कारणों पर भी विचार कर चुके हैं, जिनसे प्रेरित होकर वेदान्ती ने इसे अखण्डार्थक वाक्य कहा है; किन्तु अकेले परिभाषाएँ ही अखण्डार्थ को व्यक्त करने वाले वाक्यों का उदाहरण नहीं हैं। किसी अतीत एवं वर्तमान 'प्रदत्त' के अथवा दो भिन्न-भिन्न अवधारणाओं के संख्यात्मक अभेद का कथन करने वाले वाक्यों का विवरण भी अखण्डार्थक वाक्यों के रूप में करना चाहिए, अर्थात् ऐसे वाक्यों के रूप में जो स्वरूपमात्र को अन्तिम अर्थ के रूप में व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए यह वाक्य ले लें : 'यह अवश्य वही व्यक्ति है, जिसे मैंने पहले पटना में देखा था', अथवा यह वाक्य : 'निश्चय ही यह सज्जन श्री देवदत्त हैं, जिन्होंने दो वर्ष पूर्व टाउन हाल में भाषण दिया था'। इन वाक्यों का तात्पर्य क्या है? निश्चय ही, वे वक्ता की ओर से किसी पुरुष के अभिज्ञान को व्यक्त करते हैं और अभिज्ञान सदैव अभेदात्मक है। वाक्यों द्वारा इस अभेद के ज्ञान का कथन भी होता है। अब, प्रश्न है : किस प्रकार के अभेद का प्रतिपादन यहाँ विवक्षित है? क्या अतीतकालिक पुरुष को वर्तमानकालिक पुरुष से अभिन्न कहा जा रहा है? दूसरे शब्दों में, क्या पूर्व देश-काल-विशेष के सन्दर्भ द्वारा उपलक्षित पुरुष को वर्तमान देश-कालिक सन्दर्भ में दृश्यमान पुरुष के साथ अभिन्न कहा जा रहा है? ये दोनों देश-कालिक परिवेश पृथक्-पृथक् हैं। अतीत देश-कालिक निर्धारण अब विद्यमान नहीं है। जब वक्ता ऐसे पुरुष के स्वरूप को वर्तमान देश-कालिक परिवेश में पहचानता है, तो अतीत देश कालिक

---

१. न चाप्रसिद्धत्वाद् ब्रह्मणो लक्ष्यत्वासम्भवः, प्रत्यगात्मतया स्वतः सामान्येन प्रसिद्धत्वात्। न च तथात्वे लक्षणवैयर्थ्यम्, लक्षणस्य विशेषाकारसमर्पणार्थत्वात्।

—त. प्र., पृ० ११२

निर्धारण उसके चिन्तन के केन्द्र से हट जाता है। यदि भूतकालिक निर्धारण का अनुभव व्यक्ति के विशेषण के रूप में होता, तो अभेद का ग्रहण सम्भव न होता। अतः व्यक्ति के अभेद का कथन करते समय भूतकालिक निर्धारण को पीछे छोड़ देना होगा; किन्तु वर्तमान देश-कालिक निर्धारण की क्या स्थिति है ? क्या यह अङ्गभूत विशेषण के रूप में अनुभूत होता है ? इसका उत्तर यही होना चाहिए कि वर्तमान देश-कालिक निर्धारण भी उपेक्षित कर दिया जाता है। अभेद के प्रतिपादन में, भूतकाल में साक्षात् दृष्ट व्यक्ति का वर्तमान में साक्षात् दृष्ट भिन्न देश-कालिक सन्दर्भ द्वारा निर्धारित रूप में अनुभूत व्यक्ति के साथ अभेद अभिप्रेत नहीं। वर्तमान देश-कालिक सन्दर्भ तो दृश्यमान होने के कारण सन्देह अथवा जिज्ञासा का विषय ही नहीं, जिसके समाधान के लिए इस वक्तव्य की आवश्यकता हो। यह सही है कि वक्तव्य स्वयं ही यह ध्वनित करता है कि इस अभेद की उपलब्धि किञ्चित् विचारणा के विना नहीं हुई है; किन्तु वर्तमान देश और काल के सम्बन्ध में, जिनमें व्यक्ति दिखलाई पड़ रहा है, कोई सन्देह नहीं हो सकता। अतः यह मानना चाहिए कि व्यक्ति के अभेद की अनुभूति एवं उसका प्रतिपादन देश-कालिक स्थितियों से निरपेक्ष रूप में होता है। ये देश-कालिक निर्धारण वस्तुतः उस व्यक्ति के इतिवृत्त में आकस्मिक ही हैं, उसके स्वरूप की दृष्टि से इनकी कोई प्रासङ्गिकता नहीं[1]।

किन्तु, यदि भूतकाल में दृष्ट पुरुष की अनुभूति वर्तमान में साक्षात् विद्यमान पुरुष के रूप में हो, तब भी अभेद की स्थापना की जा सकती है। यहाँ, अतीत देश-कालिक निर्धारण पुरुष के विशेषण के रूप में अनुभूत न होने पर भी वर्तमानकाल-विशिष्ट पुरुष के साथ उसके अभेद पर बल दिया जा रहा है। अतीत सन्दर्भ के निर्देश के विना अनुभूत पुरुष शुद्ध रूप से मात्र पुरुष के रूप में अनुभूत हो रहा है और यह पुरुष यदि एक नवीन देश-कालिक निर्धारण को ग्रहण कर लेता है, तो इसमें कुछ भी असंगत नहीं। इस प्रकार की व्याख्या का लाभ यह है कि 'वह देवदत्त यह देवदत्त है', इस वाक्य में हमें केवल एक ही सार्वनामिक विशेषण, अर्थात् 'वह' के अर्थ का उत्सर्ग करना होगा। दूसरे शब्दों में, यद्यपि उद्देश्य को अपने अर्थ के एक अंश का त्याग करना पड़ता है, फिर भी विधेय का अर्थ अविकल रूप में सुरक्षित रहता है। इसकी वैकल्पिक व्याख्या यह है कि सार्वनामिक विशेषणों 'वह' एवं 'यह' द्वारा व्यञ्जित कालिक निर्धारणों के सन्दर्भ से निरपेक्ष, देवदत्त के स्वरूप मात्र का प्रतिपादन किया जा रहा है; किन्तु इसमें यह आपत्ति हो सकती है कि उद्देश्य एवं विधेय दोनों ही के अर्थ विकृत होते हैं। विवक्षित तो देवदत्त का अभेद है और जब इसके प्रतिपादन के लिए अकेले उद्देश्य का संशोधन पर्याप्त है तो उद्देश्य व विधेय, दोनों का संशोधन करना एक अवाञ्छित प्रक्रिया है। निश्चित रूप से यहाँ केवल देवदत्त के रूप में अनुभूत पूर्वकालिक देवदत्त का वर्तमान देवदत्त के साथ अभेद अर्थ रूप में व्यक्त होगा। दूसरी व्याख्या का प्रतिपाद्य यह है कि पूर्वकालिक देवदत्त का वर्तमान-

१. देवदत्तस्वरूपमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात्। —तं. प्र., पृ० ११३।

कालिक देवदत्त से अभेद, देवदत्त का देवदत्त से अभेद है। दूसरे शब्दों में, यह देवदत्त के विशुद्ध एवं अविशेषित स्वरूप का कथन है।

वेदान्ती इस दूसरी व्याख्या का अनुमोदन करता है, इसलिए नहीं कि यह अखण्डार्थक वाक्यों के उसके सिद्धान्त को पुष्ट करती है, बल्कि इसलिए कि इसकी एक अपरिहार्य तार्किक आवश्यकता है। अभेद के स्पष्टतः अनुभूत प्रतिपादन से बाध्य होकर प्रतिपक्षी ने उद्देश्य, 'वह देवदत्त' को अतीत देश-कालिक परिवेश के सन्दर्भ से रहित, शुद्ध रूप से केवल देवदत्त के अर्थ में ग्रहण किया है। इस उद्देश्य के बोध में देवदत्त, देवदत्त के रूप में, अर्थात् कालिक निर्धारणों से रहित देवदत्त के रूप में गृहीत होता है, अतः इसे एक अन्य कालिक निर्धारण द्वारा विशिष्ट देवदत्त के साथ अभिन्न नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यदि अतीतकालिक देवदत्त ही वर्तमानकालिक देवदत्त है, तो वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त की अतीत में सत्ता मानी जा सकती है; किन्तु अतीत और वर्तमान परस्पर विरुद्ध हैं, अतः अभेदकथन में कालिक निर्धारणों का सन्दर्भ सम्भव नहीं[1]। इसके अतिरिक्त 'अतीतकालिक वर्तमान में विद्यमान है' इस वाक्य की सार्थकता केवल तभी है, जब व्यक्ति की अनन्यता विवक्षित हो; किन्तु व्यक्ति की अनन्यता की विवक्षा तभी सार्थक होगी, जब कालिक निर्धारणों पर, उन्हें अप्रासङ्गिक उपलक्षण मानकार विचार ही न किया जाए। प्रतिपक्षी यद्यपि स्वरूपमात्र को वाक्य का साक्षात् अर्थ मानने में संकोच करता है; तथापि वह इसे तार्किक उपलक्षण के रूप में मानने के लिए बाध्य है; किन्तु वेदान्ती इस घुमावदार व्याख्यान को भीरुता का परिणाम मानता है। उद्देश्य एवं विधेय, दोनों के ही मुख्यार्थ के त्याग की सम्भावना प्रतिपक्षी को आशङ्कित किये हुए है, यद्यपि इसी निष्कर्ष का अनुमोदन वह अभेद-प्रतिपादन के तार्किक व्याख्यान में करता है[2]। वेदान्ती उद्देश्य एवं विधेय, दोनों में ही लक्षणा के आश्रयण का समर्थन करता है; क्योंकि यह अभेद-प्रतिपादन का उपाय है। यह अभेद की स्वीकृति को एकमात्र अर्थ के रूप में प्रतिपादित करता है। यह व्याख्या उस व्याख्या की अपेक्षा वरेण्य है, जिसमें दो भिन्न-भिन्न अर्थों को स्वीकार किया जाता है, जिनमें एक साक्षात् अर्थ है, जहाँ उद्देश्य कालिक निर्धारण द्वारा विशिष्ट है और दूसरा अर्थतः अर्थ है, जहाँ वही उद्देश्य अविशेषित है[3]।

अब हम विपरीत अर्थोंवाले दो पृथक् तथ्यों के बीच अभेद-प्रतिपादन का भी विचार कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य में प्रतिपादित जीवात्मा के परमात्मा, अर्थात् ब्रह्म के साथ ऐक्य को लेंगे। इस वाक्य में

---

१. विशिष्टाविशिष्टस्वरूपयोरभेदासम्भवात्। तथा सति वर्तमानकालविशिष्टस्य पूर्वमपि सद्भावप्रसङ्गात्। —त. प्र., पृ० ११३।

२. उभयपदलक्षणाश्रयणे कल्पनागौरवात्·········· । —वही।

३. बुभुत्सितार्थप्रतिपादनप्रयोजनतायां गौरवस्यैवोचितत्वात्। —वही, पृ० ११४ :

'त्वम्' पद अपनी समस्त सीमाओं से युक्त जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है और 'तत्' पद सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा के लिए है। निश्चय ही अज्ञान और सीमित शक्ति द्वारा उपहित जीवात्मा एवं सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ पूर्णात्म के बीच ऐक्य का प्रतिपादन सर्वथा अनर्गल कहकर उपेक्षित कर दिया जाता, यदि इसका कथन उपनिषद्वाक्य में नहीं होता, जहाँ पिता अपने पुत्र को चरम रहस्य के सम्बन्ध में उपदेश दे रहा है। फिर, यदि उनके सार में ही अभेद का तत्त्व न होता, तो भी अभेद का कथन नितान्त अनर्गल होता। जीवात्मा और परमात्मा, दोनों में ही चिति-तत्त्व की दृष्टि से साम्य है। और चैतन्य स्वरूपतः संख्यात्मक या गुणात्मक दृष्टि से भिन्न नहीं हो सकता। इसके भेद का आभास केवल तभी होता है, जब भेद अन्तर्वस्तु का हो अथवा उस मनःशारीरिक अवयवी का, जिसमें चैतन्य स्वयं को अभिव्यक्त करता है। आत्मा शुद्ध चैतन्य है। यदि चैतन्य के प्रतिकूल कोई तत्त्व होता, तो वह जड़ पदार्थ के समकक्ष होता। उपनिषद् में आत्मा को अविरल और अविभाज्य चैतन्य कहा गया है और बताया गया है कि इसके सार-तत्त्व अर्थात् चैतन्य की दृष्टि से एक आत्मा का दूसरे आत्मा से कोई भेद नहीं है। जब कहा जाता है कि जीवात्मा वही है, जो परमात्मा है, तो इस ऐक्य-प्रतिपादन का संकेत केवल चैतन्य की ओर है, किसी अन्य वस्तु की ओर नहीं। यह तथ्य आँखों से ओझल नहीं हो गया है कि परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, जबकि जीवात्मा परिमित ज्ञान एवं शक्तिवाला है। किन्तु शक्ति एवं ज्ञातृत्व के गुण न तो चैतन्य के आत्यन्तिक लक्षण हैं और न ही इसकी अङ्गीभूत विशेषताएँ। ज्ञातृत्व की अवधारणा अन्तर्वस्तु की मात्रा एवं विस्तार के प्रति सापेक्ष है। परिमित ज्ञाता यह सूचित करता है कि ज्ञान की अन्तर्वस्तु सीमित है और इसके विपरीत अपरिमित ज्ञाता की अवधारणा अन्तर्वस्तु के असीम परिमाण को सूचित करती है; किन्तु शुद्ध चैतन्य के रूप में आत्मा अन्तर्वस्तु के प्रति सापेक्ष नहीं है। अन्तर्वस्तु बल्कि एक विजातीय विषय है, जो आपाततः इसके साथ सम्बद्ध कर लिया जाता है। परिमित ज्ञाता-रूप जीवात्मा और अपरिमित ज्ञाता-रूप परमात्मा का भेद अन्तर्वस्तु के परिमाण के प्रति सापेक्ष है। अतः ज्ञान एवं ज्ञाता तथा ज्ञेय की अवधारणाएँ सापेक्ष हैं और इसलिए चैतन्य की सही प्रतिनिधि नहीं हो सकतीं। बहरहाल, श्रुतिवाक्यों में इन दो विपरीत दिखनेवाले तत्त्वों के बीच अभेद के प्रतिपादन की अर्थवत्ता केवल तभी हो सकती है, जब ज्ञातृत्व के आकस्मिक लक्षण पर ध्यान न देकर चैतन्य की आधारभूत अखण्डता पर बल हो, जिसमें किसी मूलभूत भेद की गुंजाइश नहीं है। इसलिए दो आत्माओं को अभिन्न कहने का कारण यही है कि उनका सम्पूर्ण 'सत्' शुद्ध चैतन्य में ही निहित है और ज्ञातृत्व इत्यादि जैसे निर्धारण वस्तुतः सांयोगिक उपाधियाँ हैं।

उपनिषद्-वाक्य को दृष्टिगत रखते हुए आत्मा के स्वरूप पर तत्त्वमीमांसीय चर्चा हमारे लिए अनिवार्य हो गई। हमने यहाँ अद्वैत-सम्प्रदाय के दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान का अनुसरण किया है। फिर भी हमारे सामने प्रस्तुत प्रश्न तार्किक प्रश्न हैं। तत्त्वमीमांसीय विषयों के उपन्यास से यह धारणा बन सकती है कि

वाक्य का तार्किक मूल्याङ्कन किसी तत्त्वमीमांसीय पूर्वाग्रह द्वारा पहले से निर्धारित है। अतः हम यहाँ एक सामान्य उदाहरण देकर सिद्ध करेंगे कि अभेद-विवक्षा अपनी प्रकृति में शुद्ध रूप से तार्किक है। उदाहरण यह है : 'सम्राट् सशस्त्र सेनाओं का सर्वोच्च अध्यक्ष है'। इस वाक्य में दोनों पदों को सँभालने वाले व्यक्ति का अभेद प्रतिपादित है। सम्राट् का अधिकार और सशस्त्र सेनाओं के सर्वोच्च अध्यक्ष का अधिकार संख्यात्मक व गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है। इसलिये, यदि आधिकारिक स्थितियों में वास्तविक भेद अपेक्षित होता, तो सशस्त्र सेनाओं के सर्वोच्च अध्यक्ष को सम्राट् कहना मिथ्या एवं भ्रामक होता। किन्तु तर्कशास्त्र से सर्वथा अपरिचित एक सामान्य व्यक्ति भी इस कथन का अर्थ विना किसी कठिनाई के समझ लेता है। तो फिर, अभेद की सत्ता कहाँ हो सकती है ? निश्चय ही, अभेद दो पदाधिकारियों में नहीं, अपितु दोनों पदों को सँभालने वाले मनुष्य के व्यक्तित्व में है। दो पदों का अधिकार वस्तुतः एक सांयोगिक घटना है और इसके लिए सम्बद्ध व्यक्ति में संख्यात्मक अथवा गुणात्मक भेद अपेक्षित नहीं। इसलिये, दो पदाधिकारियों के बीच प्रतिपादित अभेद को व्यक्ति की अखण्डता के सन्दर्भ में समझना चाहिए, जो पद की सांयोगिकताओं से सर्वथा अप्रभावित रही है। अतः व्यक्ति की यही स्वरूपतया गृहीत अखण्डता वाक्यार्थ है। यह अखण्डता पदसम्बन्धी निर्धारणों के संदर्भ से रहित है; क्योंकि वे उसके स्वरूप से बाह्य हैं। हमने विवादास्पद मामलों को दूर रखने की दृष्टि से जान-बूझ कर इस नितान्त सामान्य वाक्य को चुना है। उपनिषद्-वाक्य भी इस अतिसामान्य कथन के समकक्ष ही है। अतः तार्किक-दृष्टि से विचार करने पर, दोनों वाक्य अखण्डार्थक वाक्य हैं, जिन्हें हम पहले परिभाषित कर चुके हैं। यह प्रश्न तत्त्वमीमांसा का विषय है कि जीवात्मा और परमात्मा के बीच सत्तामीमांसीय अभेद सम्भव है या नहीं। तार्किक अर्थ को उसके प्रकट रूप में स्वीकार करने के लिए जो तत्त्वमीमांसीय हेतु वेदान्ती के समक्ष थे, उनका संक्षिप्त विवरण हम प्रस्तुत कर चुके हैं। हमारे द्वारा वाक्यार्थ को तार्किक कहकर लक्षित करने में हेतु यह नहीं है कि यह वाक्य से व्युत्पन्न अर्थ का तार्किक औचित्य प्रतिपादित करता है, बल्कि यह है कि यह अर्थ मुख्यार्थ की अयुक्तता के तार्किक आकलन के आधार पर अनिवार्य हो गया है। मुख्यार्थ के आधार पर परमात्मा के साथ जीवात्मा के अभेद का कथन निश्चित रूप से अनर्गल होगा। यह अनर्गलता लक्ष्यार्थ के आश्रयण की आवश्यकता को उत्पन्न करती है। सभी लक्ष्यार्थक वाक्यों की सर्वत्र यही स्थिति है। तार्किक निमित्त मुख्यार्थ के त्याग एवं लक्ष्यार्थ की स्वीकृति को अपरिहार्य बना देते हैं; किन्तु व्यष्टि पदों के अर्थों की मुख्यता अथवा लक्ष्यता की चिन्ता से निरपेक्ष, वाक्यार्थ अपनी प्रकृति में सीधा और शाब्द है। प्रस्तुत सन्दर्भ में हमने 'तार्किक अर्थ' पद का प्रयोग केवल पूर्वभावी तार्किक हेतुओं को दृष्टिगत रखकर किया है। इसे कथमपि वाक्यार्थ के तार्किक तात्पर्य के साथ एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। वाक्यार्थ का तार्किक तात्पर्य वस्तुतः अर्थ का अर्थ है। किन्तु अखण्डार्थ वाक्य का साक्षात् अर्थ है, यह अर्थ की उपलक्षणा से व्युत्पन्न नहीं होता। प्रस्तुत सन्दर्भ में समीक्षित विभिन्न

प्रकार के वाक्यों को अखण्डार्थक वाक्य कहने वाली वेदान्ती मान्यता के पीछे वजनदार तर्कों का समर्थन है।

हमने अखण्डार्थक वाक्यों की वेदान्ती स्थापना को उसकी तार्किक सुदृढ़ता के साथ प्रस्तुत करने और इसे दर्शन के आधुनिक अध्येता के लिये सुबोध बनाने का पूरा प्रयास किया है। इसमें सन्देह नहीं कि तार्किक प्रश्नों का निर्णय तत्त्वमीमांसीय समस्याओं पर गहरा प्रभाव डालता है। किन्तु प्रस्तुत समस्या का विचार एवं निर्णय तार्किक दृष्टिकोण से होना चाहिये; तत्त्वमीमांसीय दृष्टि के आधार पर तार्किक प्रश्न को पूर्वनिर्णीत कर लेना समस्या के उपयुक्त समीक्षण एवं समाधान में सहायक न हो सकेगा। वेदान्त के दूसरे सम्प्रदायों के दार्शनिकों ने अपने तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण के अनुरूप इन वाक्यों की एक भिन्न प्रकार से व्याख्या करने का प्रयास किया है। किन्तु उनके पक्ष में इतना कहना होगा कि उन्होंने अखण्डार्थ की साक्षात् अभिव्यक्ति को अस्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अखण्डार्थ की इस अभिव्यक्ति की एक भिन्न दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयास किया है, जो प्रथमदृष्ट्या प्रतीत अर्थ के तात्पर्य की चिन्ता पर आधारित है। उनका मतभेद वाक्यार्थ से उत्पन्न अर्थ पर है। हमारी दिलचस्पी तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों में नहीं, अपितु वाक्य के साक्षात् अर्थ में है और यदि वाक्य से सीधे अखण्डार्थ की अभिव्यक्ति को स्वीकार कर लिया जाता है, तो हमारा कार्य पूरा हो जाता है। हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सभी वाक्यों का अर्थ उद्देश्य-विधेय-सम्बन्ध नहीं है। और शब्दार्थ की मीमांसा में इसे वेदान्ती की मौलिक देन कहा जा सकता है।



प्रथम परिशिष्ट

अंग्रेजी-हिन्दी-शब्दावली

Absolute	: ब्रह्म
absolute	: निर्विशेष, निरपेक्ष
absolute monism	: पूर्ण अद्वैतवाद
abstraction	: पृथक्करण
after-effect	: अनुप्रभाव
analogy	: उपमिति
appearance	: आभास
a priori	: अनुभवपूर्व, अनुभवनिरपेक्ष
attribute	: धर्म, विशेषण, गुण
autonomy	: स्वातन्त्र्य
being	: सत्
categories of understanding	: बुद्धि के वैचारिक रूप
causa cognoscendi	: संज्ञानात्मक कारण
causa essendi	: स्वतः कारण
causation	: कारणात्मक सम्बन्ध
circular argument	: इतरेतराश्रय तर्कदोष
cognition	: संज्ञान
communion	: योग
complex	: संश्लिष्ट, संसृष्टि
concept	: अवधारणा
conceptual designation	: अवधारणात्मक संज्ञा
concomitant	: सहवर्ती
consubstantial	: एकतत्त्वात्मक
content	: अन्तर्वस्तु, कथ्य
conterminous	: समसीम
co-ordinate	: समश्रेणिक
co-relative	: सहसम्बन्धी
corrolary	: सहपरिणाम
cosmic	: ब्रह्माण्डीय

datum : प्रदत्त
denotation : वाच्यार्थं, मुख्यार्थ
denotative power : अभिधाशक्ति
determinant : निर्धारक
determinate : निर्धारित, निर्धारणयुक्त
determinate communion : सविकल्प योग
dilemma : उभयपाश
diphthongs : सन्ध्यक्षर
dynamic : गत्यात्मक

efficient cause : निमित्त कारण
ellipsis : पदन्यूनता
elliptical : न्यूनपदीय
empirical : अनुभूतिमूलक, व्यावहारिक, लौकिक
empirical : व्यावहारिक आत्मा
empiricist : अनुभववादी
epistemological : ज्ञानमीमांसीय
essence : मूल प्रकृति
eternal verbum : शब्दब्रह्म
evolute : विकासज
evolution : विकास

formal : संरचनागत, रूपात्मक
formal transformation : अतात्त्विक परिवर्तन
formative principle : विधायक तत्त्व
foundational reality : अधिष्ठान-सत्ता

hypostatize : तत्त्वीकृत करना
hypothesis : प्राक्कल्पना

idea : प्रत्यय
idealist : प्रत्ययवादी
identity : अभेद, व्यक्तित्व, पहचान
identity-propositions : अखण्डार्थक वाक्य
immanent : अन्तर्व्यापी
indeterminism : अनियततत्ववाद
individualized consciousness : व्यष्टिगत चैतन्य

individual subject,
individual soul : जीवात्मा
individual words : पृथक्-पृथक् पद, व्यष्टि शब्द
instinctive : मूलप्रवृत्तिक
instrumental cause : करण
intellectual principle : प्रज्ञाविषयक तत्त्व
intution : अन्तःप्रज्ञा, प्रतिभा

joint causality : संयुक्त कारणता
joint method : अन्वय-व्यतिरेक का युग्म नियम
judgment : निर्णय

law of causality : कारणता-नियम
law of economy : लाघव का नियम
laws of reality : सत्ता के नियम
laws of thought : चिन्तन के नियम
logical economy, logical
parsimony : तार्किक मितव्ययिता, तार्किक लाघव
logical ground : तार्किक हेतु
logical see-saw : अन्योन्याश्रय दोष
logical supererogation : तार्किक वैयर्थ्यं
logos : स्फोट

metaphysical : तत्त्वमीमांसीय
materialist : भौतिकवादी
material cause : उपादान कारण
memory impression : स्मृति-संस्कार
monistic idealism : अद्वैतात्मक प्रत्ययवाद

nomenclature : संज्ञातन्त्र, संज्ञाकरण
non-entity : अनस्ति

ontological : सत्तामूलक
ontology : सत्तामीमांसा
organic : सावयव

parity of logic : तर्कगत समानता
parts of speech : वाक्यघटक अथवा पदभूत शब्द, पद
phenomena : भाव, पदार्थ, प्रपञ्च
phenomenal : प्रपञ्चगत, जागतिक

phenomenal world : दृश्यजगत्
pluralism : बहुवाद
postulate, postulation : परिकल्पना
presupposition : पूर्वापेक्षा
prius : नियत पूर्ववर्ती
reality : वस्तुसत्ता
reductio ad absurdum : विसंगति का प्रदर्शक
reflexion : आभास, प्रतिबिम्ब
reflexion, doctrine of : आभासवाद
regressus ad inginitum : अनवस्था दोष
relata : संसर्गी, अन्वित
self-alienation : विवर्त
self-contained : स्वनिष्ठ, स्वतःपूर्ण
self-identical : स्वतो अभिन्न
self-subsistent : स्वाश्रित
simple identity : विशुद्ध स्वरूप, अखण्डार्थ
subject : कर्ता, प्रमाता, उद्देश्य
substantive : गुणी, विशेष्य, द्रव्य, लक्ष्य वस्तु, लक्ष्य सत्ता, संज्ञा
substantive noun : नामपद
summum bonum : निःश्रेयस, परम पुरुषार्थ
super-self : परात्म
supra-logical : तर्कातीत
supreme reality : परम तत्त्व, चरम सत्ता
syllogistic : निगमनात्मक
synchronism : समकालिकता
syntactical construction
orrelation : वाक्य-अन्वय, संसर्ग
synthesis : संश्लेषण
synthetic : सांश्लेषिक
tout ensemble : समष्टि
transcendent : विश्वातीत
transcendental illusion : कालातीत भ्रान्ति
transcendental plane : पारमार्थिक स्तर
unitary : एकात्मक

universal	: सामान्य, जाति
verbal character	: शाब्द स्वरूप
verbal form	: क्रियापद
verbal import	: शाब्दबोध
verbal judgment	: शाब्द निर्णय, वाक्यार्थ
verbal meaning	: पदार्थ
verbal proposition	: वाक्य
word-essence	: शब्दतत्त्व



द्वितीय परिशिष्ट

शब्दानुक्रमणिका

[कोष्ठक में दी गई संख्याएँ विषय-प्रवेश के पृष्ठों की हैं ।]

तृतीय परिशिष्ट

शुद्धि-पत्रक

[कोष्ठक में दी गई संख्याएँ विषय-प्रवेश के पृष्ठों की हैं।]

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(४)	३२	दर्शन को	दर्शन की
(६)	१८	होता है।	होता है,
,,	,,	ही है,	ही है।
(८)	२	अ. का.	अ. को.
३	पा. टि. ५	नित्यञ्च	नित्यश्च
५	३१	संविज्ञातयद०	संविज्ञातपद०
८	६	पारस्परिक	पारम्परिक
,,	१८	हेलराज	हेलाराज
१०	२७	वह	जो
,,	२८	ही है।	ही है,
११	२५	शब्द-ब्रह्मरूप	शब्दब्रह्म
१२	२२	निनद्धं	निबद्धं
१३	१४	को	की
,,	१६	है	हैं
१४	८	पक्षधर है।	पक्षधर है[1]
१५	२१	के एकरूप	व एकरूप
,,	पा. टि. २	—	(जोड़ें) वा. प. १.३
१८	अन्तिम	पर्यन्यवद०	पर्जन्यवद०
१९	पा. टि.	१.१ ९	१.११९
२३	९	ब्रह्म की	ब्रह्म को
२४	२३	पृथक्क्वैक०	पृथक्त्वेक०
२५	२३	जगत् की	जगत् को
२६	१०	शब्दब्रह्म-विशेष	शब्दब्रह्म विशेष
,,	१२	प्राभव	प्रभाव
२७	२९	चाभिः	याभिः
२९	२८	० विभागञ्च गतिञ्च	० विभागश्च गतिश्च
३३	९	कालशक्तिमूलक प्रकृति में	कालशक्ति अपनी मूल प्रकृति में
३४	अन्तिम	विर्निमित्ता	निर्निमित्ता
३५	१९	स्वरूप	स्वरूपगत भेद
३६	३३	तम्	तम

३८	२	कालशक्ति है	काल शक्ति है
,,	२३	व्यापार	व्यापार है।
३९	३२	क्रमावभसात्	क्रमावभासात्
,,	३३	कालभेदाप्रक्लृप्तेः	कालभेदप्रक्लृप्तेः
४४	१९	अवशिष्ट	अविशिष्ट
४५	१	बह्म	ब्रह्म
४६	१९	निर्मातृत्त्व	निर्मातृ तत्त्व
४८	२२	सालिकनाथ	शालिकनाथ
५१	११	प्रकार	प्रकट
,,	२२	आवृत्त	आवृत
,,	पा. टि. ५	वा. प. ३.२३५	वा. प. २.२३५
५४	१०	अनुचित है।	अनुचित है[1]
५५	१९	एक ओर अभिन्न	एक, और अभिन्न
,,	२६	सामर्थ्यशक्ति से व्यक्तिरिक्त	सामर्थ्य शक्ति से व्यतिरिक्त
५६	८	प्रस्तुत होता,	प्रस्तुत होता है
५७	२८	नाभेदं	नामेदं
६८	१८	कारणबिन्दु की	कारणबिन्दु को
६९	१९	भास्कराय	भास्कर राय
,,	२०	एकजन्य पदार्थ	एक जन्य पदार्थ
७०	अन्तिम	पृ. १७५-७७	पृ. १७१-७५
७४	२८	२.७.८	२.७-८
,,	३४	स्फोटञ्च	स्फोटश्च
७८	६	प्रतिमा	प्रतिभा
७९	१८	ओर	और
८२	१२	अर्थाभिधायक	अर्थाभिधायकत्व
८४	४	राजा़	राजा
,,	१३	होने पर	होने पर भी
८५	८	क्षमता	अक्षमता
,,	१८	करने-से	करते-से
८६	१	गवय हे	गवय में
८७	६	व्रीहिभियंजेत्	व्रीहिभिर्यजेत
८९	४	चरम-सत्ताविधायक	चरम सत्ता विधायक
९०	११	शब्द-ध्वनि	शब्द ध्वनि
९१	१६	अतः शब्द	अतः उन्हें शब्द
९४	२४	उत्पन्त	उत्पन्न

९९	१६	उनकी	उलझो
१००	१९	इसलिए और	इसलिए, अर्थ और
१०१	१७	शृङ्खला—संज्ञान	शृङ्खला-संज्ञान
१०४	२१	समय	समग्र
१०६	११	दूसरे की	दूसरे को
,,	१६	आभिमत	अभिमत
,,	३०	एह	यह
१०७	३	ने	में
११०	२	मुक्त	युक्त
११२	१५	उनके	उनसे
११३	१४	gortune	fortune
,,	१४	gort	fort
११५	३५	कि सहज	कि यह सहज
११६	७	दार्शनिक-व्यायाम-दर्शन	दार्शनिक व्यायाम दर्शन
११८	१२	शब्द वाच्यार्थ हैं	शब्द के वाच्यार्थ हैं
१२०	अन्तिम	कञ्चिद्दोषः	कश्चिद्दोषः
१२२	१६	उदारणार्थ	उदाहरणार्थ
,,	२०	transcentental	transcendental
१२३	पा. टि. ४	पृ. ९३	पृ. ९१
१२५	१०-११	शब्द का कोई अर्थ	शब्द का अर्थ
१२६	पा. टि. ४	खल्वप्येकाम०	खल्वप्येकम०
१२९	अन्तिम	०प्रभृत्यविनाशा०	०प्रभृत्याविनाशा०
१३१	९	जातिप्रधान अर्थ है	जाति प्रधान अर्थ है
१३५	६	चाहिए। जो	चाहिए जो
१३६	२४	खड़े हुए	जुड़े हुए
१३७	अन्तिम	कांश्चिच्छाब्दार्थ	कांश्चिच्छब्दार्थ
१४१	१	अवातस्विक	अवास्तविक
,,	३	संबद्ध	संबन्ध
,,	९	२	३
१४३	२०	'कमलशील'	कमलशील
१४४	५	शब्दविशेष आकारों	शब्द विशेष आकारों
१४८	१२	अर्थों की	अर्थों को
१५१	४	संकेतिक	संकेतित
,,	५	कारण	करण
,,	६	,,	,,
,,	२९	पृथक्क	पृथक्

१५२	१३	तथ्य हो जाता है;	तथ्य हो जाता है।
१५५	१४	स्वाभाविक है;	स्वाभाविक है।
१५६	अन्तिम	पृ. १४०	पृ. १४७
१५९	२१	आन्वित	अन्वित
,,	२४	अन्वित	अनन्वित
१६१	२८	किञ्च न	किञ्चन
१६२	९	रखती है। इस	रखती है इस
१६४	६	सामर्थ्सं	सामर्थ्य
,,	११	का अभाव में	का अभाव
१६५	२७-२८	फिर इसका कारण	फिर भी इसका कारण
१६७	२	चाहता है	चाहता है।"
१६८	३३	देखकर	देखकर कि
१७०	२३	नहीं; अपितु अनन्वित;	नहीं, अपितु अनन्वित
१७१	६	भ्रान्ति की; इन	भ्रान्ति की इन
,,	१८	गया है।	गया है[१]।
१७२	१७	आधारित	आधारित है।
१७३	८	वाच्यार्थ	वाक्यार्थ
,,	९	,,	,,
१७५	२१	अमिधा	अभिधा
,,	३०	को	का
१७६	११	अज्ञातसत्ताक	अज्ञात सत्ता
१७७	१७	विविध	त्रिविध
१७८	२१	लक्षणार्थ	लक्ष्यार्थ
१७९	६	,,	,,
,,	२२	जातियों;	जातियों,
१८०	१९	शब्द	शाब्द
१८२	४	सकेत	संकेत
,,	पा. टि. १	पृ. १७	पृ. ९६
१८३	२२	पूर्णतः	पूर्वंतः
,,	३२	पदार्थोपस्थितश्च	पदार्थोपस्थितेश्च
१८६	७	आचोलना	आलोचना
,,	१७	मुख्यतः	वस्तुतः
१८८	१२	होता है।	होता है,
१९१	२८	इन्द्रियज्ञान का करण है।	इन्द्रिय ज्ञान का करण है।
१९२	३३	'मास्'	'अस्मद्'
१९६	२६	जाँय	जाए

१९६	२७	वाच्य	वाक्य
२०३	१५	सम्बन्ध के लिए एक दोषपूर्ण	सम्बन्ध के लिए एक अन्य संसर्ग की आवश्यकता होगी। इससे एक दोषपूर्ण
२०४	११	परमाणुवों	परमाणुओं
२०८	१२	अधार	आधार
२०८	२०	वस्तुवों	वस्तुओं
२०९	२५	अनन्य	अनम्य
२१२	१९	करेंगे। क्रिया	करेंगे क्रिया
२१४	२३	केवल	न केवल
२१९	१७	निर्मेद	निर्भेद
"	२५	ससक्त	संसक्त
२२३	अन्तिम	पृ २०९	पृ. १०९
२२४	९	ले तो लें	ले भी लें
२२५	१	करा देती	करा देतो है
"	२८	अनुमान को	अनुमान का
२२६	४	से	ये
"	५	है	हैं
"	पा. टि. १	पृ. १००	पृ. ११०
"	अन्तिम	०प्रतिपदिकार्थ०	०प्रातिपदिकार्थ०
२२७	११	आवश्यक हैं;	आवश्यक है।
२३२	१६	मानकार	मानकर
२३९	१०	inginitum	infinitum
"	२८	orrelation	or relation






सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय